शिक्षण विचार

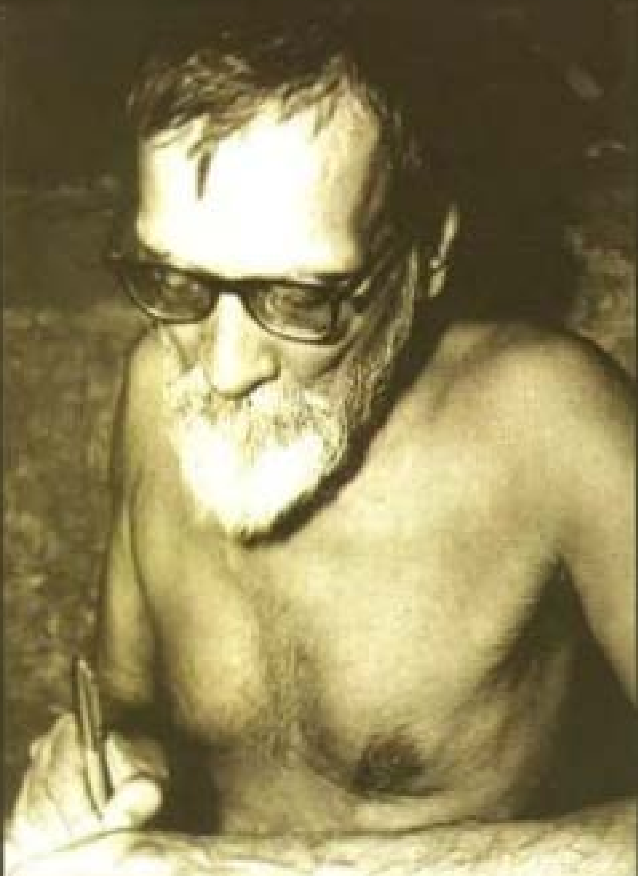

विनोबा

शिक्षण-विचार

विनोबा

प्रकाशक

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी २२१ ००१

फोन: ०५४२- २४४०३८५

Email: sarvodayavns@yahoo.co.in

सम्पादकीय

आज जो शिक्षा सर्वत्र चली है उससे शायद ही किसी को समाधान हो! गांधीजी ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से भविष्य-दर्शन कर स्वतंत्रता के पूर्व ही 'नयी तालीम' का चिन्तन समाज के सामने रखा था और उसके प्रयोग भी शुरू कर दिये थे। उसके लिए अपने आश्रम के बगल में तालिमी संघ की स्थापना भी की। उस प्रयोग के लिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से मांगकर श्रीमती आशादेवी और आर्यनायकम्‌जी को सेवाग्राम लाकर बैठाया। विनोबाजी का शिक्षासम्बन्धी चिन्तन पहले से ही था। वे आजीवन शिक्षक और साथ-साथ विद्यार्थी ही रहे। उनका शिक्षण-विषयक चिन्तन कई स्वतंत्र लेखों में १९२६ से प्रकाशित होता रहा है। चालू शिक्षा को छोड़कर वे बचपन में ही निकल पड़े थे।

भारत में पिछले सौ सालों में हरएक चिन्तक-विचारक ने शिक्षा के प्रति असमाधान प्रकट किया है। इतना ही नहीं स्वतंत्रता के बाद हर राष्ट्रपति और हर प्रधानमंत्री ने भी तीव्र असमाधान प्रकट किया। फिर भी शिक्षा का वही पुराना स्वरूप ज्यों-का-त्यों चला है। विनोबाजी तो मानते थे कि १५ अगस्त १९४७ को जैसे झण्डा बदला वैसे ही शिक्षा भी तुरन्त बदलनी चाहिए। यह बात उन्होंने १५ अगस्त की सार्वजनिक सभा में ही कह दी थी।

विनोबाजी के स्वतंत्र लेखों में से हिस्से लेकर विषयवार वर्गीकरण किया जा सकता था। लेकिन हमने लेखों को उस-उस प्रकरण में पूरा ही लेने की नीति रखी है।

विनोबाजी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के कई संकलन पहले प्रकाशित हो चुके हैं। समय-समय पर लिखे विविध लेख भी प्रकाशित हुए हैं। इस विभाग की सामग्री का संकलन श्री मीराबहन ने किया है और उसके वर्गीकरण का काम श्री उषाबहन ने किया है।

अनुक्रम

१. भारतीय शिक्षण-दृष्टि और परम्परा

२. शिक्षा के मूलभूत तत्त्व

३. वर्तमान शिक्षा के दोष और शिक्षा में क्रान्ति

४. नयी तालीम

५. विद्यार्थी

६. शिक्षक

७. विद्यालय की विविध संकल्पनाएँ

८. आचार्यकुल

स्फुट

१. भारतीय शिक्षण-दृष्टी और परम्परा

शिक्षण-शास्त्र भारत में विकसित

इन दिनों यूरोप और अमेरिका में अनेक नये शास्त्रों की खोज हुई है और वहाँ से हमें बहुत सीखना है। खास करके अनेकविध विज्ञान का विकास इन पाँच-पचास सालों में वहाँ बहुत ज्यादा हुआ है। वह तो हमें सीखना ही चाहिए। लेकिन फिर भी भारत की अपनी भी कुछ विद्याएँ हैं और कुछ शास्त्र यहाँ पर प्राचीन काल से विकसित हैं। उन शास्त्रों में शिक्षण-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है, जिसका भारत में काफी विकास हुआ था और काफी चर्चा हुई थी। यह नहीं है कि उस सिलसिले में हमें कुछ सीखना नहीं है, सीखना तो है ही। बल्कि वेद भगवान ने आज्ञा दी—**आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः**—दुनियाभर से मंगल विचार हमारे पास आये। हम सब विचारों का स्वागत करते हैं। हम यह नहीं सोचते कि यह विचार स्वदेशी है या विदेशी, पुराना है या नया है। हम यही सोचते हैं कि वह ठीक है या बेठीक है। तो इसमें कोई शक नहीं कि हमें बहुत लेना है। परन्तु जो अपने पास है, उसे भी पहचानना है। यह इसलिए जरूरी है कि जो यहाँ का होता है, वह यहाँ की परिस्थिति और चारित्रय के लिए अनुकूल होता है। यहाँ के जो विकसित शास्त्र हैं, उन सब पर यह लागू होता है। जैसा कि यहाँ का वैद्यक-शास्त्र, आयुर्वेद। अगर यहीं की वनस्पति की लोग उपयोग करेंगे, तो वे ज्यादा कारगर होंगे, यह स्पष्ट है। नये वैद्यक-शास्त्र से भी कुछ सीखा जाये। इसी तरह यहाँ का बना हुआ जो शिक्षण-शास्त्र है वह हमारे स्वभाव के अनुकूल होने के कारण हमें काफी मदद दे सकता है। हिन्दुस्तान में विद्या कम थी, ऐसा नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि हिन्दुस्तान में सबसे पहले विद्या शुरू हुई थी।

सर्वोत्तम शिक्षा-ग्रन्थ : योगसूत्र

शिक्षण-शास्त्र के जो ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं, उन सबमें शिरोमणि ग्रन्थ है पतंजलि का ‘योगसूत्र'। मुझसे कोई पूछे कि शिक्षण-शास्त्र पर सर्वोत्तम ग्रन्थ भारत में कौन-सा है तो मैं यही कहूँगा कि 'पातंजल योगसूत्र'। उसमें शिक्षण के विषय में मानस और अतिमानस दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है। मानसशास्त्रीय रीति से सोचना शिक्षा के लिए बहुत जरूरी है। उसके बिना

शिक्षण-शास्त्र शुरू नहीं होता। लेकिन आरम्भ के लिए मानसशास्त्र जरूरी होता है तो भी उसकी आखिरी चीज क्या है, उसे कहाँ तक ले जाना है, यह समझने के लिए अतिमानस-भूमिका का भी ज्ञान होना जरूरी है। पतंजलि ने योगशास्त्र में वृत्तियों का परीक्षण करके वृत्तियों के अनुकूल और वृत्तियों से परे कैसे बरता जाये, ये दोनों बातें बतायी हैं। वृत्तियों के अनुकूल अगर हम नहीं बरतते, तो संसार में कोई कार्य नहीं कर सकते। इसलिए वृत्तियों के अनुकूल सोचना पड़ता है। वृत्तियों से परे होकर अगर नहीं सोचते तो तटस्थ दर्शन नहीं होता और इसलिए नज़दीक के ही छोटे-से चिन्तन में हम गिरफ्तार रहते हैं। दूरदृष्टि का अभाव हो जाता है। इस वास्ते अतिमानस-दृष्टि की भी जरूरत रहती है और मानसदृष्टि की भी जरूरत होती है। दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखकर पतंजलि ने बहुत थोड़े में योगशास्त्र में बात रखी है। इस पर अनेक भाष्य हुए हैं और यह योगशास्त्र आज तक विकसित होता आया है। भारत में आज भी उसका हो रहा है। मुझे इतना ही कहना है कि हमारे यहाँ शिक्षण-शास्त्र बना हुआ है।

पतंजलि परमात्मा को गुरुरूप में देखते हैं। **स एष पूर्वेषामपि गुरुः** —अपने जो प्राचीन ज्ञानी हो गये उनका वह गुरु है। किसी भी धर्मग्रन्थ में या मानसशास्त्रीय ग्रन्थ में परमात्मा को गुरुरूप में नहीं दिखाया गया। **पितासि लोकस्य**—पिता के रूप में, माता के रूप में वह आता है। लेकिन योगशास्त्र ने गुरु के रूप में देखा है। परमात्मा गुरुरूप तो है ही, वह परमगुरु है। वह हम सबको शिक्षा देता है। वैसा ही हमें उसका अनुकरण करके सीखना-सिखाना है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा की सर्वश्रेष्ठ देन

ब्रह्मविद्या भारतीय ज्ञान-परम्परा की सर्वश्रेष्ठ देन है। इसका मतलब है हम सब आत्मरूप हैं। हम सब एक ही आत्मा हैं। आत्मा की एकता पर यह विद्या आधारित है। ब्रह्मविद्या के बिना हमारा कोई भी काम आगे बढ़ नहीं सकता।

यहाँ शिक्षण स्वतंत्र था

यहाँ की तालीम की दूसरी विशेषता यह थी कि यहाँ शिक्षण हमेशा स्वतंत्र रहा। विचार की आजादी जितनी भारत में है, उतनी कहीं नहीं देखी। एक ही हिन्दूधर्म में कोई कर्मकाण्ड को

मानता है, कोई नहीं मानता, कोई पुनर्जन्म में विश्वास करता है, कोई नहीं करता। सभी जानते हैं कि यहाँ छह-छह दर्शन हैं, परन्तु धर्म तो एक ही है। हाँ, सदाचरण के कुछ नियम सबको मानने पड़ते हैं, बाकी सब तरह से सर्वथा स्वतंत्र विचार चलता है। इसलिए यहाँ का शिक्षण भी सम्पूर्ण सत्ता-निरपेक्ष रहा।

कृष्ण के पिता वसुदेव राजा थे, लेकिन उनके राज्य में कैसी तालीम दी जाये, इसके बारे में निर्णय करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं था। शिक्षा का निर्णय आचार्य सान्दीपनि करते थे। यही हमारे देश का रिवाज था।

यहाँ शिक्षण सर्वत्र था

दूसरी बात यह कि यहाँ पर उन दिनों से तालीम है, जबकि यूरोप में तालीम का आरम्भ भी नहीं हुआ था। यह बात उपनिषद में भी आती है। उपनिषद का राजा अपने राज्य का वर्णन कर रहा है—**न अविद्वान्**—मेरे राज्य में विद्वान न हो ऐसा कोई नहीं। सिर्फ पढ़े-लिखे लोग ही नहीं, सब विद्वान हैं। डॉ. एनी बेसेन्ट ने एक जगह लिखा है कि ३०० साल पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लोग बंगाल के छोटे-छोटे गाँवों में गये थे। उन्होंने अपने सर्वेक्षण में, रेकार्ड में लिखा है कि बंगाल में प्रति चार सौ व्यक्तियों के पीछे एक पाठशाला है। मैं सोच रहा था कि चार सौ मनुष्यों में एक शाला का अर्थ है लगभग प्रत्येक गाँव में एक शाला। और हम लोग मानते हैं कि भारत में अंग्रेजों ने ही व्यापक शिक्षण शुरू किया। उसके पहले हमारी सामान्य जनता निरक्षर थी। और केवल ब्राह्मण और वैश्य जैसे कुछ लोग ही साक्षर थे। जबकि ऐतिहासिक तथ्य जैसा मैंने कहा, वैसा कुछ दूसरा ही कहता है।

अंग्रेजों ने यहाँ १५० साल तक राज्य किया। उन डेढ़ सौ वर्षो में दस-बारह प्रतिशत लोगों को शिक्षण मिला। बाकी ८८ प्रतिशत लोग अशिक्षित रहे। इस समय लगभग ३० प्रतिशत लोग शिक्षित हैं। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने में लोग अशिक्षित नहीं थे। अंग्रेजों के जमाने में लोग अशिक्षित बनते गये। अंग्रेजों ने यहाँ आकर विद्या के दो टुकड़े ही कर दिये। एक सामान्य विद्या और दूसरी उच्च विद्या यानी अंग्रेजी विद्या। जो अंग्रेजी पढ़ते थे वे विद्वान माने जाते थे और

बाकी के अक्षरशत्रु। सामान्यतः आरम्भ में ब्राह्मणादि उच्च शिक्षण लेते थे, इसलिए उनकी श्रेष्ठता दुहरी हो गयी। परिणामत: समाज के बिल्कुल टुकड़े-टुकड़े हो गये। इस तरह समाज को विभाजित करना पाप ही माना जायेगा। अंग्रेजों द्वारा किये गये वे टुकड़े आज जक कायम हैं।

उस जमाने में हर पंचायत का काम था कि गाँव में स्कूल चले और उसके लिए किसानों से कुछ-न-कुछ हिस्सा मिले। उस जमाने में अरबी या संस्कृत का ज्ञान जरूरी था और उसके लिए अक्षरज्ञान तो अनिवार्य था ही। मतलब, भारत निरक्षर नहीं था। चाहे शिक्षण की पद्धति पुरानी थी। महाराष्ट्र में तो घोड़े पर चढ़ना, पेड़ और पहाड़ों पर चढ़ना-उतरना हरएक को सिखाया जाता था। अर्थात् विद्या क्रियाशील थी और स्वतंत्र थी।

भारत का समाज आचार्यो ने बनाया

प्राचीन काल से आज तक का जो भारत बना है वह शिक्षकों ने ही बनाया है। यहाँ आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और कितने ही आचार्य ऐसे हो गये, जिनके नाम तक लोगों को मालूम नहीं। शास्त्रों में उनके नाम प्रसिद्ध हैं। भगवान उपवर्ष नाम के एक महान ऋषि हो गये। उनका नामोच्चारण ही 'भगवान' के साथ किया जाता है। मीमांसा के आचार्य जैमिनी उन्हीं के शिष्य थे। ब्रह्मसूत्र में चर्चा चली कि भिन्न-भिन्न आचार्यों का क्या मत है? उसमें काशकृत्स्न, औडुलोमि, आश्मरथ्य के नाम आते हैं। अब कौन इन्हें जानते हैं? प्राचीन काल में ऐसे कई ऋषि हो गये, जिनके नाम के अलावा आज विशेष कुछ नहीं मिलता। इस तरह प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक भारत में आचार्यो की बहुत बड़ी परम्परा चली। इतनी बड़ी परम्परा ग्रीस में भी नहीं चली होगी, जितनी यहाँ चली। उन्होंने समाज को तैयार किया और अपनी ओर से विद्या-दान दिया। रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द, उनके दो शिष्य - कबीर और तुलसीदास। एक गुरु के दो महान शिष्य। रामानन्द, शंकराचार्य सारे भारत में घूमे और अपने विचारों का प्रचार किया और उसके मुताबिक सारा समाज बदलता गया। यह सब आचार्यो ने किया। इस बीच राज्य-सत्ताएँ तो अनेक आयीं और गयीं, परन्तु आचार्यो ने जो भारत का समाज बनाया, वही परम्परा के अनुसार आज चल रहा है। संस्कृत के हजारों ग्रन्थ हैं, परन्तु राम-कृष्ण, कौरव-पाण्डव के अलावा और किसी राजा का नाम नहीं। एक ग्रंथ में कश्मीर के राजाओं के नाम हैं, बाकी सब गुरु और आचार्यो के

नाम हैं। मतलब, भारत पर स्थायी असर राजाओं का नहीं, आचार्यो का ही है। शादी-विवाह भी आचार्यो के निर्देशानुसार होते हैं। संध्या, उपासनादि भी उन्हीं के बनाये नियमानुसार चलती आयी हैं। यह कौन-सी शक्ति है, जिसके कारण यह हुआ और समाज पर सत्ताधारियों का कोई असर नहीं पड़ा? टेनिसन का झरना कहता है, 'मनुष्य आते हैं और जाते हैं, परन्तु मैं तो सतत बहता ही रहता हूँ।' इस तरह अनेक साम्राज्य आये और गये, परन्तु इन आचार्यो के वैचारिक और सामाजिक असर को कोई टाल नहीं सका। भारत को किसी राजसत्ता ने नहीं बनाया। उसको तो यहाँ के संत, फकीर और आचार्यो न बनाया है।

उपनिषद में एक कहानी आती है। आठ-दस साल का एक लड़का हाथ में समिधा लेकर 'समित्पाणी' होकर गुरु के पास गया और उसने कहा कि 'मैं ज्ञान के लिए आया हूँ।' गुरु उससे कहता है कि ये ४०० गायें चराने का काम करो और हजार गायें बनेंगी तब मेरे पास ज्ञान के लिए आओ।' चार सौ गायों की हजार बनने में २-३ साल लगते यानी उस दस साल के लड़के को दो-तीन साल की योजना दे दी। दो साल के बाद गुरु ने शिष्य की ओर देखा और पूछा- 'तेरा चेहरा तेज से चमक रहा है। क्यों रे, तुझे कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ दीखता है?' इस पर शिष्य ने कहा कि 'ज्ञान तो गुरु से प्राप्त होता है। वह तो मुझे आपकी कृपा से ही मिलेगा।' गुरु ने कहा- 'यह बात ठीक है। परन्तु तेरे चेहरे पर ज्ञान की चमक दीखती है। तो क्या तुझे किसी ने कुछ ज्ञान दिया?' शिष्य ने कहा-**अन्ये मनुष्येभ्यः**-मुझे मनुष्य ने नहीं, दूसरों ने ज्ञान दिया। उसे बैल ने कुछ ज्ञान दिया, हंस ने दिया, अग्नि ने दिया और मग्दु नाम के पक्षी ने दिया। उन चारों ने क्या ज्ञान दिया, यह सब उपनिषद में है। फिर गुरु ने कहा, 'तुझे जो ज्ञान मिला है, वह बहुत अच्छा है।' फिर उसकी पूर्ति में जो कहना था, वह गुरु ने कहा। उपनिषदों के गुरु विद्यार्थियों को ऊँची दीवालों के अन्दर नहीं रखते थे, जिससे कि उनकी नजर बाहर न जाये। भगवान के खुले दरबार में ज्ञान देनेवाले अनंत गुरु हैं।

पहले के जमाने में हमारे देश में विद्या शहरों में नहीं, बल्कि नदी के किनारे, जंगलों में या दुर्गम स्थानों में पनपती थी। भारत की विद्या शहर की नहीं, जंगल की है। गाँव जंगलों के नजदीक होते थे इसलिए विद्वान भी गाँवों में ही रहते थे और ग्रामजन उनके निर्वाह की चिन्ता करते थे।

आज तो विद्या शहरों में, युनिवर्सिटियों में और कॉलेजों में कैद हो गयी है। वहाँ का खर्चा जो उठा सके, उसी को विद्या मिल सकती है। हमारे देश के विद्यापीठ तो चलते-फिरते विद्यापीठ थे। कबीर, नामदेव, तुलसीदास, चैतन्य आदि अनेक भक्त गाँव-गाँव घूमकर उपनिषदों की ब्रह्मविद्या लोगों के कानों तक पहुँचाते थे।

श्रवण से ज्ञान

जनता पढ़-पढ़कर ज्ञानी नहीं हो सकती। वह तो श्रवण से ज्ञानी होती है। सर्वोत्तम विचार निरन्तर सुनने चाहिए, सुनाने चाहिए। नवधा भक्ति के प्राथमिक तीन साधन हैं - श्रवण, कीर्तन, समरण। **श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्य:** में भी पहला स्थान श्रवण को दिया है। तुलसीदासजी ने गाया है कि राम कहाँ रहते हैं?

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना

भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे

—जिनके समुद्ररूपी कानों में तुम्हारी कथारूपी नदियाँ निरन्तर बहती हैं, फिर भी जिनको तृप्ति नहीं होती, जिनके श्रवण की भूख सतेज रहती है, उनका हृदय, हे रामजी, आपके लिए उत्तम निवास-स्थान है। वहाँ आप आराम से रहिए।

इस तरह हमारे देश में श्रवण की महिमा गायी गयी है। हमारे यहाँ विद्वान को ‘बहुश्रुत' कहते हैं अर्थात् जिसने बहुत कुछ सुना है। जबकि अंग्रेजी में ‘वेलरेड', अर्थात् जिसने बहुत पढ़ा है उसको विद्वान कहते हैं। यह बुनियादी फर्क है। जैसे गाय खुद घास खाकर, पचाकर उसका दूध बनाकर बछड़ों को पिलाती है, वैसे ज्ञानी विविध ग्रन्थों का अध्ययन करके अनुभवयुक्त सुन्दर ज्ञान देता है। पहले वह ज्ञान का ढेर हजम करता है और फिर वह डाइजेस्टेड फूड-पचाया हुआ खुराक हमें देता है। यह खूबी पठन में नहीं है।

श्रुति, स्मृति और कृति यही है थोड़े में हमारा शिक्षण-शास्त्र। हजारों बरसों के अनुभव से यह स्थिर हुआ है। देश का हरएक नागरिक ज्ञानी होना चाहिए, यह विचार इस देश में नया नहीं है।

समग्र विकास

शिक्षण से यह अपेक्षा की जाती थी कि उससे विद्यार्थी को अपने समग्र विकास की सामग्री मिले। मन की जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब ऋषि-मुनियों ने हमें समझा दी हैं। **अनंतं हि मनः अनंता विश्वेदेवा:** —विश्वदेव अनन्त हैं और मन भी अनन्त है। जब हम उसकी एक-एक वृत्ति और शक्ति का विश्लेषण करने लगते हैं, तब हमें उसके अनेक गुणों का आभास मिलता है। आत्मा सच्चिदानन्द है। उसके सान्निध्य से मन में अनेक गुणों की छाया प्रातिबिम्बित हो उठती है, अनन्त गुण मन में प्रकाशित हो उठते हैं।

हमें अनुभवी पुरुषों ने सिखलाया है कि मुख्य शिक्षण वही है, जिससे हम अपने-आपको मन और शरीर से भिन्न पहचान सकें। स्वयं की यह पहचान ही सर्वोपरि गुण है।

विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक

प्राचीन काल में ऐसा था कि अगर कोई विद्यार्थी गुरु के पास जाकर केवल विद्यार्जन कर ले, तो वह केवल विद्या-स्नातक कहा जाता था। वह पूर्ण स्नातक नहीं हो सकता था। विद्या-स्नातक होने के साथ ही उसे व्रत-स्नातक भी होना पड़ता था। उसे अपने-आप पर विजय प्राप्त करनी पड़ती थी। आत्म-दमन की, आत्म-नियमन की कला जो सीखता, उसे 'व्रत-स्नातक' कहते थे।

इस तरह जब तपाकर खरा उतरा विद्यार्थी संसार में अवेश करता है, तो वीर-वृत्ति और पूर्ण आत्माविश्वास के साथ ही प्रवेश करता है। वह संसार में किसी के सामने सिर झुकाकर नहीं, बल्कि छाती फुलाकर चलेगा। वह इस वीर-आवेश के साथ संसार में प्रवेश करेगा कि**—नमयतीव गतिर् धरित्रीम्-**मानो उसके चलने से पृथ्वी दबी जा रही है।

विद्या से ही विनय का जन्म

इसका यह अर्थ नहीं कि वह उद्धत बन जायेगा। उसमें नम्रता तो रहेगी ही, कारण ज्ञान पाये हुए व्यक्ति को इस बात का पता रहता है कि ज्ञान कितना अनन्त है और उसे उसका कितना थोड़ा अंश मिला है। इसलिए सच्चा ज्ञानी जितना विद्या-संपन्न और विनय-संपन्न होगा, विद्या न

पानेवाला उतना कभी भी नहीं हो सकेगा। कारण उसे विद्या का नाप मिला ही नहीं। जिसने विद्या के समुद्र का दर्शन कर लिया, उसके ध्यान में यह बात सहज ही आ जायेगी कि विद्या का कहीं पार या अन्त नहीं है और मुझे जो ज्ञान मिला है, वह उसका एक अंशमात्र है। इसीलिए मुझे आजीवन ज्ञान की खोज करते रहना चाहिए। वह कितना ही ज्ञान प्राप्त कर ले, फिर भी संसार में ज्ञान बाकी बना ही रहेगा-उसे इस वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान रहेगा। इसलिए वह सदैव नम्र बना रहेगा। इसीलिए पूर्वपुरुषों ने विद्वानों से कहा है कि वे स्वयं तो विनीत रहें ही, **प्रजानां विनयाधानात्**-प्रजा को भी विनय-संपन्न बनायें।

धैर्य भी अपेक्षित

किन्तु नम्रता के साथ ही विद्यार्थी में दृढ़ निश्चय, आत्मविश्वास, धैर्य, निर्भयता आदि सभी गुण होने चाहिए। बुद्धि के साथ धृति भी रहनी चाहिए। जब छात्र संसार में प्रवेश करेगा, तो विजयी वीर की तरह ही करेगा। विद्यार्थी गुरुगृह में अध्ययन समाप्त कर जब गृहस्थाश्रम स्वीकार करने की इच्छा करता है तब उसका समावर्तन किया जाता है। समावर्तन यानी प्रथम आश्रम की पूर्णता अथवा दीक्षांत-विधि, या नूतन आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति। समावर्तन विधि में ऋग्वेद का निम्न मंत्र बोला जाता है—

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु बयं त्वेंधानास्तन्वं पुषेम

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्र्यतस्त्रः त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम

(ऋसा १०. १८. १०)

—जीवन-संग्राम में मेरा तेज चमके। हे अग्निदेव! तेरी कृपा से हम अपनी तनु को तेरी अध्यक्षता के नीचे जीतेंगे। ये चारों दिशाएँ मेरे सामने झुकेंगी।

ज्ञान शत-प्रतिशत होना चाहिए। लड़कों को विश्वास होना चाहिए कि यही ज्ञान सही है। अगर कोई सोचता है, 'शायद यह होगा', 'बहुत करके यह होगा', तो वह ज्ञानी नहीं। ज्ञानी तो सिंह के माफिक समाज में प्रवेश करेगा। **मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रः**—चारों दिशाएँ मेरे सामने झुक रही हैं। यानी सारी सृष्टि पर मेरा काबू है। में द्रष्टा हूँ। और इस मिट्टी को जो रूप देना चाहूँगा,

दूँगा, क्योंकि यह अचेतन है और मैं चेतन हूँ। चेतन के नाते अचेतन को रूप दे सकता हूँ। विद्यार्थी ऐसी सामर्थ्य के साथ गुरु के घर से जाता था।

प्रातःकाल में अध्ययन

यह देश प्राचीन है और यहाँ प्राचीन काल से निरन्तर अध्यनन चला आ रहा है। अभी कल तक यहाँ अध्ययन की यह अखण्ड परम्परा चली आ रही थी। जिस जमाने में शेष दुनिया के लोग अन्धेरे में थे और विद्या से अपरिचित थे, उस समय भी यहाँ विद्या विद्यमान थी। यहाँ के निवासी ब्रह्म-वेला में ही उठ जाते। **अनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्—**वे सुबह सोते नहीं, अध्ययन करते थे। जो प्रातः उठकर अध्ययन करेगा, उसे विद्या मिलेगी। ऋषि ने कहा है कि उष:काल काल-पुरुष की महामूर्ति का मस्तक है। जिसने उष:काल व्यर्थ गँवाया उसने काल-पुरुष का मस्तक ही तोड़ा।

विद्यार्थी उष:काल में अपने गुरु के पास विद्याध्ययन करते थे। वे बड़ी फजर में उठते और कुछ चिन्तन-मनन भी करते थे। प्रात:काल के समय जो सोते रहता है, वह अपना अमूल्य समय खोता है। सुबह जगने से बुद्धि जाग्रत् रहती है, तेज रहती है। कहा है**—यो जागार तमृच: कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति** (ऋसा ५.३.९.)। जो जागता है, उसका भगवान स्मरण करते हैं, ऋचाएँ उसे स्फुरित होती हैं। सामवेद भी उसके पास जायेगा। जो जाग्रत् रहता है, उससे वेद प्रेम करते हैं, उसे भेंट करने के लिए वे आते है अर्थात् जो जाग्रत् है, उसके पास वेदनारायण आते हैं, उसके पास ज्ञान आता है भक्ति आती है।

अगर जल्दी सो जायें, शान्ति से निद्रा लें, बड़ी फजर जल्दी उठें और प्रात:काल की मंगल-बेला में अध्ययन करें, तो घंटेभर के अध्ययन में जो ज्ञान प्राप्त होगा, वह दूसरे समय २-३ घंटे पढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। सुबह के समय चित्त शान्त, एकाग्र रहता है। निद्रा ले चुके हैं, इसलिए चित्त प्रसन्न है। ऐसी हालत में मुँह धो लिया और बैठ गये अध्ययन के लिए, तो उस प्रसन्न चित्त पर थोड़े में एकदम से ज्ञान की छाप पड़ती है, जो अन्य समय में नहीं पड़ती। इसलिए जिस किसी ने प्रातःकाल का सयम खोया, उसने आत्महत्या कर ली। बाकी का सारा समय उसका रजोगुण,

तमोगुण का होता है। प्रात:काल का जो समय होता है, वह सत्त्वगुण का होता है। और इस वास्ते उस समय थोड़ा भी अध्ययन करते हैं, तो उत्तम अध्ययन होता है।

स्वाध्याय

प्राचीन काल में आचार्यों के पास जाकर, बारह साल अध्ययन करने का रिवाज था। उसके बाद जो घर जाना चाहते थे उनको आचार्य अन्तिम उपदेश देते थे। **सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् मा प्रमदः** (तैत्ति ७) —सच बोल, धर्म पर चल और स्वाध्याय से मत चूक। इन तीन सूत्रों में ऋषि की सारी सिखावन आ गयी। उपनिषद का यह बहुत प्रसिद्ध उपदेश है।

भक्ति-मार्ग में जिसे श्रवण-भक्ति और कीर्तन-भक्ति कहते हैं उसी को उपनिषद में स्वाध्याय और प्रवचन नाम दिया है। नाम भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। स्वाध्याय यानी सीखना और प्रवचन यानी सिखाना। इस सीखने और सिखाने पर उपनिषदों का उतना ही जोर है, जितना श्रवण ओर कीर्तन पर संतों का। स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् सीखने-सिखाने का महत्त्व ऋषियों की दृष्टि में इतना ज्यादा था कि मनुष्य के लिए नित्य आचरण करने योग्य धर्म के तत्त्व बतलाते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्व के साथ **स्वाध्याय-प्रवचने च** (तैत्ति ५) का पुन: पुन: उल्लेख किया है।

मनुष्य के जीवन के लिए अनेक साधन बताये गये हैं- तप, दान, अतिथि-सेवा आदि। हर साधन के साथ अध्ययन-अध्यापन जोड़ा गया है। बार-बार कहा है- ऋतम् होना चाहिए और साथ में स्वाध्याय भी। सत्य होना चाहिए और साथ में स्वाध्याय भी। इंद्रियों का दमन होना चाहिए और साथ में स्वाध्याय भी। एक-एक साधन का नाम लेकर उसके साथ स्वाध्याय जोड़ दिया है। **तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च**—तपश्चर्या के साथ-साथ अध्ययन होता है तो तप का भार कम होता है, तप में मधुरता आती है। तपश्चर्या मधुर बनती है। इस प्रकार प्रत्येक कर्तव्य को अलग-अलग कहकर हर बार ऋषि ने स्वाध्याय-प्रवचन का हेतु और विषय तो बतलाया ही, साथ ही उसका महत्त्व भी बता दिया है। सब कर्तव्यों के साथ अध्ययन-अध्यापन का संपुट जोड़ दिया है।

हमारे यहाँ का विचार है विद्याध्ययन की क्रिया आमरण जारी रहनी चाहिए। प्रतिदिन जैसे स्नान होना चाहिए और आहार आदि भी होना चाहिए, वैसे ही अध्ययन भी प्रतिदिन होना चाहिए।

जिस मनुष्य का अध्ययन नित्य-निरन्तर चलता रहता है, वह हमेशा ताजा रहता है, उसकी प्रतिभा में नये-नये विचार सूझते रहते हैं, उसे कभी बुढ़ापा नहीं आता। अध्ययनशील व्यक्ति का शरीर जैसे-जैसे जीर्ण होता है, वैसे-वैसे उसकी स्मृति और चिन्तन-शक्ति उज्ज्वल होती जाती है। बुद्ध भगवान ने कहा था कि “जैसे रोज स्नान करते हैं, तो शरीर स्वच्छ होता है, रोज झाडू लगाते हैं, तो घर स्वच्छ होता है; वैसे ही रोज अध्ययन करते हैं, तो मन स्वच्छ रहता है।”

स्वाध्याय का अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेने के बाद पहली भूल गये। इसे स्वाध्याय नहीं कहते। ‘स्वाध्याय' के मानी है एक ऐसे विषय का अभ्यास, जो सब विषयों और कार्यों का मूल है, जिसके ऊपर बाकी के सब विषयों का आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। उस विषय में दिनभर में थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय में आयेगा ही। परन्तु वह ऊपरी छिलका है- 'स्व' यानी हम स्वयं, अध्याय यानी अध्ययन। अपने शुद्ध निर्मल स्वरूप का अध्ययन।

ब्रह्मचर्याश्रम

छांदोग्य उपनिषद ने मनुष्य-जीवन के तीन विभाग किये हैं। पहले २४ साल ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर अध्ययन, फिर ४४ साल सेवा और अन्तिम जीवन परमेश्वर को समर्पण। इसमें ब्रह्मचर्याश्रम का लक्षण स्वाध्याय है। ब्रह्मचारी और विद्यार्थियों को अध्ययन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था हिन्दूधर्म की विशेषता है। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु है कि मनुष्य के जीवन को आरम्भ में अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्ष को, जब वह छोटा होता है तब खाद की अधिक आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जाने के बाद खाद देने से जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा होता है तब देने से होता है। यही मनुष्य जीवन का हाल है। यह खाद अगर अन्त तक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवन के आरम्भकाल में तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चों को दूध देते हैं। उसे वह अन्त तक मिलता रहे तो अच्छा ही है। लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपन में तो मिलना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी

जीवन के आरम्भ काल में अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसी लिए ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना है। ऋषि जिस चीज का स्वाद जीवनभर लेते थे, उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चों को भी मिले, इस दयादृष्टि से उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की।

उपनिषद ने ब्रह्मचारी के लिए कहा है, **गुरोः कर्मातिशेषेण** (छां १६८) अर्थात् 'गुरु का काम पूरा करके वेदाभ्यास करना।' गुरु ने जो सेवा बतायी उसे करने के बाद बचे हुए समय में विद्या पाना चाहिए यह विधान उस समय विद्या का था। गुरु की व्यक्तिगत सेवा तो एक-दो मनुष्य कर लेते थे। उसके लिए सब विद्यार्थियों की जरूरत नहीं रहती थी। इसलिए शरीर-परिश्रम का कुछ-न- कुछ काम शिष्य को करना पड़ता था। विद्यार्थीकाल में उत्तम खुराक और उत्तम पोषण चाहिए। सारी सहूलियतें मिल गयीं, पर जीवन कोमल बन गया तो लड़के जीवन का मुकाबला नहीं कर सकेंगे। विद्या अगर निर्वीर्य बन गयी तो वह दुनिया के काम की नहीं रहेगी। इसलिए **गुरोः कर्म** के मानी है, गुरु के जीवन में जिम्मेवारी से हिस्सा लेना। वैसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरह पैदा हों, उन्हें गुरु से पूछे और गुरु भी अपने जीवन की जिम्मेवारी निभाते हुए, उसी का एक अंग समझकर उनका यथाशक्ति उत्तर देता जाये। यह शिक्षण का स्वरूप था।

ज्ञान-परंपरा गुरुमुख से प्राप्त होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद कहता है, **यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ** (श्वे ८६) —जिसकी भगवान में परम भक्ति है और जैसी देव में है वैसी गुरु में है उसे उपनिषद का ज्ञान स्पष्टरूप से समझ में आता है। अपने यहाँ ज्ञानियों की गुरुपरम्परा चलती थी और सम्प्रदाय का बड़ा आदर था। शंकराचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि जो सम्प्रदाय नहीं जानता, वह विद्वान हो तो भी उसे मूर्ख समझना—**असंप्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवत् एवं उपेक्षणीयः**।

विद्या और अविद्या

इन दिनों हर कोई ज्ञान के पीछे पड़ा हुआ दीखता है। यह सीखता है, वह सीखता है, एक के बाद दूसरा सीखता चला जाता है। इस तरह चित्त इतने सारे ज्ञान का बोझ ढोता है तो चिन्तन-शक्ति क्षीण हो जाती है। गीता में कहा है कि 'तू श्रूतिविप्रतिपन्नमति है', अनेक बातें सुन-सुनकर

तेरी मति विप्रतिपन्न हुई है, अनेक विद्याएँ प्राप्त कर तू विद्वान बना है, पण्डित बना है। तो उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त में निर्णय-शक्ति नहीं रही। चित्त अनिर्णय की अवस्था में रहता है। समथिंग कॅन बी सेड ऑन बोथ द साइड्स् (दोनों ओर से कुछ कहा जा सकता है) ऐसा हर बात में कहा जाता है। हाँ या ना की हालत होती है। समस्या-ही-समस्या दिखायी देती है। समस्या-परिहार नहीं होता। अनन्त समस्याएँ खड़ी हुई दिखती हैं और बुद्धि चलती है लेकिन विपरीत चलती है। इससे मनुष्य निष्प्राण, निर्वीर्य, भ्रांत बनता है। इससे उलटे अज्ञान हो तो चित्त पर बोझ कुछ नहीं रहता। यह तो ठीक है, लेकिन उसका परिणाम यह होता है कि कुछ स्फूर्ति ही नहीं रहती।

मनुष्य के लिए विद्या और अविद्या दोनों आवश्यक हैं। दुनिया में हजारों प्रकार के शास्त्र और हजारों प्रकार के ज्ञान हैं। उन सबकी प्राप्ति में पड़ेंगे तो हमसे कोई काम नहीं होगा। संसार में इतना ज्ञान भरा पड़ा है कि उन सबको अपने मस्तिष्क में ठूँसने का यत्न करने से मानव पागल हो जायेगा। हर ज्ञान प्राप्त करना ठीक नहीं। जिस ज्ञान की स्वधर्माचरण में कोई आवश्यकता नहीं, जिससे बुद्धिभेद होता है, उस ज्ञान का चित्त पर बोझ नहीं डालना चाहिए। उसकी अविद्या ही रहने दी जाये। छोटे बच्चे में अविद्या की महिमा सहज प्रकट होती है। किन्तु जैसे-जैसे मनुष्य बड़ा होता जाता है, वैसे वह अनेक बातें जानने लगता है। वे सब बातें जानना उसके लिए जरूरी नहीं। कुछ बातें तो हानिकारक भी होती हैं। वे सारी बातें भूल जाना चाहिए। इस प्रकार अविद्या भी एक प्रकार से साधक की साधना का अंग है। इस तरह विद्या और अविद्या दोनों चाहिए। दोनों मिलकर ज्ञान प्राप्त होता है। और तीसरा है आत्मज्ञान, जो परम साम्य है।

मुझे आज तक ऐसा एक भी धर्मग्रन्थ नहीं मिला, एक भी आदमी नहीं मिला, जिसने कहा हो कि अज्ञान की जरूरत है। ईशावास्य ही पहला ग्रन्थ है जो कहता है कि जितनी ज्ञान की जरूरत है, उतनी ही अज्ञान की भी जरूरत है। अकेला ज्ञान और अकेला अज्ञान दोनों अँधेरे में ले जाते हैं। इसलिए कुछ चाहिए विद्या और कुछ चाहिए अविद्या। आत्मज्ञान, विद्या और अविद्या, दोनों से परे है। ईशावास्य हमें इतनी गहराई में ले जाता है कि चित्त में कोई भी भ्रम नहीं रहने देता।

शिक्षण के षडंग

द्वे विद्ये वेदितव्ये....परा चैवापरा च - मुण्डकोपनिषद (२) में विद्या के 'परा' यानी श्रेष्ठ और 'अपरा' यानी कनिष्ठ ऐसे दो प्रकार करके ऋग्वेदादि चार वेद और *शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छदस्-ज्योविष* इन छह वेदांगों का समावेश कनिष्ठ यानी अपराविद्या में किया है और जिसके 'योग' से वह एक अक्षर हासिल मान लिया जाता है, उसे पराविद्या कहा गया है।

वेद शिक्षण का आत्मा है। उसमें व्रतपरिपालन, ईश्वरोपासना, शास्त्राध्ययन, संतवाणी का अभ्यास इत्यादि का समावेश होता है। इस शिक्षण-विषय के निम्न छह अंग गिनाये जा सकते हैं-

(१) शारीरिक (शिक्षा)—रसोई करना, सफाईशास्त्र, पीसना, पानी भरना, अन्य व्यायाम, आरोग्यशास्त्र

(२) औद्योगिक (कल्प)—बुनाई, खेती, बढ़ई काम, सिलाई काम

(३) भाषिक (व्याकरण)—संस्कृत, हिन्दुस्तानी, स्वभाषा, परभाषा

(४) सामाजिक (निरुक्त)—राजकारण, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, आदि

(५) कलात्मक (छंदस्)—संगीत, चित्रकला इत्यादि

(६) व्यावहारिक (ज्योतिष)—(अंक, बीज, रेखा) गणित, जमा-खर्च, भूगोल, आधिभौतिक विज्ञान इत्यादि।

ऋषि की नम्रता

उपनिषद के ऋषि शिष्यों से कहते हैं - मेरे प्यारे शिष्यो, तुम बारह वर्ष तक मेरे पास रहे, विद्या सीखे, लेकिन तुम मुझे प्रमाण न मानना। सत्य को ही प्रमाण मानो। मेरी कृतियों या शब्दों को प्रमाण मत मानो। मेरे शब्द और आचरण को सत्य की कसौटी पर परखो। जो खरे उतरें उनका स्वीकार करो। जो घटिया ठहरें उन्हें छोड़ दो। सत्य की कसौटी हरएक की बुद्धि के लिए सहजगम्य है। उसे काम में लाओ। **यानि अस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि**-हे शिष्यगण, हममें जो सदाचरण हो, उन्हीं का अनुसरण करना। जो सदाचरण न हो, उसका

अनुसरण मत करना। इसका मतलब है, गुरु शिष्य को आजाद करता है कि अपनी स्वतंत्रबुद्धि से सोचो कि सत्यासत्य क्या है। उपनिषद का ज्ञानी ऋषि इतना विनय संपन्न है। वह अपने विद्यार्थियों को निर्भय बनाता है।

इस पुस्तक में शिक्षण और शिक्षा दोनों शब्दों का उपयोग किया गया है। दोनों समान अर्थ में हैं। समास में अधिकतर शिक्षण शब्द रखा है।

२ शिक्षा के मूलभूत तत्त्व

१. जीवन और शिक्षण

जीवन के दो टुकड़े

आज की विचित्र शिक्षा-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पंद्रह-बीस बरसों में आदमी जीने की झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा प्राप्त करे और बाद में शिक्षण को बस्ते में लपेटकर मरने तक जीये!

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लम्बाई का बालक साढ़े तीन हाथ का कैसे होता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि धीरे-धीरे क्रम-क्रम से थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये, तब दो फुट ऊँचाई थी और सबेरे उठकर देखा, तो ढाई फुट हो गयी। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि मनुष्य अमुक वर्ष के अन्तिम दिन तक जीवन के विषय में पूर्णरूप से गैरजिम्मेवार रहे, तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैरजिम्मेवार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकलते ही सारी जिम्मेवारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। सम्पूर्ण गैरजिम्मेवारी से सम्पूर्ण जिम्मेवारी में कूदना तो एक हनुमान-छलांग ही हुई। ऐसी हनुमान-छलांग की कोशिश में हाथ-पैर टूट जायें, तो क्या आश्चर्य!

कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता

भगवान ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में 'भगवद्गीता' कही। पहले भगवद्गीत के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे 'जीवन की तैयारी का ज्ञान' कहते हैं, उसे जीवन से बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं। इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

हनुमान-छलांग का नतीजा

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बहनूँगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा।" एक, दो, चार न जाने कितनी कल्पनाएँ करता है। ऐसी कल्पना

करने का भाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है। पर जिन्हें मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नमक-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ता है, जब पेट का प्रश्न सामने आता है, तो बेचारा दीन बन जाता है। 'जीवन की जिम्मेवारी क्या चीज है', इसकी आज तक बिल्कुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया! फिर क्या करे? फिर पेट के लिए मारे-मारे फिरनेवाले शिवाजी, दुखड़ों का रोना रोनेवाले वाल्मीकि और कभी नौकरी की, तो कभी पत्नी की, तो कभी बेटी के लिए वर की और अन्त में श्मशान की खोज करनेवाला न्यूटन! इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान-छलांग का फल है।

ततः किम्

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा- "क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कॉलेज में जाऊँगा।"

"ठीक है। कॉलेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना ही रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाये? आगे देखा जायेगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार नहीं हुआ यानी? लेकिन विचार किया था क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें, कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायेगा।"

"आगे देखा जायेगा" ये वे ही शब्द हैं - जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी और आज की आवाज में थोड़ी चिन्ता की झलक।

फिर डेढ़ वर्ष बाद, उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से - या यों कहें, अब उसी 'गृहस्थ' से - वही प्रश्न पूछा। इस बार उसका चेहरा चिन्ताग्रस्त था। आवाज की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी।

'ततः किम्? ततः किम्?' शंकराचार्य का पूछा हुआ यह सनातन प्रश्न अब उसके दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर उसके पास उसका कोई जवाब नहीं था।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उन पर नहीं आता, जो 'मरण के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण अपनी आँखों से देखते हैं, जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव लेते हैं, उनका मरण टलता है। और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, डरते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खम्भा है, यह बात अन्धे को उस खम्भे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खम्भा पहले ही दिखायी देता है, अतः उसका धक्का उसकी छाती में नहीं लगता।

जिम्मेवारी न टालें

जिन्दगी की जिम्मेवारी कोई डरावनी चीज नहीं है। वह आनन्द से ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाये। पर जैसे वह आनन्द से भरी वस्तु है, वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिन्दगी की जिम्मेवारी से वंचित हुआ, वह सारी शिक्षा गँवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिन्दगी की जिम्मेवारी का भान यदि बच्चों को रहे, तो जीवन कुम्हला जायेगा। पर जिन्दगी की जिम्मेवारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो, तो कहना होगा कि जीवन जीने योग्य वस्तु है ही नहीं।

सच्चा मनुष्यत्व

पर आज यह धारण बहुतेरे शिक्षा-शास्त्रियों की भी है। और इसका मुख्य कारण है - जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन यानी कलह, ऐसा मान लेना। जीवन यदि भयानक वस्तु हों, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जीओ। पर जीवन अगर जीने लायक वस्तु हो, तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण मिलनेवाला नहीं। गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गयी, वैसे ही शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए। वह दी जा सकती है। "दी जा सकती है"- यह भाषा भी ठीक नहीं है, जीवन-क्षेत्र में ही वह मिल सकती है।

जीवन जीने की शिक्षा

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो, तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि- शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहाँ जरूरत हो, रसायन-शास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उन्हें "जीवन जीने दो।" व्यवहार में काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्गदर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले हों', जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं, अन्तर इतना है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालों का जीवन विचारमय होगा, और जीवन के विचार मौके पर बच्चों को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी।

पेशेवर शिक्षक न हों

'शिक्षक' नाम के किसी स्वतंत्र धन्धे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि से बाहर के किसी प्राणी की। और "क्या करते हो" पूछने पर, "पढ़ता हूँ" या "पढ़ाता हूँ", ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है, "खेती करता हूँ" अथवा "बुनता हूँ"' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिए या व्यावहारिक कहिए, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए।

आनुषंगिक फल-शिक्षा

शिक्षण कर्तव्य-कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है, उसे जाने-अनजाने वह मिलता है। लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आयी है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पायें और धीरे-धीरे स्वावलम्बी बनें, ऐसी

अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है और **मा फलेषु कदाचन**, यह मर्यादा इस फल के लिए भी लागू है।

शिक्षण-मोह से छूटें

खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना, यह भी सकामता हुई - और उसमें भी **इदमद्य मया लब्धम्** - आज मैंने यह पाया, **इमं प्राप्स्ये** - कल वह पाऊँगा, आदि वासनाएँ आती ही हैं। इसलिए इस शिक्षण-मोह से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा, उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा, पर इस शिक्षण के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज, जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूँ, जाती है, तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

परिश्रम का स्थान

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए, ऐसा माननेवाले कुछ शिक्षणशास्त्रियों का इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायें, 'पेट भरने” की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने’ का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का कुछ उद्देश्य है। ईमानदारी से 'पेट भरना’ अगर मनुष्य साध ले, तो समाज के बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जायेंगे। इसी लिए मनु ने **योऽर्थे शुचिः हि स शुचि:** —जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है, ऐसे यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। **सर्वोषामविरोधेन** कैसे जियें, इसकी शिक्षा में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीलिए शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने ‘यज्ञ’ नाम दिया है। **उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञ-कर्म**—यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञ-कर्म जानो। वामन पण्डित का यह वचन प्रसिद्ध है। अत: मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। 'शरीर-यात्रा’ से मतलब

अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा यानी समाज की सेवा और इसलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरएक में होनी चाहिए।

यह भावना छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनको शक्तिभर जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केन्द्र बनाकर उसके आसपास आवश्कतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो टुकड़े नहीं होंगे। जीवन की जिम्मेवारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन उत्पन्न नहीं होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर शिक्षण का मोह नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की आदत होगी।

२. सहज शिक्षण

विद्यार्थियों के लिए गुरु देवता है और गुरु के लिए शिष्य देवता है। गुरु से मिलनेवाला ज्ञान विद्यार्थियों के लिए सर्वस्व है, इसलिए गुरु-सेवा ही उनके लिए सर्वस्व होगी। शिक्षकों के लिए विद्यार्थियों को ज्ञान देना और उनकी चिन्ता करना, यही सर्वस्व होगा। गुरु को यह नहीं मालूम होना चाहिए कि मैं सेवा करता हूँ, तो उसमें मेरा और कोई मतलब सधता है। विद्यार्थियों को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि हम गुरु-सेवा करते हैं, तो उसमें हमारा और कोई मतलब सधता है। इसका मतलब यह है कि विद्यार्थियों के लिए गुरु-सेवा और शिक्षकों के लिए विद्यार्थी-सेवा पर्याप्त ध्येय, एकमात्र ध्येय और अनन्य ध्येय होना चाहिए और दोनों मिलकर परमेश्वर की सेवा कर रहे हैं, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए।

शिक्षा-दान का कार्य अहंकार का कार्य नहीं है, उसमें निरहंकार-वृत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। विद्यार्थी की सेवा करने के लिए शिक्षक हमेशा प्रस्तुत रहेगा, वह नम्र होकर उसकी सेवा करेगा और विद्यार्थी नम्र होकर शिक्षक से ज्ञान प्राप्त करेगा। वे एक-दूसरे को साथी समझेंगे। इसलिए प्राचीन काल में दोनों मिलकर भगवान की प्रार्थना करते थे और दोनों एक साथ

बोलते थे कि **तेजस्वि नावधीतमस्तु**—हम दोनों का अध्ययन तेजस्वी बने। इसमें नौ शब्द हैं, वह द्विवचन है। यानी शिक्षक यह नहीं मान रहा है कि मैं अध्यापन कर रहा हूँ, बल्कि यह मानता है कि अध्ययन कर रहा हूँ। और विद्यार्थी अध्ययन कर रहा है, यह तो जाहिर ही है। मतलब हम दोनों एक साथ जीवन जी रहे हैं, एक साथ अध्ययन कर रहे हैं। विद्यार्थी समझता है कि शिक्षक का उपकार है कि वह हमको मदद देता है। शिक्षक समझता है कि विद्यार्थी का उपकार है कि वह मुझको सहायता देता है।

परस्पर उपकार और उपकृत की भावना रखनेवाले दो साथियों में शिक्षण का व्यवहार होगा, इसलिए नयी तालीम में पुस्तकों को गौण स्थान है। लोग घबड़ाते हैं। जहाँ पुस्तक का आधार कम हो गया, वहाँ लोगों को लगता है कि ज्ञान-साधन ही कम हो गया। इसमें कोई शक नहीं है कि पुस्तकों की जरूरत ज्ञान-प्राप्ति के लिए कुछ-न-कुछ होती है, परन्तु वह मदद गौण है। विद्यार्थी ओर शिक्षक एक साथ रहकर जीवन बिताते हैं, यह चीज ही प्रधान है अर्थात् शिक्षक शिक्षण दे रहा है और विद्यार्थी ले रहा है, इस प्रकार का भेद मिट जाना चाहिए, यह इसका आरम्भ है।

सामूहिक जीवन

इसके लिए कुछ बातें बहुत लाभदायक होती हैं। जैसे अगर दोनों मिलाकर खेती करना, कपड़ा बनाना आदि जैसा कोई उत्पादन का कार्य करते हों और दोनों का सामूहिक जीवन बनता हो, तो बड़ी लाभदायी वस्तु हो जाती है। उसी तरह दोनों मिलकर अध्ययन-अध्यापन करते हैं, तो वह भी एक स्वतंत्र ध्येय के लिए है। इसके जरिये हम समाज की कोई सेवा कर रहे हैं, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए। अगर इस तरह का अनुभव अध्यापन में और उद्योग में आता हो, तो आज पुस्तकों की जो समस्या है, वह नहीं उठेगी यानी दोनों प्रकार के अनुभवों से जरूरी पुस्तक वहाँ पर निर्माण होगी।

शांकरभाष्य का दृष्टान्त

हमारे यहाँ जो उत्तम भाष्य-ग्रन्थ हुए हैं, वे इसी तरह से प्रत्यक्ष अध्यापन-कार्य में निर्मित हुए हैं। जैसे भगवान शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर एक अप्रतिम भाष्य लिखा है, जो साधकों में बहुत

प्रसिद्ध है। तत्त्वज्ञान पर इतना गहरा ग्रन्थ अक्सर देखने को नहीं मिलता। परन्तु वह ऐसी प्रसन्न और आसान भाषा में लिखा है कि जैसे सर्वसाधारण जनता के लिए किसी साहित्यिक ने लिखा हो। उधर जो तत्त्वज्ञानी पश्चिम में हुए हैं, जैसे ग्रीन, काण्ट आदि, उनके ग्रन्थ बड़े जाटिल हैं। लेकिन शंकराचार्य का ग्रन्थ इतना आसान है कि मैंने तो बच्चों को संस्कृत सिखाते समय बड़े मजे में वह पढ़ाया है और बच्चों को भी यही मालूम हुआ कि हम अपनी मातृभाषा में पढ़ रहे हैं। इसका कारण यह है कि शंकराचार्य ने अपने शिष्यों के लिए ब्रह्मसूत्र का अध्यापन किया था और उस अनुभव पर से ग्रन्थ लिखा गया है। उन्होंने अध्यापन के समय तो एक-एक सूत्र पर विस्तृत विवरण किया होगा। और उसी के नोट्स लेकर बाद में वह संक्षिप्त रूप में ग्रन्थ लिखा होगा। इसलिए उस भाष्य की शैली मानो कोई संवाद या चर्चा चल रही हो इस प्रकार की है। वह पुस्तक पढ़ते समय हमें ऐसा नहीं लगता कि लेखक ने ग्रन्थ लिखा है और हम पढ़ रहे हैं। बल्कि ऐसा लगता है कि कोई गुरु कह रहा है और हम सुन रहे हैं।

मेरी रचनाएँ

इस तरह अध्ययन-अध्यापन और उद्योग एक सामाजिक सेवा की दृष्टि से चले, तो उसमें से पुस्तकें निर्माण होंगी। मैंने कताई पर एक छोटी-सी किताब प्रत्यक्ष अनुभव से लिखी है। विद्यार्थियों को सिखाते-सिखाते और उद्योग करते-करते वह पुस्तक बनी है। 'गीता-प्रवचन' तो साक्षात् जेल में कुछ कैदियों के सामने दिये गये व्याख्यान हैं। अगर मेरा सेवा का उद्देश्य नहीं होता और इस तरह का स्वाभाविक कार्य नहीं चलता, तो स्वतंत्रभाव से मैं ऐसी पुस्तक नहीं लिखता। हम रोज शाम की प्रार्थना में स्थिपप्रज्ञ के लक्षण बोलते हैं। जेल में उन श्लोंको का विवरण देता गया और उसी की 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' पुस्तक बनी। जेल में मेरी जो 'स्वराज्य-शास्त्र' पुस्तक लिखी गयी, वह भी इसी तरह लिखी गयी। एक भाई ने कुछ सवाल पूछे और उसके उत्तर मैंने उनको दिये। उसी की वह किताब बनी।

इस तरह जहाँ पर शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर समाज-सेवा के उद्देश्य से अध्ययन, अध्यापन और उद्योग करते हैं, वहाँ पर उनका अनुभव वहीं तक सीमित नहीं रहता, उसका लाभ

सारी दुनिया को मिलता है। इस तरह से जो ग्रन्थ निर्माण होते हैं, उनका संप्रदाय चलता है और उनके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा चलती है।

विचार-मंथन और प्रयोग की एकता

नयी तालीम के विद्यालय से हम हमेशा यह आशा करते हैं कि उसमें विचारों का खूब अध्ययन चले और उसका आचरण भी हो। उस चिन्तन, मनन या सह-चिन्तन और सह-आचरण से, जो गुरु और शिष्य, दोनों मिलकर करते हैं, दुनिया को अनुभवयुक्त ज्ञान मिलता है। जहाँ विचार-मंथन और प्रयोग, दोनों एक हो जाते हैं, घुल-मिल जाते हैं, उसे ही 'नयी तालीम' कहते हैं। जहाँ कुछ विचार-मंथन चलता है, परन्तु उसे आचरण का आधार नहीं मिलता, वहाँ पर पुरानी तालीम ही चलती है। जो आज सर्वत्र चल रही है। जहाँ पर प्रत्यक्ष आचरण चलता है, आचरण के प्रयोग चलते हैं, परन्तु विचार-मंथन, चर्चा आदि नहीं चलती, वह है कर्मयोग, जो आज असंख्य किसान सचाई से कर रहे हैं। इस तरह इधर से यह किसान और उधर से वे तत्त्वज्ञानी, दोनों मिलाकर जो चीज बनती है, वह है नयी तालीम का शिक्षक और विद्यार्थी।

गोपाल कृष्ण

इस सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण की मिसाल इसलिए देता हूँ कि उन्होंने तत्त्वज्ञान में अपने पूर्वजों का सिर्फ अनुसरण नहीं किया, बल्कि उसमें वृद्धि की। उनके पहले ज्ञानयोग चलता था, कर्मयोग चलता था और भक्तियोग भी चलता था। ध्यानयोग भी चलता था और गुण-विकास की प्रक्रिया भी सांख्यों ने अलग से चलायी थी। उन सब चीजों का समन्वय करके भगवान कृष्ण ने दुनिया के सामने एक नयी चीज उपस्थित की, इसलिए हम श्रीकृष्ण को जगद्गुरु कहते हैं। उन्होंने दुनिया को नयी वस्तु दी है। उन्होंने कर्मयोग किया, तो उसमें भी पहले के किसानों का और उद्योग करनेवालों का न सिर्फ अनुसरण किया, बल्कि उसमें वृद्धि की। उन्होंने लोगों को इन्द्र की उपासना से हटाकर पर्वत की उपासना सिखायी। उन्होंने गायों की इतनी प्रतिष्ठा बढ़ायी कि हिन्दुस्तान में उनका नाम आज तक गोसेवा के साथ जुड़ा हुआ है। एकनाथ महाराज ने तो बड़े गौरव के साथ लिखा है कि प्रभु रामचन्द्र के अवतार में सब प्रकार से पूर्णता थी, लेकिन एक कमी रह गयी थी,

जिसे पूर्ण करने के लिए उन्होंने कृष्ण का अवतार लिया। वह कमी यह थी कि रामावतार में गायों की सेवा नहीं हो सकी थी, इसलिए उन्होंने कृष्णावतार लिया, उन्होंने समाज के कर्मयोग में गोसेवा के रूप में वृद्धि की।

गोपाल कृष्ण की स्वतंत्र देन

भगवान कृष्ण ने तत्त्वज्ञान में, सामाजिक क्षेत्र में और उद्योग में वृद्धि की। उन्होंने समाज को एक नया तत्त्वज्ञान दिया और एक नया कर्मयोग दिया। इसका मतलब यह नहीं कि उनके तत्त्वज्ञान को पुराना आधार नहीं था। पुराना आधार तो था ही, परन्तु नया मिष्टान्न दुनिया को दिया। उनके पहले घी था, गुड़ था और गेहूँ था; परन्तु उन्होंने उसकी नयी मिठायी बनायी। जब लड्डू बनता है, तो घी, गुड़ और गेहूँ से एक स्वतंत्र वस्तु बनती है। उनके पहले तत्त्वज्ञान के जो मूलभूत विचार थे, उनको जोड़कर उन्होंने तत्त्वज्ञान के लड्डू बनाये। उनके पहले गाय की सेवा की कोई कल्पना नहीं थी, ऐसी बात नहीं है। परन्तु उन्होंने गो-पूजा को स्वतंत्र स्थान दिया। उन्होंने गाय की सेवा को उपासना का रूप दिया। हिन्दुस्तान के सामाजिक क्षेत्र में उनका यह स्वतंत्र योगदान है। मैंने मिसाल ऐसे शख्य की दी, जो सारा सामाजिक कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से करता था और जिसके जीवन में ज्ञान और कर्म की दोनों धाराएँ एक हो गयी थीं।

आदर्श शिक्षक

बुनियादी शिक्षक को यही आदर्श सामने रखना चाहिए। बुनियादी शिक्षक किसी भी किसान से, बुनकर से या बढ़ई से कम कुशल नहीं होंगे, बल्कि ज्यादा कुशल होंगे। किसान, बढ़ई आदि को जो चीजें नहीं सूझती होंगी, वे इन्हें सूझेंगी। किसान, बढ़ई आदि अपने काम में जो रफ्तार हासिल नहीं कर सकते, वह रफ्तार इन्हें हासिल होगी और औजारों में सुधार करने की जो बात उन्हें नहीं सूझती होगी, वह इन्हें सूझेगी। किसान को अगर अपनी रोटी हासिल करने में आठ घण्टे लगते होंगे, तो बुनियादी शिक्षक कहेगा कि यह काम छह घण्टे में हो सकता है। इतनी प्रगति उसको करनी चाहिए। इन दिनों मैंने जहाँ कहीं बुनियादी शिक्षण के केन्द्र देखे हैं, वहाँ पर शिक्षक लोग कुछ उद्योग जानते हैं, परन्तु प्रतीक जैसे जानते हैं। जैसे मछली पानी में तैरती है, खेलती है,

वैसे वे शिक्षक उद्योग में तैरते या खेलते नहीं। भगवान श्रीकृष्ण योद्धा थे, तो खेलनेवाले और तैरनेवाले योद्धा थे, वे मँजे हुए और तज्ञ गोसेवक थे। इस तरह के कर्मयोग के प्रयोग हमारे इन विद्यालयों में चलने चाहिए।

सहजभाव से तालीम

उसी तरह हमारे विद्यालयों में तो तत्त्वज्ञान की चर्चा चलेगी, वह प्रतिभाशाली होगी और उसमें नित्य नये विचार सूझते रहेंगे। समाज के तत्त्वज्ञान में कैसे सुधार करना है, इस पर चिन्तन चलेगा। आज दुनिया में साम्यवाद की चर्चा है, समाजवाद के भी कई प्रकार दुनिया में चलते हैं, हमारी सरकार कुछ करने जा रही है, जिसे वे लोग समाजवादी रचना कहते हैं। सर्वोदय भी एक चीज है और अपने प्राचीन स्मृतिकारों की बनायी हुई एक योजना भी है। ये जो सारी प्राचीन और अर्वाचीन जीवन की पद्धतियाँ हैं, उन सबका अध्ययन यहाँ पर चलना चाहिए।

कुछ लोगों का खयाल है कि बुनियादी तालीम में ज्ञान का माद्दा कम रहेगा और कर्म का माद्दा ज्यादा रहेगा। लेकिन वे लोग गलत समझे हुए हैं। वे समझते नहीं कि दूसरे विद्यालयों में जो ज्ञान दिया जाता है, वह खोखला रहेगा और यहाँ का ज्ञान ठोस रहेगा। दोनों के बीच इतना बड़ा फर्क रहेगा। क्योंकि यहाँ का ज्ञान अनुभवजन्य होगा और वहाँ का तर्कजन्य। इसलिए उस ज्ञान में संशय होगा और इस ज्ञान में निश्चय। वहाँ पर जो ज्ञानी निर्माण होंगे, उनसे कम ज्ञानी यहाँ पर निर्माण होंगे, यह धारणा गलत है। जहाँ ज्ञान और कर्म का भेद ही मिट जाता है, वहाँ नयी तालीम आती है। अपने आश्रम में हम खाने बैठते थे, तो खाने के साथ जो ज्ञान आवश्यक है, उसका चिन्तन-मनन चलता था। हम रसोई करते, तो उसका ठीक हिसाब रखते थे। खाने के बाद हम सब अनाज साफ करने के लिए बैठते थे। इधर तो वह कार्य चलता था और उधर चर्चा चलती थी। हमने उसे 'चर्चा-मण्डल' नाम दिया था। खाने के बाद मनुष्य को थोड़े आराम की जरूरत होती है, इसलिए हम उस काम को आराम ही मानते थे और काम करने की गति की ओर ध्यान न देते हुए आराम से काम करते थे। साथ-साथ दुनियाभर के विषयों पर चर्चा चलती थी, लेकिन उसे पढ़ाई का नाम नहीं दिया जाता था। इस तरह तालीम दी जाती थी, फिर भी तालीम लेने का नाम नहीं था - इतने सहजभाव से तालीम दी जाती थी।

गुरु और शिष्य

जब विश्वामित्र ने दशरथ से राम और लक्ष्मण की मांग की, तो उन्होंने यही कहा कि यज्ञ की रक्षा के लिए लड़कों को भेजिए। राम और लक्ष्मण उनके साथ गये, तो ऐसी सकाम भावना लेकर नहीं गये कि गुरु से ज्ञान पाना है। ज्ञानार्जन की इच्छा में भी सकाम भावना होती है। इसलिए मैंने आरम्भ में ही कहा था कि विद्यार्थियों के लिए गुरु-सेवा ही सर्वस्व होनी चाहिए। ऐसा नहीं मालूम होना चाहिए कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु-सेवा करनी होगी। राम और लक्ष्मण एक सेवा-कार्य लेकर विश्वामित्र के साथ निकले।

विश्वामित्र का विश्वविद्यालय

शाम का समय हुआ तो विश्वामित्र ने कहा, “अब संध्या का समय है तो संध्या के लिए तैयार हो जाइए।” फिर संध्या हुई और कुछ ज्ञान-चर्चा भी हुई। उसके बाद विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण के लिए पत्तों का और घास का बिछौना तैयार किया और वे दोनों उस पर सो गये। आप यह चित्र ध्यान में रखिए कि राम और लक्ष्मण राजपुत्र थे, उनकी उम्र सोलह साल से कम थी, इसलिए वे पिता के वात्सल्य-भाजन थे। तो उन्हें किस प्रकार के बिछौने पर सोने की आदत रही होगी, यह जरा सोचिए! घास के बिछौने पर सोये कि उनका विश्वविद्यालय का कोर्स शुरू हो गया।

दूसरे दिन सुबह हुई, चार ही बजे होंगे, सूरज उगने में काफी देर थी, लेकिन विश्वामित्र ने उनको जगाया। खुली हवा में, आसमान के नीचे, पत्तों के बिछीने पर सोये हुए राजपुत्रों को जगाने का काम कितना कठोर है! उन राजपुत्रों को तो उठाने के लिए बन्दी और चारण गीत गाते होंगे और यह कहते होंगे कि अभी सूर्य उदय हो रहा है, भृंग गुंजगान कर रहे हैं, इसलिए हे रामजी, उठिए। लेकिन यहाँ पर सूर्योदय नहीं हुआ था, सारी दुनिया सोयी हुई थी, ऐसे समय में विश्वामित्र ने मधुर वाणी से उन दोनों का उठाया। उस समय विश्वामित्र के मन में यह भावना हो रही थी कि मैं अपने बच्चों को अमृत पिला रहा हूँ। इस ब्राह्ममुहूर्त में, इस अमृत बेला में वे सोये हुए रहेंगे, तो उन्हें अमृत कैसे पिलाऊँगा, यह सोचकर उन्होंने उन्हें जगाया।

बाद में चलते समय उद्ध्वस्त अंचल दीख पड़ा, तो विश्वामित्र ने कहना शुरू किया कि यहाँ पर पहले बड़ा राष्ट्र था, लेकिन आज उसकी ऐसी दशा क्यों हुई है—इस तरह इतिहास का पाठ चला। आखिर उन्होंने उनको धनुर्विद्या भी सिखायी और यह सब करके उनसे यज्ञ की रक्षा करायी।

राम और लक्ष्मण ने यह नहीं सोचा कि हम किसी विश्वविद्यालय में दाखिल हुए हैं और तालीम पा रहे हैं। वे तो सेवा करने के लिए कर्मयोग के क्षेत्र में उतरे थे। लेनिक सेवा करते-करते उन्हें उत्तम ज्ञान दिया गया। ज्ञान देनेवाले में भी ऐसी भावना नहीं थी कि हम ज्ञान दे रहे हैं और लेनेवाले में भी ऐसी भावना नहीं थी कि हम ज्ञान ले रहे हैं। फिर भी उत्तम ज्ञान दिया गया और लिया गया। यही नयी तालीम का आदर्श है।

शिक्षण का तेज

शिक्षक और छात्र, दोनों एक-दूसरे के आचरण से शिक्षण पाते हैं। दोनों विद्यार्थी हैं। जो दिया नहीं जाता, वही शिक्षण है। जो लिया जाता है, जिसका हिसाब रखा जा सकता है या जिसका कुछ लेखा हो सकता है, वह शिक्षण नहीं। शिक्षण का लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। जीवन ही शिक्षण है। 'कैलरी' का सच्चा हिसाब कागज पर नहीं, शरीर पर दीखता है। जो अनुभव में आया, खाया, पचा और रक्त में एकरस हो गया, वही सच्चा शिक्षण है।

'सिखाना ' शब्द गलत

एक शब्द के चिन्तन पर हिन्दुस्तान की मनोवृत्ति का भान होता है। हिन्दुस्तान के संविधान में निर्दिष्ट कुल चौदह भाषाओं में 'सिखाने' के लिए कोई शब्द नहीं है, 'सीखने' के लिए शब्द है। सिखाना यानी सीखने में मदद देना, यह कृत्रिम शब्द बनाया है। जैसे अंग्रेजी में 'टीच' शब्द है, वैसा शब्द हमारी भाषा में नहीं है। हम सीख सकते हैं, सीखने में मदद दे सकते हैं, लेकिन 'टीच' नहीं सकते। अंग्रेजी में एक शब्द 'लर्न' है और दूसरा शब्द 'टीच' है। यानी 'लर्न' एक स्वतंत्र क्रिया है और 'टीच' एक स्वतंत्र क्रिया है। यह अध्यापक का अहंकार है। यह अहंकार हम जब तक रखेंगे, तब तक तालीम का तत्त्व हम नहीं समझेंगे। इसलिए हमको पहले ही समझ लेना चाहिए कि दुनिया में कोई अशिक्षित मनुष्य है ही नहीं।

३. निवृत्त शिक्षण

[फ्रांसीसी ग्रंथकार रूसो के 'एमिली' नामक शिक्षण-शास्त्र के ग्रन्थ पर सभा में विनोबाजी ने व्यक्त किये विचार]

रूसों की प्रतिभा

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के बारे में रूसो और वाल्टेयर, इन दो ग्रन्थकारों के नाम काफी प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थकारों की भाषा, विचार-शैली और लेखन-पद्धति तेजस्वी, सजीव और क्रान्तिकारी है। लोगों को इनकी लेखनी से जितनी दहशत होती थी, उतनी बड़े-बड़े बलवान नृपतियों के शस्त्र-बल से भी नहीं होती थी। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति इनके लेखन का मूर्त परिणाम थी। इन दोनों ग्रन्थकारों में रूसो बहुत ही भावना-प्रधान था, लेख लिखने के लिए कभी उसने भाषा-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। हृदय में समा न सकने के कारण बाहर फूट पड़ने के लिए भीतर से धक्के देनेवाले ज्वालामुखी पर्वत के जलते हुए तरल पदार्थ की तरह, किंबहुना उससे भी अधिक दाहक, उस लेखक के विचार उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसके न चाहते हुए भी, बाहर निकल पड़ते थे। उसके लेखों में उसका हृदय बोलता था और इसलिए बौद्धिक या तार्किक कसौटी पर वे लेख न टिक सकने पर भी, इतिहास को भी मंजूर करना ही पड़ता है कि वे ‘जलती आग' थे। उसके लेखों का एकमात्र सूत्र था - मृत-जीवन की अपेक्षा जीवित-मृत्यु ही श्रेयस्कर है। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान ग्रन्थकार के शिक्षा-विषयक विचारों का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना हमारा कर्तव्य है।

शिक्षा के तीन विभाग

रूसो के मत से शिक्षा के तीन विभाग करने चाहिए - (१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीर के हरएक अवयव की पूर्ण और व्यवस्थित वृद्धि होना, इंद्रियों का चतुर, चपल और कार्यकुशल बनना, विभिन्न मनोवृत्तियों का सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क आदि बौद्धिक शक्तियों का प्रगल्भ और प्रखर बनना - इन सब नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रवृत्तियों

का उसके मत से, निसर्ग-शिक्षण में अंतर्भाव होता है। दूसरे शब्दों में, मानव के भीतर-ही-भीतर होनेवाली शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि या आत्मिक विकास ‘निसर्ग-शिक्षण' है।

इसी तरह मानव को बाह्य परिस्थिति से जो ज्ञान प्राप्त होता है और व्यवहार में जो अनुभव आता है, उस समस्त पदार्थ-ज्ञान या भौतिक जानकारी को वह ‘व्यवहार-शिक्षण' नाम देता है।

निसर्ग-शिक्षण से प्राप्त आत्मविकास का, बाह्य व्यवहार-ज्ञान की दृष्टि से बाह्य जगत् में किस तरह उपयोग किया जाये, इस बारे में अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का जो वाचिक, सांप्रदायिक या शालेय (पाठशाला में मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने 'व्यक्ति-शिक्षण' संज्ञा दी है। यानी उसकी दृष्टि से व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षण के बीच की कड़ी व्यक्ति-शिक्षण है।

वस्तुत: देखा जाये, तो यह कोई बहुत बड़ा मुद्दा नहीं कि रूसो ने शिक्षण के कितने विभाग किये। अमुक विषय के अमुक विभाग करने चाहिए, यह कोई नियम नहीं। यह सब सुविधा का प्रश्न है अर्थात् दृष्टि-भेद से वर्गीकरण में भेद होना स्वाभाविक है। रूसो द्वारा किये गये तीन विभाग सर्वथा आवश्यक हैं, ऐसी भी बात नहीं। कारण, क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण, दोनों मानव को बाहर से ही मिलते हैं। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतर से मिलता है, यही कहना पड़ेगा। इस दृष्टि से अंत:-शिक्षण और बाह्य-शिक्षण, इस तरह दो विभाग करने में क्या हानि है? पर इससे भी कुछ आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि बाह्य-शिक्षण केवल अभावात्मक और अंतः-शिक्षण भावात्मक है, इसलिए शिक्षा का अंतः-शिक्षण ही एकमात्र सच्चा या तात्त्विक विभाग हो सकता है।

बाह्य-शिक्षण का अखंड स्त्रोत

ऊपर जिसे ‘बाह्य-शिक्षण कहा गया है, वह मनुष्यों से या पाठशालाओं से ही मिलता है, ऐसी बात नहीं। वास्तव में वह शिक्षण इस अनंत विश्व के प्रत्येक पदार्थ से मानव को लगातार प्राप्त होता रहता है। उसमें कभी बाधा नहीं पड़ती। शेक्सपियर के कथनानुसार बहते हुए झरने में प्रासादिक ग्रन्थ संग्रहीत हैं, पत्थरों में दर्शन छिपे हुए हैं और जितने भी पदार्थ हैं, सबमें शिक्षण के सारे तत्त्व भरे पड़े हैं। वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, नदियाँ, पर्वत, आकाश, तारे – सभी अपने-अपने ढंग से मनुष्य को शिक्षा दे रहे हैं। नैयायिकों के अणु से लेकर सांख्यों के महत् तत्त्व तक,

रेखागणित के बिन्दु से लेकर भूगोल के सिन्धु तक और बचपन की भाषा में कहना हो तो 'राम की चोटी से लेकर तुलसी के मूल तक', सभी छोटे-मोटे पदार्थ मानव के गुरु हैं। विचक्षण विज्ञानवेत्ताओं की दूरबीनों में, व्यवहार-विशारदों के चर्म-चक्षुओं में, कल्पना-कुशल कवियों के दिव्य-चक्षुओं में या तार्किक तत्त्ववेत्ताओं के ज्ञान-चक्षुओं में जो-जो पदार्थ होते हों या न होते हों, उन सभी से हमें नित्य ही शिक्षा मिलती रहती है। यह विशाल सृष्टि परमेश्वर द्वारा हम सबकी शिक्षा के लिए हम लोगों के सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय और परम पवित्र ग्रन्थ है। उसके समक्ष वेद व्यर्थ हैं, कुरान रद्द है, बाइबिल निर्बल है।

बाह्य-शिक्षण अभावात्मक कार्य

पर यह ग्रन्थ-गंगा कितनी ही गहरी हो, मानव अपने लोटे से ही उसका पानी भरेगा। इसलिए इस विश्व से बाह्यत: हमें वही और उतनी ही शिक्षा मिलेगी, जिसके और जितने के बीज हमारे ‘भीतर’ निहित होंगे। यही हरएक का अनुभव है। हम-आप इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रंथ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं और इतने पदार्थ देखते हैं, उनमें से कितने हमारे ध्यान में रहते हैं?

सारांश, हम इस बाहरी दुनिया से जो कुछ सीखते हैं, वह सब भूल जाते हैं, और उसकी जगह उसके संस्कारमात्र शेष रह जाते हैं। किंबहुना, शिक्षा का अर्थ जानकारी नष्ट होने पर बचे हुए संस्कार ही है। ऐसा होने का कारण ऊपर बताया ही जा चुका है कि जो हमारे 'भीतर' नहीं है, उसका ‘बाहर' से मिलना असंभव है। इस तरह स्पष्ट है कि बाह्य-शिक्षण कोई स्वतंत्र या तात्त्विक पदार्थ न होकर केवल अभावात्मक क्रिया है।

सनातन वाद

अब ऐसी जगह पर सदैव दुहरा पेंच खड़ा किया जाता है। यदि बाह्य-शिक्षण को मिथ्या कहा जाये, तो संस्कार बनने के लिए भी तो कुछ बाह्य निमित्त, आलम्बन या आधार चाहिए। इसके विपरीत; बाह्य-शिक्षण को सत्य और भावरूप कहा जाये, तो ऊपर बताये अनुसार अन्तर्विकास के अनुकूल थोड़ा-सा अंश ही, और वह भी संस्काररूप में शेष रहता है। यानी दोनों पक्षों में विप्रतिपत्ति (डाइलेमा - परस्पर विपरीत दो पक्षों की उपस्थिति) सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न आता है कि आखिर इन दोनों शिक्षणों का परस्पर कौन-सा संबंध कहा जाये?

पर यह वाद नया नहीं और इसीलिए इसका निष्कर्ष भी नया नहीं है। सभी शास्त्रों में इस तरह के वाद पैदा होते रहते हैं और सर्वत्र उनका निष्कर्ष भी एक ही होता है। उदाहरणार्थ, 'सुख का बाह्य पदार्थो से क्या संबंध है?' इस वेदान्ती वाद को ही ले लीजिए। यहाँ भी वही पेच है। यदि कहें कि सुख बाह्य पदार्थो में है, तो उनसे सदैव सुख होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। मानसिक स्थिति बिगड़ी हो, तो अन्य समय में जो पदार्थ सुखकर प्रतीत होते हैं, वे पदार्थ भी सुख नहीं दे पाते। इसके विपरीत, यदि ऐसा कहें कि 'बाह्य पदार्थो' में सुख नहीं, सुख एक मानसिक भावना है', तो वैसा नित्य अनुभव नहीं आता। शेक्सपियर के कथानानुसार, अगर इच्छा ही घोड़ा बनती, तो हर व्यक्ति घुड़सवार हो जाता। पर वैसा नहीं होता, यह कठोर सत्य है। फिर यह प्रश्न हल कैसे किया जाये?

इसी तरह न्यायशास्त्र का एक उदाहरण लीजिए। 'मिट्टी और घड़े का संबंध क्या है?'—यह प्रश्न है। यदि कहें कि 'जो मिट्टी सो घड़ा' तो मिट्टी से पानी भरिए! और यदि कहें कि मिट्टी और चीज है, घड़ा और चीज; तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिए, अपना घड़ा ले जाइए! ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि आखिर दोनों का संबंध क्या है? यदि साफ-साफ कह दें कि यह कौन-सा संबंध है, इसे हम नहीं बता सकते, तो उसमें व्यर्थ ही हमारा अज्ञान दीख पड़ेगा। इसलिए इस संबंध का 'अनिर्वचनीय संबंध'—ऐसा भव्य और प्रशस्त संस्कृत नाम है। किन्तु यह संबंध 'अनिर्वचनीय' होने पर भी जिस तरह एक पक्ष में **वाचारंभणं विकारो नामधेयं,मृत्तिकेत्येव सत्यम्** (छां ७८) —यानी 'मिट्टी सत्य और घड़ा मिथ्या', इस तरह तारतम्य से निर्णय किया जाता है, ठीक उसी तरह, दूसरे पक्ष में, अंतः-शिक्षण भावरूप और बाह्य-शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

बाह्य-शिक्षण का 'भाव' थोड़ा

किन्तु ऐसा कहने पर एक और भी मूलोच्छेदक प्रश्न खड़ा होता है। हमने शिक्षण के दो विभाग किये हैं। उनमें अंत:-शिक्षण या आत्मिक विकास भावरूप होने पर भी वह प्रत्येक व्यक्ति के भीतर-ही-भीतर हुआ करता है। उसके बारे में हम कुछ भी नहीं कर सकते। उसका कुछ पाठ्यक्रम भी बनाया नहीं जा सकता। और बनाया भी जाये, तो उसको कार्यान्वित करना संभव

नहीं। बाह्य-शिक्षण सामान्यतः और व्यक्ति-शिक्षण विशेषतः अभावरूप निश्चित किया गया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न आता है कि **न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति**—कोई भी किसी को कभी खरगोश का सींग नहीं देता—इस न्याय से शिक्षण-विषयक सारा-का-सारा आन्दोलन क्या मूर्खता का प्रदर्शन ही कहा जाये?

ऊपर-ऊपर से यह आक्षेप जैसा लाजवाब या मुँहतोड़ मालूम पड़ता है, वास्तव में वैसा है नहीं। कारण, हम जब बाह्य-शिक्षण को अभावात्मक कहते हैं, तब हम यह नहीं कहते कि वह कार्य ही नहीं है। वास्तव में वह कार्य है, उपयुक्त कार्य है, पर वह अभावात्मक कार्य है, यही हमारे कहने का तात्पर्य है। शिक्षण द्वारा कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न नहीं करना है; प्रत्युत् निद्रित तत्त्वों को जाग्रत् करना है अर्थात् यही कहना है कि लोग जिस अर्थ में शिक्षण का उपयोग समझते हैं, उस अर्थ में उसका उपयोग नहीं है। पर इतने मात्र से शिक्षण निरुपयोगी नहीं होता। उग्र सुधारवादियों के 'विधवा-विवहोत्तेजन को समाज-शिक्षक कर्वे का 'विधवा-विवाह प्रतिबंध-निवारण' निरुपयोगी प्रतीत होने पर भी वास्तव में यह उपयोगी ही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साराशं, शिक्षण उत्तेजक दवा न होंकर, प्रतिबंध-निवारक उपाय है।

रस्किन ने शिल्पकला की भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पकार को पत्थर या मिट्टी से मूर्ति उत्पन्न नहीं करनी होती, वह उसमें विद्यमान है ही। केवल छिपी हुई है। उसे प्रकट करने का काम शिल्पकार का है। इस तरह स्पष्ट दीखता है कि शिक्षण अभावात्मक होने पर भी उपयुक्त है और प्रतिबंध-निवारण के नाते ही क्यों न हो, उसे थोड़ी भावात्मक भी प्राप्त है। यही अर्थ ध्यान में रखकर शिक्षण 'तारतम्य से अभावात्मक' है, ऐसा सावधानी की भाषा में ऊपर कहा गया है। आत्मविकास की तुलना में शिक्षा अभावात्मक है, अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोड़ा है।

मूर्खतापूर्ण पद्धति

पर चूँकि हम लोगों ने शिक्षण का भाव बेहद बढ़ा दिया, इसलिए आज की हमारी शिक्षा-पद्धति अत्यंत अस्वाभाविक, विपरीत और हास्यास्पद हो गयी है। बच्चे की स्मरण-शक्ति तीव्र दीख पड़ते ही उसे अधिक-से-अधिक कंठ करने को प्रेरित किया जाता है। पिता को ऐसा लगता

है कि इस बच्चे के मस्तिष्क में कितना ठूँसे और कितना नहीं! शालेय शिक्षा-पद्धति में भी यही ढंग अपनाया जाता है। इसके विपरीत अगर छात्र मंद-बुद्धि हो, तो उसकी जान-बूझकर उपेक्षा की जाती है। ‘बुद्धिमान' कहे जानेवाले छात्र कॉलेज पहुँचने तक किसी तरह टिक पाते हैं, पर आगे प्राय: वे पिछड़ जाते हैं। कॉलेज में वे यदि न पिछड़ें, तो आगे व्यवहार में निकम्मे साबित होकर रहते हैं। इसका एकमात्र कारण उनकी कोमल बुद्धि पर फालतू बोझ डाला जाना ही है। घोड़ा चपल है, ठीक से चल रहा है, तो उससे छेड़छाड़ करने की जरूरत नहीं। पर वैसा न करके, घोड़ा चपल है न, फिर लगाओ इसे चाबुक! इससे क्या होगा? घोड़ा भड़ककर गड्ढे में जा गिरेगा और मालिक को भी गिरायेगा। यह मूर्खतापूर्ण जंगली पद्धति, कम-से-कम राष्ट्रीय पाठशालाओं में तो, बन्द होनी ही चाहिए।

शिक्षा का रहस्य

वस्तुत: छात्र की जैसे ही यह धारणा हुई कि मैं शिक्षा ग्रहण कर रहा हूँ, तो समझ लीजिए कि शिक्षा का सारा मजा ही किरकिरा हो गया। छोटे बच्चों के लिए खेलना उत्तम व्यायायाम कहा जाता है, इसका भी रहस्य यही है। खेलने में व्यायाम तो हो जाता है, पर 'हम व्यायाम कर रहे हैं’, ऐसा ध्यान नहीं होता। खेलते समय आसपास की दुनिया खतम हो जाती है। बच्चे तद्रूप होकर अद्वैत का अनुभव करते हैं। देह की सुध-बुध नहीं रह जाती; भूख, प्यास, थकान, पीड़ा कुछ भी नहीं मालूम पड़ती। सारांश, खेल का अर्थ ‘आनन्द' या ‘मनोरंजन’ रहता है। वह व्यायामरूप ‘कर्तव्य’ नहीं बन पाता। यही बात सभी प्रकार की शिक्षाओं पर लागू करनी चाहिए। 'शिक्षा एक कर्तव्य है', ऐसी कृत्रिम भावना की अपेक्षा ‘शिक्षा का अर्थ आनन्द है', यह प्राकृतिक और उत्साहभरी भावना पैदा होनी चाहिए। पर क्या हमारे बच्चों में आज ऐसी भावना दीख पड़ती है? ‘शिक्षण आनन्द है', यह तो दूर, 'शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी आज प्राय: दिखायी नहीं पड़ती। आज के छात्र-वर्ग में गुलामगीरी की एकमात्र यह भावना प्रचलित है कि शिक्षण मानी 'सजा'। बच्चा ज्यों ही कुछ जिन्दादिली या स्वतंत्र प्रवृत्ति की झलक दिखाने लगता है, त्यों ही घरवाले कहने लगते हैं – ‘इसे अब पाठशाला में बाँध रखना चाहिए।' पाठशाला माने क्या? बाँध

रखने की जगह! अर्थात् इस पवित्र कार्य में हाथ बँटानेवाले शिक्षक हो गये इस सदर जेल के छोटे-बड़े अधिकारी!

शिक्षा का काम

पर यह दोष है किसका? शिक्षणविषयक हमारे जो मत हैं और तदनुसार हमने जिस पद्धति का या पद्धति के अभाव का अवलंबन किया है, उसी का यह दोष है। बच्चे की शिक्षा अनजाने या सहज होनी चाहिए। बचपन में बालक अपनी मातृभाषा जिस सहज-पद्धति से सीखता है, उसकी आगे की शिक्षा भी उसी सहज-पद्धति से होनी चाहिए। नन्हा बच्चा व्याकरण का अर्थ नहीं जानता। पर वह कभी 'माँ आया' नहीं कहता। मतलब यह कि वह व्याकरण समझता है। भले ही उसे 'व्याकरण' शब्द न मालूम हो और व्याकरण की परिभाषा अवगत न हो! पर व्याकरण का मुख्य कार्य सम्पन्न हो चुका!

ध्यान रहे कि साध्य और साधन में उलट-पुलट न हो। साध्य के लिए ही साधन होते हैं, साधन के लिए साध्य नहीं। यही बात तर्क की है। आखिर गौतम के न्यायसूत्र या अरस्तू का तर्कशास्त्र क्यों पढ़ा जाता है? इसीलिए न, कि व्यवस्थित विचार कर पायें, विशुद्ध अनुमान निकाल सकें। दीपक मंद होने लगे, तो बालक को भी यह अनुमान हो सकता है कि ‘बहुधा उसमें तेल नहीं होगा।' उसके मस्तिष्क में सारा तर्क रहता ही है। यह ठीक है कि वह पंचावयव* वाक्यों या 'सिलासिजम' की रचना नहीं कर दिखा सकता, फिर भी छात्रों में तर्क-शक्ति मूलत: ही रहती है। शिक्षा का इतना ही काम है कि तर्क-शक्ति को बार-बार खाद्य मिलने के अवसर ला दिये जायें। सभी शास्त्र, सभी कलाएँ, सभी सद्गुण, बीजरूप से मानव में स्वयंसिद्ध ही हैं। दीखता नहीं, इसलिए है ही नहीं, ऐसी बात नहीं।

रूसो का विचार-दोष

किन्तु कई बार ऐसा दीखता है कि रूसो को यह मत पसन्द नहीं है। कारण, वह कभी-कभी इस तरह की भी भाषा का प्रयोग करता रहता है कि मानव स्वभावत: दुर्बल और अनीतिमान है। शिक्षा से उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। मूलत: वह पशु है, पंर उसे मनुष्य बनाना है।

पापोऽहं पापकार्माऽहं पापात्मा पापसंभव:—मैं पाप हूँ, पाप करनेवाला हूँ, पापत्मा हूँ और पाप से पैदा हुआ हूँ - यह उसका पूर्वरूप है। उसका उत्तररूप शिक्षा से उत्पन्न होनेवाला है। ऐसी भाषा उसने कहीं-कहीं लिखी है। इसके विरोधी वाक्य भी उसके ग्रंथ में न पाये जाते हों, यह बात भी नहीं। इसलिए 'उसका यही मत है" ऐसा कहना कठिन है।

फिर भी उसका यही मत हो, तो उसमें उसका अपना दोष नहीं, बल्कि समय और परिस्थिति का वह दोष है, यह कहने की गुंजाइश है। स्वतंत्र बुद्धिमान लोग भी, यदि 'परिस्थिति के गुलाम' न कहे जायें, तो भी परिस्थिति से बने हुए रहते ही हैं। फिर रूसो के समय फ्रांस की स्थिति कितनी भीषण थी! आज भारत में जिस तरह इकतीस करोड़ जन्तुओं का भीषण दृश्य दीखता है, फ्रांस की भी उस समय ऐसी ही स्थिति थी। फलत: रूसो जैसे ज्वालामुखी, उग्र और भीषण तड़पन रखनेवाले मानव का भावनामय, विकारी हृदय यदि मानव-जाति के तिरस्कार से भर गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही उसे चिढ़ हो आती, उसका खून खौल उठता और चित्तवृत्ति काबू के बाहर हो जाती थी! ऐसी स्थिति में मानव-जाति के तिरस्कार से उसका यह मत बन गया हो कि 'मानव एक जानवर है और शिक्षा से थोड़ा-बहुत आदमी बनता है', तो उसका मतलब यह भलीभाँति समझ सकते हैं। पर रूसो के बारे में हमें कितनी भी सहानुभूति क्यों न हो, उसका ऐसा मत, फिर वह किसी भी या कैसी भी स्थिति में क्यों न कहा गया हो, निःसंदेह अनुचित है।

मानव स्वाभावतः दुष्ट नहीं

मानव को स्वभावत: दुष्ट मानने में निखिल मानव-जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी उसमें कमाल का है। मानव मूलतः दुष्ट हो, तो शिक्षा की कोई आशा नहीं रह जाती। चूँकि तार्किक दृष्टि से किसी वस्तु से उसका स्वभाव सदा के लिए अलग कर देना असम्भव है, इसलिए यदि मानव-स्वभाव मूलतः दुष्ट हो, तो उसके सुधार के सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होकर निराशावाद का और साथ ही पाशविक वृत्ति का साम्राज्य शुरू हो जायेगा। कारण, शिक्षण की आशा समाप्त होने का अर्थ ही है, दंड-राज्य की स्थापना।

आजकल कितने ही लोग आवेश में कहते हैं कि 'हम लोगों का ब्रिटिश सरकार पर से सदा के लिए विश्वास उठ गया है।' सद्भाग्य से उनका यह कहना केवल आवेश का ही होता है। यदि वह सच होता, तो किसी भी शान्तिमय आन्दोलन का मतलब 'निराशा का कर्मयोग' मात्र रह जाता। स्वावलम्बन की दृष्टि से यह कहना ठीक है कि 'सरकार पर विश्वास करने से काम नहीं हो सकता' पर यदि इसका अर्थ यह हो कि हमारा दृढ़ विश्वास हो गया कि 'अग्रेजों के हृदय नहीं, उनमें कभी भी सुधार हो नहीं सकता', तो अहिंसात्मक आन्दोलन का अर्थ - लाइलाज का इलाज होगा। 'प्रत्येक मानव में आत्मा है' यही मौलिक कल्पना सत्याग्रह या शिक्षा का मुख्य आधार है। जिस तरह शत्रुओं के आत्मा न होने का निश्चय होने पर सत्याग्रह मर जायेगा, ठीक उसी तरह मनुष्य के स्वभावत: दुष्ट होने पर शिक्षा की भी अधिकांश आशा नष्ट हो जायेगी। फिर 'छड़ी लागे छम्-छम् विद्या आये घम्-घम्' यही एक वाक्य शिक्षा का यथार्थ सूत्र निश्चित होगा। इसलिए विचारशील तत्त्वज्ञों एवं शिक्षाविदों का यही सुनिश्चित निर्णय है कि मानवीय मन में पूर्णता के सभी तत्त्व बीजरूप से स्वतःसिद्ध हैं ।

सहज-शिक्षा ही सच्ची शिक्षा

यह शास्त्रीय सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर जिस तरह आज की हास्यास्पद शिक्षा-पद्धति गलत सिद्ध होती है, उसी तरह 'शिक्षा का कार्य सुयोग्य नागरिक बनाना है', ऐसे आत्मसंभावित सिद्धान्त भी निराधार सिद्ध होते हैं। मानवीय मूर्खता की यह महिमा देखिए कि हम बच्चों को कुछ शिक्षा देते हैं, बच्चों के मन पर किसी का तो भी प्रभाव पड़ता है और हम उस प्रभाव और अपनी शिक्षा का समीकरण कर **अस्माकमेवायं विजय**:—यह हमारी ही विजय है, **अस्माकमेवायं महिमा**—हमारी ही यह महिमा है, ऐसा कहकर नाच उठते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि शिक्षा देने की पद्धति ऐसी हो कि छात्रों में यह भावना ही उत्पन्न न हो कि 'हम शिक्षा पा रहे हैं।' ऐसा होने के लिए, उसी के साथ-साथ शिक्षक के मन में भी गुरुत्व की यह अस्पष्ट भावना भी न रहे कि 'मैं छात्रों को शिक्षा दे रहा हूँ।' गुरु के स्वयं अनन्य और सहज शिक्षक हुए बगैर छात्रों को सहज-शिक्षण मिल नहीं सकता।

जब आपसे यह कहा जाता है कि 'हम फ्रोबेल, पेस्टॉलॉजी या मॉण्टेसरी की पद्धति से शिक्षा दे रहे हैं', तो आप खुशी से यह समझ लें कि यह केवल वाणी का श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, तो यह भी किसी पद्धति की अर्थशून्य नकल है, यह प्रेत है, इसमें प्राण नहीं है। शिक्षण यानी बीजगणित का कोई फार्मूला (सूत्र) नहीं कि उसे लगाते ही उत्तर तैयार! आज दी जानेवाली शिक्षा, शिक्षा ही नहीं है और न उसे देने की वर्तमान पद्धति की वास्तविक पद्धति है। ‘जो अन्दर है, वह सहजभाव से प्रकट होता है’ - इस प्रकार जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है।

शिक्षा का अनिर्वचनीय स्वरूप

यह सहज-शिक्षण 'सदोषमपि’ (सदोष होने पर भी) चल सकता है, पर विशिष्ट पद्धति के गुलामों द्वारा, व्यवस्थित ढंग से मिलनेवाला अज्ञान कत्तई नहीं चाहिए। कारण, आखिर शास्त्र, शास्त्र यानी क्या? शास्त्र यानी व्यवस्थित अज्ञान। इसके सिवा शास्त्र का क्या कोई और अर्थ है? शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेन्सर शिक्षा-शास्त्र के बारे में लिखता है कि 'शिक्षा से अलौकिक व्यक्ति निर्माण नहीं होते।' फिर ऐसे शास्त्रों को शास्त्र की दृष्टि से कितनी कीमत दी जा सकेगी? वास्तव में तो शास्त्र की यह प्रतिज्ञा होनी चाहिए—**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत**—अर्जुन! इसे जानकर बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाओगे। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर पाता, वह शास्त्र यानी लोगों की आँखों में धूल झोंकने का सुव्यवस्थित प्रयास है। शेक्सपियर ने किस नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था? क्या कोई अलंकारशास्त्र के नियम रटकर कभी प्रतिभावान कवि या काव्य-रसिक बना है? 'शास्त्र', ‘पद्धति का शब्द-सृष्टि से अधिक कुछ भी अर्थ या महत्त्व नहीं। यह केवल भ्रम है। **यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि**, भर्तृहरि का यह बड़ा ही मार्मिक वचन है कि श्रेष्ठ पुरुषों की स्वैर कथाएँ ही शास्त्र है। यहाँ भी ठीक वही लागू होता है।

‘जो बिना किसी पद्धति के पद्धतियुक्त या व्यवस्थित बनता है, जिसे कोई भी गुरु दे नहीं सकता, फिरं भी जो दिया जाता है’—ऐसा शिक्षा का अनिर्वचनीय स्वरूप है। इसीलिए दिव्यदृष्टिसंपन्न महात्माओं ने यही उद्गार व्यक्त किये कि शिक्षा कैसे दी जाये, यह हम नहीं जानते—**न विजानीमः** (केन)। शिक्षा-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक—ये सब अर्थशून्य शब्द हैं। इनमें सिवा आत्मवंचना के और कुछ नहीं है। जीने की क्रियाओं में ही शिक्षा मिलनी चाहिए।

जब जीने की क्रिया से भिन्न ‘शिक्षण’ नाम की कोई स्वतंत्र क्रिया बन जाती है, तब किसी विजातीय द्रव्य शरीर में प्रविष्ट होने पर संभाव्य दुष्परिणाम की तरह, शिक्षा का भी मन पर विषैला और रोगयुक्त प्रभाव पड़ता है। कर्म की कसरत किये बगैर ज्ञान की भूख नहीं लगती और वैसी स्थिति में जो ज्ञान विजातीयरूप से भीतर घुस पड़ता है, पचनेद्रियों में उसे पचाने की ताकत नहीं रहती। अगर केवल पुस्तकें मस्तिष्क में ठूँसने से मानव ज्ञानी बनता, तो लायब्रेरी की आलमारियाँ ज्ञानी बन जातीं। जबरदस्ती ठूँसे हुए ज्ञान से तो अपचन होकर ‘बौद्धिक पेचिश' शुरू होती है और मानव की ‘नैतिक मृत्यु' होती है।

शिक्षक शिक्षा देता नहीं, उससे शिक्षा मिलती है। सूर्य प्रकाश देता नहीं, उससे सहज ही प्रकाश मिलता है। इस अभावात्मक कर्भयोग को गीता ने ‘सहज कर्म' कहा है और मनु ने इसी सहजकर्म को ‘निवृत्त कर्म’ ऐसी सुन्दर संज्ञा दी है। ‘निवृत्त शिक्षण' यह संज्ञा उसी आधार पर बनायी है। ऐसा निवृत्त शिक्षण देनेवाले आचार्य ही समाज के गुरु हैं, वे ही समाज के पिता हैं। बाकी वेतनभोगी गुरु, गुरु नहीं हैं और जन्म हेतु पिता, पिता नहीं हैं, ऐसे गुरुओं के चरणों में बैठकर जिन्हें शिक्षा मिली वे ही **मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्** इस गौरव के पात्र हैं। बाकी सारे अनाथ बच्चे हैं, अशिक्षित हैं। ऐसी उदार शिक्षा पाने का भाग्य कितनों को मिलता है?

---

*न्यायशास्त्र में निम्नलिखित पाँच अवयवों से युक्त वाक्यों का प्रयोग किया जाता है –
१. प्रतिज्ञा २. हेतु ३. उदाहरण ४. उपनय और ५. निगमन। जैसे, ‘पर्वत अग्निमान् है धुआँ होने से, जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग रहती है यथा रसोईघर।' यह पर्वत कभी आग को छोड़कर न रहनेवाले धुएँ से युक्त हैं, इसलिए यह पर्वत अग्निमान् है।

४. पूर्णात् पूर्णम्

पूर्ण में से ही पूर्ण

श्रुति का वचन है—**पूर्णात् पूर्णमुदच्यते**। पूर्ण से पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास का नियम है। इसका अर्थ क्या? अगर पहले भी पूर्ण और पीछे भी पूर्ण, तो 'विकास' किसका? अपूर्ण से पूर्ण कहा जाये, तो 'विकास' समझ में आता है। पर ‘पूर्णात् पूर्ण', यह भाषा ही अर्थशून्य प्रतीत होती है।

छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण

अवश्य ही यह भाषा अर्थशून्य प्रतित होता है, पर इसमें गम्भीर अर्थ निहित है। पूर्ण से पूर्ण यानी छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण। नवजात शिक्षु भी पूर्ण है और बीस वर्ष का युवक भी पूर्ण है। पहला छोटे पूर्ण का उदाहरण है और दूसरा बड़े पूर्ण का। बालक को एक आँख थी या आधी नाक थी और युवक को दो आँखें या पूरी नाक हो गयी, ऐसी बात नहीं। दोनों को दो आँखें और उन दोनों के बीच एक नाक होती है। दोनों ही पूर्ण हैं। अन्तर यही है कि एक छोटा पूर्ण है और दूसरा बड़ा पूर्ण।

दो इंच की सुरेखा भी पूर्ण है चार इंच की सुरेखा भी पूर्ण सुरेखा होती है। पहली छोटी और दूसरी बड़ी। दो इंच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है और चार इंच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है। पहला छोटा है, दूसरा बड़ा। श्याम-पट्ट पर अंकित आँवले के बराबर जो शून्य था, वह खुर्दबीन से कोहड़े के बराबर दिखायी देने लगा। यानी खुर्दबीन ने क्या किया? कैसा 'विकास' किया? क्या उसने अपूर्ण शून्य को पूर्ण शून्य बना दिया? या छोटे पूर्ण शून्य को बड़ा पूर्ण शून्य बना दिया? खुर्दबीन ने क्या ऐसा कुछ किया कि जो शून्य आँवले के बराबर था, उसे कोहड़े के बराबर शून्य बना दिया?

छोटे शून्य से बड़ा शून्य

और सचमुच शिक्षण-शास्त्र इससे अधिक कुछ भी नहीं कर सकता। शिक्षण-शास्त्र की व्याख्या ही करनी हो, तो 'आँवले के बराबर शून्य से कोहड़े के बराबर शूत्य' यह व्याख्या आप खुशी से करें। शिक्षण द्वारा आँवले से कोहड़ा बन जायेगा, या समर्थ रामदास स्वामी की भाषा में 'मूर्ख' से 'पठित मूर्ख' अथवा अधिक-से-अधिक, अधकचरे सयाने से डेढ़ सयाना (फाजिल सयाना या मूर्ख) बनेगा। पर यह विनोद छोड़कर उसका भाव ग्रहण किया जाये, तो यह ध्यान में आयेगा कि किस तरह 'पूर्ण से पूर्ण' नैसर्गिक विकास का सूत्र है।

अस्पष्ट से स्पष्ट

सुबह पाँच बजे सामने का पेड़ मुझे धुँधला दीख रहा है। दीखता तो है पूरा, पर है अस्पष्ट। साढ़े पाँच बजे थोड़ा स्पष्ट दीखने लगता है। उस समय भी पहले जैसा ही वह पूरा दीखता है, पर थोड़ा स्पष्ट है। सूर्योदय के बाद भी पूरा पेड़ दीखता है, पर अत्यन्त स्पष्ट। यह नहीं होता कि पाँच बजे चौथाई पेड़ दिखायी पड़े, साढ़े पाँच बजे आधा और सूर्योदय के बाद पूरा। तीनों दफा वह दीखा तो पूरा ही, वह पहली दफा में अस्पष्ट सम्पूर्ण, दूसरी दफा में स्पष्ट सम्पूर्ण और तीसरी दफा में अतिस्पष्ट सम्पूर्ण। अस्पष्ट, स्पष्ट और अतिस्पष्ट, यह विकास सूर्य-प्रकाश ने किया। पर तीनों दफा वह विकास सम्पूर्ण का ही किया। इस तरह छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण, अस्पष्ट पूर्ण से स्पष्ट पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास है।

अपूर्ण से पूर्ण और पूर्ण से पूर्ण का अन्तर

'अपूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है और 'पूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है, यह समझने के लिए एक दृष्टांत देखें। मान लीजिए, हम लोग समुद्र के किनारे खड़े हैं। हमें इस समय समुद्र में जहाज वगैरह कुछ भी दिखायी नहीं देता। थोड़ी देर में एक जहाज दीखने लगता है। यानी जहाज का सिर्फ ऊपरी सिरा दीखने लगता है। थोड़ी देर बाद बिचला भाग दीखने लगता है और फिर पूरा जहाज ही दीखने लगता है। अब वह सम्पूर्ण तो दीखता है, पर दूर होने के कारण अस्पष्ट है। इसके बाद जैसे-जैसे वह पास आने लगा, वैसे-वैसे अधिक स्पष्ट दीखने लगता है। पहले क्षण में जहाज का जो दर्शन हुआ, तब से लेकर सम्पूर्ण जहाज दीखने तक के दर्शन को हम 'अपूर्ण से पूर्ण' कहेंगे और बाद के दर्शन को 'पूर्ण से पूर्ण'।

भूगोल-शिक्षा का दृष्टान्त

एक शिक्षक छात्रों को हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा था। उसने पहले बच्चों को पूरे हिन्दुस्तान का नक्शा दिखलाया। फिर उन्हें विभिन्न प्रान्त बताये, फिर सभी प्रांतों की नदियाँ दिखलायीं। इसके बाद सभी प्रांतों के ऐतिहासिक, धार्मिक, व्यावसायिक महत्त्व के स्थान दिखलाये और इसी तरह सूक्ष्म-सूक्ष्म जानकारी कराता गया। यह शिक्षक छात्रों के ज्ञान को 'पूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

दूसरा एक शिक्षक इसी तरह छात्रों को हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ा-रहा है। पर पहले उसने छात्रों को एक जिले की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करा दी। फिर दूसरे जिले की। इस तरह करते-करते एक प्रांत की जानकारी करा दी। अब इन छात्रों को एक प्रांत की सूक्ष्मतम जानकारी हासिल हो गयी। किन्तु अन्य प्रांतों के बारे में वे शून्य रहे। आगे चलकर शिक्षक ने इसी क्रम से अन्य प्रांतों की भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करायी। अंततः छात्रों को पूरे हिन्दुस्तान की जानकारी हो गयी। हिन्दुस्तान का भूगोल पढ़ाने के बारे में ही कहें, तो कहा जा सकता है कि यह शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान को 'अपूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

पूर्ण से पूर्ण की ओर, आत्मविकास का सनातन सूत्र है। किसी भी आत्मवान वस्तु के विकास में यही सूत्र लागू होता है।

शिल्प-कला का दृष्टान्त

'क्ले मॉडलिंग (मिट्टी की मूर्तियाँ आदि बनाने की कला) सम्बन्धी एक पुस्तक में मूर्ति को अपूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति का स्पस्ट निषेध किया गया है। उक्त पुस्तक में लेखक ने अपना अनुभव देते हुए लिखा है कि 'आरम्भ में मिट्टी का चाहे जैसा आकार बनायें, पर अन्त में अभीष्ट आकार प्राप्त हो जाये, तो ठीक', इस भावना से कभी काम न करें। बल्कि इस ढंग से निमार्ण- कार्य करें कि आदि से लेकर अन्त तक किसी भी समय कोई उसे देखे, तो वह समझ जाये कि क्या चल रहा है। ऐसा होने पर ही मूर्ति में कला का संचार होता है। नहीं तो बहुत-से कलाकार यह कहते पाये जाते हैं कि अभी क्या देख रहे हैं, पूरा होगा, तब देखना। शुरू में ऊटपटांग बनाते चलें और बाद में उसे सुधारने बैठें! इस तरह की धाँधली से कला सध नहीं सकती। कला है आत्मा का अमर अंश। इसीलिए आत्मविकास के सूत्र 'पूर्ण से पूर्ण' को लेकर ही कला का जन्म संभव है।

राष्ट्र-निर्माण बहुत ही बड़ी कला है। 'पूर्णात् पूर्णम्' सूत्र पकड़कर उसकी रचना की जाये, तभी वह सध सकेगा।

५. साक्षर या सार्थक

किसी आदमी के घर में यदि बहुत-सी शीशियाँ भरी रखी हों, तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसी के घर में बहुत-सी पोथियाँ पड़ी देखें, तो हम उसे सयाना समझेंगे। क्या यह अन्याय नहीं है? आरोग्य का पहला नियम यह है कि अनिवार्य हुए बिना शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहाँ तक सम्भव हो, पोथी में आँखें न गड़ाना या यों कहिए, आँखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन का पहला नियम है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी, फिर चाहे वह सांसारिक पोथी हो या पारमार्थिक, रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।

'सु' से 'अ' अच्छा

सदियाँ बीत गयीं, जिनके सयानेपन की सुगन्ध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगों का ध्यान जीवन को साक्षर करने के बजाय, सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में बिना ढूँढे मिल जायेंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी अत्यंत सार्थक हो सकता है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे हैं। बहुत बार 'सु' शिक्षित और ‘अ’ शिक्षित के जीवन की तुलना करने पर **अक्षराणामकारोऽस्मि** गीता के इस वचन में कहे अनुसार, ‘सु’ के बजाय ‘अ' ही पसन्द करने लायक जान पड़ता है।

सच्चा ज्ञान सृष्टि में

पुस्तक में अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तक की संगति से जीवन को सार्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। ‘बातों की कढ़ी और बातों का ही भात खाकर किसी का पेट भरा है?’ यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथनानुसार पोथी का कुआँ डुबाता भी नहीं और पोथी की नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' यानी ‘घोड़ा’ में यह कोश में लिखा है। लड़कों को लगता है कि 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में दिया है। पर वह सही नहीं है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले में बँधा खड़ा है। उसका कोश में समाना संभव नहीं। ‘अश्व' यानी 'घोड़ा', यह कोश का वाक्य केवल इतना ही बतलाता है कि 'अश्व' शब्द का वही अर्थ है, जो 'घोड़ा' शब्द का है। वह है क्या, सो तबेले में

जाकर देखो। कोश में सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नहीं रहता, अर्थ तो सृष्टि में रहता है। जब यह बात समझ में आयेगी, तभी सच्चे ज्ञान का चस्का लगेगा।

दो अक्षरों की सार्थकता

जिसने जप की कल्पना ढूँढ़ निकाली, उसका एक उद्देश्य था- साक्षरत्व को संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिल्कुल भूँकने ही लगा है' यह देखकर 'उसके मुँह पर जप का टुकड़ा फेंक दिया जाये', तो बेचारे का भूँकना बन्द हो जायेगा और जीवन को सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मिलेगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने 'शतकोटि रामायण' लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न देखकर, शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनों को तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बाँट दिये। एक करोड़ बचे। फिर तैंतीस-तैंतीस लाख बाँट दिये। एक लाख बचा। यों उत्तरोत्तर बाँटते-बाँटते अन्त में एक श्लोक बाकी रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप् छंद में हैं। अनुष्टुप छंद में अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनों को बाँट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजी ने वे दो अक्षर बँटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में समाप्त कर दिया। तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी साहित्य का सारा सार रामनाम में ला रखा है। पर **अभाग्या नरा पामरा हें कळे ना—** अभागे पामर नर को यह समझता नहीं।

अक्षर घोखना व्यर्थ

संतों ने रामायण को दो अक्षरों में समाप्त किया। ऋषियों ने वेदों को एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती, तो 'ॐकार' का जप करो, बस। इतने से काम न चले, तो नन्हा-सा माण्डूक्य उपनिषद पढ़ो। फिर भी इच्छा रह जाये, तो 'दशोपनिषद' देखो। इस आशय का एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद में आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना भी नहीं है कि एक अक्षर का जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वेदों के अक्षर पोथी में मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना होता है।

तुकाराम का कहना है कि संस्कृत सीखे बिना ही उन्हें वेदों का अर्थ आ गया था। इस कथन को आज तक किसी ने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्य ने आठवें वर्ष में वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इस पर किसी शिष्य ने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरु से पूछा—"महाराज, आठ वर्ष की उम्र में आचार्य ने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरु ने गंभीरता से उत्तर दिया—"आचार्य की बुद्धि बचपन में उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसी से उन्हें आठ वर्ष लगे।''

ठोकर खाने का स्वातंत्र्य

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योंकि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया'। अंत में किसी की सलाह से उसने खेत में काम करना शुरू किया। उससे निरोग होकर थोड़े ही दिनों में वह हृदय-पुष्ट हो गया। अनुभव से सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगों को बतलाने लगा। किसी के हाथ में शीशी देखते ही वह बड़े मनोभाव से उसे उपदेश देता, "शीशी से कुछ होने-जाने का नहीं, हाथ में कुदाल लो, तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियाँ पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो!" दुनिया का ऐसा ही हाल है। दूसरे के अनुभव से कुछ सीखने की मनुष्य को इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए। स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं ठीक कहता हूँ कि "पोथियों से कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियों में न उलझो।" तो वह कहता है, "हाँ, तुम तो पोथियाँ पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो?" "हाँ, मैं पोथियाँ पढ़ 'चूका', पर तुम न 'चूको', इसलिए कहता हूँ।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए।" "ठीक है, लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहास के अनुभव से हम सबक नहीं लेते, इसी से इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की कद्र करें, तो इतिहास से आगे बढ़ जायें। इतिहास की कीमत न लगाने से उसकी कीमत नाहक बढ़ गयी है। पर उसकी ओर ध्यान जाये तब न!

अशिक्षित कौन है?

आजकल यह होता है कि मामूली मैट्रिक पास हुआ लड़का उत्तम बढ़ई को भी बेवकूफ समझता है। वह उसके घर जाता है और कहता है कि 'मेरे घर में काम है, तेरी मजदूरी क्या

होगी?” तो यह उसको, ‘तेरी' मजदूरी पूछता है? “आपकी मजदूरी क्या है जी?”—ऐसा नहीं पूछता। इतना ज्ञानी कारीगर जो देश की सेवा करता है, और अनुभवी पुरुष है, उसे ‘तू’ कहा जाता है, सिर्फ इसी आधार पर कि वह पढ़ना-लिखना नहीं जानता।

भगवान के दर्शन

मुहम्मद पैगम्बर की एक सुन्दर कहानी है। एक दफा वे ध्यान-समाधि में मग्न थे। वे ईश्वर का दर्शन चाहते थे, तो ईश्वर ने उन्हें एक पत्र लिखकर दिया। मुहम्मद पैगम्बर पढ़ना नहीं जानते थे, इसलिए उन्होंने परमेश्वर से प्रार्थना की कि मैं अपढ़ मनुष्य हूँ, इसलिए मुझे आपके दर्शन चाहिए। फिर ईश्वर ने स्वयं आकर उन्हें दर्शन दिये। उसके बाद मुहम्मद पैगम्बर लोगों को यह कहानी सुनाकर कहते थे कि अगर मैं पढ़ा-लिखा होता, तो मुझे ईश्वर का दर्शन नहीं मिलता, सिर्फ ईश्वर का पत्र ही देखने को मिलता। मैं पढ़ा-लिखा नहीं था, इसीलिए मुझे ईश्वर के दर्शन हुए। किसान खेतों में खुद मेहनत करते हैं, अच्छी तरह हल चलाकर खेतों को तैयार करते हैं, उस पर सूर्यनारायण की धूप पड़ती है। और फिर जब बारिश गिरती है, तब साक्षात् भगवान दर्शन के लिए ही नहीं, बल्कि स्पर्श के लिए आये हैं, ऐसा उनको भास होता है। परन्तु यह दर्शन जिन्हें नहीं होता, वे शिक्षित कहलाते हैं, ऐसे शिक्षितों से भगवान हमको बचाये!

यह कैसा प्रौढ़ शिक्षण?

साक्षरता बढ़ाने के खयाल से ५०-६० साल के वृद्ध को भी क, का, कि, की सिखाना शुरू हुआ है। अब यह सीखकर क्या वह मुक्ति पायेगा? परन्तु यह इसलिए करते हैं कि सरकार कह सके कि हमने इतने लोगों को शिक्षित बनाया। मुझे ऐसे लोग मालूम हैं जो मैट्रिक तक पढे हैं, परन्तु उनको ए, बी, सी, डी यानी स्वर्ग की सीढ़ी, इतना ही याद रहा है, बाकी सब कुछ भूल गये हैं। उनको उस विद्या का कोई उपयोग ही नहीं।

६. त्रिसूत्री शिक्षा-योग, उद्योग, सहयोग

शिक्षण में तीन चीजें सीखनी चाहिए। एक है योग, दूसरा उद्योग और तीसरा सहयोग। ये शिक्षा के मुख्य तीन विषय हैं।

योग यानी स्थित-प्रज्ञा

योग का अर्थ आसन लगाना, व्यायाम करना यह नहीं है। योग यानी चित्त पर अंकुश कैसे रखना, इन्द्रियों पर कैसे सत्ता रखना, मन पर कैसे काबू पाना, जबान पर कैसे सत्ता पाना, यह योग का सच्चा अर्थ है। इन दिनों चित्त पर सत्ता रखना, चित्त अंकुश में रखना, स्थिर रखना, जिसको गीता स्थित-प्रज्ञा कहती है ऐसी स्थित-प्रज्ञा की बहुत आवश्यकता है। पहले कभी जितनी नहीं थी, उतनी आज है। क्यों है? क्योंकि आज रोजमर्रा सैकड़ों घटनाएँ कान पर पड़ती हैं, आँख पर पड़ती हैं। चारों ओर से विचारों का आक्रमण होता है। जितना आक्रमण मनुष्य के दिमाग पर आज हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं होता था। क्योंकि साइन्स का जमाना आया है। ऐसी हालत में चित्त को शान्त रखना, स्थिर रखना, काबू में रखना अत्यंत महत्त्व का विषय है। इस वास्ते स्थित-प्रज्ञा की आज जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। तो प्रज्ञा स्थिर करना योग का मुख्य विषय है।

सेक्युलॅरिजम का गलत अर्थ

उसके लिए कुछ आध्यात्मिक ग्रंथों की मदद हो सकती है। लेकिन हम लोगों में 'सेक्युलॅरिजम' के नाम से एक गलत विचार पैठ गया है। 'सेक्युलॅरिजम' का अर्थ वास्तव में, गांधीजी की भाषा इस्तेमाल करूं तो 'सर्व-धर्म-समभाव' है। परन्तु 'सेक्युलॅरिजम के अर्थ हमने समझ लिया है 'सर्व-धर्म-सम-अभाव' !अब परिणाम उसका यह है कि आध्यात्मिक ग्रंथों का विद्यार्थियों को स्पर्श होने नहीं देते। लेकिन इनकी लाचारी है कुछ! क्या लाचारी है? हमारे जो आध्यात्मिक ग्रंथकार हो गये, उनमें से कुछ दुर्दैव से यानी इन सेक्युलॅरिस्ट लोगों के दुर्दैव से साहित्यिक भी थे। इस वास्ते साहित्य की दृष्टि से उनके साहित्य का कुछ 'पीस' (छोटा हिस्सा) रखना ही पड़ता है। उसे कहते हैं, 'पीस' (टुकड़ा) ! अब, बी. ए, तक सीख लिये और ज्ञानेश्वरी से सम्बन्ध नहीं तो कैसे चलेगा? इस वास्ते ज्ञानेश्वी का एक-छोटा-सा अध्याय रख लेते हैं बी. ए. में! ऐसा इन लोगों का - सेक्युलॉरिस्ट लोगों का ज्ञानैश्वर्य है! जिस ग्रन्थ से महाराष्ट्र का हृदय बना, उस ग्रन्थ का परिचय न हो ऐसी कोशिश करते हैं और लाचारी से साहित्य के तौर पर कुछ 'पीस' रख लेते हैं। यही हाल तुलसीदासजी के हैं!

यह ठीक है कि इन ग्रन्थों में ऐसी कुछ चीजें हैं, जो इस जमाने के खयाल से 'आउटडेटेड' (कालबाह्य) हैं। तो उतना अंश निकालना होगा। ऐसी कोशिश बाबा ने की है। बाबा ने कई धर्मग्रन्थों का उत्तम अंश निकालकर लोगों के सामने रखा है। जैसे कुरान-सार है, ख्रिस्तधर्म-सार है, भागवतधर्म-सार है, मनुशासनम् है, इत्यादि। उससे पुराने ग्रन्थों के गलत विचारों से हम बचेंगे और जो अच्छे विचार हैं, उनको ग्रहण करेंगे।

पुराने ग्रन्थों की पोटेन्सी बढ़ी हुई है

हमारे सामने सवाल यह है कि पुराने जमाने के लोगों के आध्यात्मिक विचार रखें, इसकी जरूरत क्या है? आधुनिक जमाने के विद्वानों की किताबें रखने के बजाय पुराने ग्रन्थकारों के विचार रखें जायें? इसका उत्तर है, जैसे होमियोपैथी में घोटने से पोटेन्सी (शक्ति) बढ़ती है वैसे जो प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, उनकी पोटेन्सी बढ़ी हुई होती है। आज तक लाखों लोगों ने, अनेक महापुरुषों ने पढ़-पढ़कर उन्हें घोटा है। इस वास्ते उन ग्रन्थों की पोटेन्सी बढ़ी है।

मुझे किसी ने कहा था, आप रोज विष्णुसहस्त्रनाम पढ़ते हैं, आप तो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं, पुराना बहुत कुछ पढ़ चुके हैं, तो आप ही नया विष्णुसहस्त्रनाम क्यों नहीं बनाते? मैंने कहा, मैं अगर नया विष्णुसहस्त्रनाम बनाने बैठूँ तो वह पुराने विष्णुसहस्त्रनाम से नि:संशय अच्छा होगा - साहित्यिक दृष्टि से। क्योंकि पुराना अनुभव तो मेरे पास है ही, अलावा नयी बुद्धि उसमें जोड़ दूँगा। लेकिन वह पुराना विष्णुसहस्त्रनाम पाँच हजार साल से घोटा हुआ है। इस वास्ते उसकी पोटेन्सी बढ़ गयी है। वह असम से केरल और सौराष्ट्र तक पहुँचा है। हिन्दुस्तान के त्रिकोण में विष्णुसहस्त्रनाम चलता है। तो जो पोटेन्सी वेद की है, कुरान की है, बाइबिल की है, ज्ञानेश्वरी की है, तुलसीदास की है वह पोटेन्सी हमारे आज के विद्वानों के ग्रन्थों में नहीं हो सकती, अगरचे विद्वानों के ग्रन्थ अच्छे भी होंगे। इस वास्ते पुराने ग्रन्थों का विद्यार्थियों को स्पर्श होना चाहिए।

पुराने ग्रन्थ कालपुरुष की परीक्षा में भी खरे उतरे हैं

दूसरी भी एक बात है। कालपुरुष परीक्षा करता है। कालपुरुष की परीक्षा में जो निकम्मी चीज है, वह पचास साल में, सौ-दो-सौ साल में गिर जाती है। और जो अत्यन्त उत्तम है, वह

कालपुरुष की परीक्षा में टिकती है। ऐसी परीक्षा वेद की हो गयी। दस-बारह हजार साल से कालपुरुष ने उसकी परीक्षा की। अगर वह चीज काम की नहीं होती, तो दस-बारह हजार साल टिकती नहीं! आज के हमारे ग्रन्थों में से कितने ग्रन्थ सौ साल के बाद पढ़े जायेंगे?

लोकमान्य तिलक की 'केसरी'। हमारे बचपन में हम हर हफ्ते राह देखते थे कि केसरी कब आयेगा और कब पढ़ेंगे! आज क्या हाल है? पचास साल हो गये उनको। उनके लेखों में से एक भी पढ़ा नहीं जाता। वे केवल गीतारहस्य के कारण जीवित हैं। गांधीजी की हालत यही होनेवाली है। आपको विश्वास है क्या कि गांधीजी के इतने पत्र, लेख हम छापते हैं, वे सौ साल के बाद लोग पढ़ेंगे? बहुत-सा कालबाह्य हो जायेगा।

यह आपको इसलिए कहा कि जिन ग्रन्थों की काल ने परीक्षा की और जो ग्रन्थ हजार-हजार, पाँच-पाँच, दस-दस हजार साल की परीक्षा में बचे हैं। जिनकी परीक्षा हो चुकी है उन ग्रन्थों की हमको मदद लेनी पड़ती है, इतनी अक्ल हमको सेक्युलॅरिजम में होनी चाहिए।

उद्योग

शिक्षा का दुसरा विषय है उद्योग। शिक्षा में मुख्य दृष्टि गुणविकास की होनी चाहिए। परन्तु बिना उद्योग के न गुणविकास होता है, न गुणों की परख होती है। उद्योग शब्द का उत् + योग यानी ऊँचा योग ऐसा अर्थ है।

उयोग में केवल चरखा हो या तकली हो, यह मेरा विचार नहीं। आधुनिक यंत्र भी हो, वर्कशॉप भी हो। लेकिन कुछ भी हो, खेती तो होनी ही चाहिए। श्याम हिन्दुस्तान का खास वर्ण है। हम श्यामवर्ण के लोग हैं। भगवान कृष्ण का वर्ण श्याम था। श्यामसुन्दर वगैरह शब्द प्रचलित हैं ही। कृष्ण शब्द का अर्थ है किसान, खेती करनेवाला। खेती करनेवाले शरीर का जो रंग होता है वह कृष्ण का वर्ण है। हमारी समाजरचना, शिक्षा की व्यूहरचना ऐसी होनी चाहिए—शहर में विद्यालय हो तो भी—कि विद्यालय के साथ दो-तीन एकड़ का खेत जुड़ा होना ही चाहिए। बच्चों को और शिक्षकों को थोड़ी देर इकट्ठे होकर खेत में काम करना चाहिए।

इस सिलसिले में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने एक वाक्य मुझे कहा था। वह वाक्य एक मंत्र के समान मुझे याद रह गया। उन्होंने अंग्रेजी में कहा था— नेशन्स डिके व्हेन दे लूज कॉन्टैक्ट विथ नेचर (कुदरत के साथ स्पर्श नहीं रहता है तब राष्ट्र क्षीण होते हैं, उनका क्षय होता है, इस वास्ते खेती के साथ, प्रकृति के साथ सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। खेती के साथ हर मनुष्य का सम्बन्ध होना ही चाहिए, यह मेरा आग्रह है उद्योग में।

सहयोग

तीसरा है सहयोग। इस सहयोग के अन्दर सारा समाजशास्त्र, मानसशास्त्र इत्यादि आ जायेगा। लेकिन मुख्य वस्तु क्या होगी? हमको सबको इकट्ठा जीना है। सहजीवन जीना है। सहजीवन में अनेक भाषाएँ, अनेक प्रान्त, इत्यादि-इत्यादि भेद सब खतम होने चाहिए। कल हमको किसी ने कहा 'हम भारतीय हैं’ ऐसी भावना होनी चाहिए, न कि हम 'महाराष्ट्रीय हैं', ‘गुजराती हैं’, ‘तमिल हैं’ इत्यादि-इत्यादि। मैंने कहा, यह मिनिमम जरूरत है। 'हम भारतीय हैं’, यह सबसे छोटी मांग है। मैक्सिमम (अधिक-से-अधिक) नहीं, और ऑप्टिमम (इष्टतम) भी नहीं। यह कम-से-कम है। वास्तव में जरूरी है **विश्वमानुषः** - हम विश्वमानव हैं।

हम आज गाते हैं भारत के गीत, प्रांतों के गीत। लेकिन वेद में पृथ्वीसूक्त है, भारतसूक्त नहीं। **नाना धर्माणां पृथिवीं विवाचसम्**—यह पृथ्वी, हमारी मातृभूमि इसमें अनेक धर्म हैं और विवाचसम् अनेक वाणियाँ, अनेक भाषाएँ हैं। तो अनेक भाषाओं से भरी और अनेक धर्मों से भरी हमारी यह पृथ्वी! इस वास्ते हमको विश्वमानुष बनना चाहिए। इसी वास्ते बाबा ने उद्घोष निकाला ‘जय जगत्।' ‘जय जगत्' से कम चीज अब नहीं चलेगी। लेकिन अगर मिनिमम, कम-से-कम रखना है तो 'हम भारतीय हैं’, यह ठीक है, माफ है।

सहयोग के लिए जरूरी है भारतीय पागलपन

सहयोग में मानना होगा कि सारी पृथ्वी एक है। पृथ्वी के सारे मानव एक हैं। और केवल मानव ही नहीं, आसपास के पशु, पक्षी, प्राणी, वनस्पति सब एक हैं। वाल्मीकि ने क्रौंच का वध देखा तो कविता स्फुरित हुई। तो आसपास की सृष्टि के साथ भी एकरस होना चाहिए। ये चिड़ियाँ

हैं, सुन्दर गाती हैं, इनकी रक्षा होनी चाहिए। ये कौएँ हैं, इनकी रक्षा होनी चाहिए। ये गायें हैं, इनकी भी रक्षा होनी चाहिए। वटवृक्ष की भी रक्षा होनी चाहिए। तुलसी की भी पूजा होनी चाहिए । यह भारत का पागलपन है। यह भारतीय पागलपन अत्यन्त महत्त्व का है, कि कुल-के-कुल मानव हम हैं और उनके साथ ही आसपास के जो प्राणी हैं, वनस्पति है, सब हम ही हैं। इतनी एकरूपता हमको आसपास की सृष्टि के साथ होनी चाहिए । यह आज के जमाने की, विज्ञान के जमाने की मांग है। क्योंकि विज्ञान ने सबको नजदीक लाया है। इसलिए सहयोग में सबका सहयोग—प्राणियों का, मानवों का, सबका सहयोग अपेक्षित है।

गुण ही गुण देखें

सहयोग के लिए और क्या चाहिए? गुण-ग्रहण करना चाहिए। हम जितने यहाँ हैं उनमें से हरएक में असंख्य दोष और एकआध गुण भगवान ने रखा है। दोष हैं देह के साथ जुड़े हुए और गुण आत्मा के साथ। देह तो जलनेवाली है, मरनेवाली है, तो दोष सारे उसके साथ जल जायेंगे। मनुष्य के जो गुण हैं, वही उसके आत्मा का मुख्य स्वरूप है। इस वास्ते हमेशा गुण-ग्रहण करना चाहिए। इस सिलसिले में माधवदेव का वाक्य प्रसिद्ध है। वे कहते हैं, मनुष्य के चार वर्ग होते हैं- अधम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम! अधम होता है वह केवल दोष लेता है। दूसरों के दोष देखता है। मध्यम गुण-दोष दोनों देखकर विचार करता है। अक्सर राजनीति में लोगों को गुण-दोष, दोनों देखना पड़ता है। वे मध्यम श्रेणी में आ जाते हैं। उत्तम केवल गुण-ग्रहण करता है और उत्तमोत्तम अल्प गुण का विस्तार करता है। किसी में थोड़ा-सा गुण देखा तो पहाड़ जैसा करके देखता है, बढ़ाकर देखता है। इस प्रकार हमको एक-दूसरे के गुण बढ़ाना चाहिए। हमेशा गुणगान ही करना चाहिए। **मेरे राणाजी मैं गोविन्द गुण गाना**—मीराबाई कहती हैं, मुझे केवल गोविन्द के गुण गाना है। गोविन्द हरएक में भरा हुआ है। इसलिए हरएक के गुण गायें। नानक भी यही कहते हैं - **विणु गुण कीते भगति न होइ़** - जब तक गुण-ग्रहण नहीं करते, तब तक आपको भक्ति का स्पर्श नहीं होगा। तो नानक, मीराबाई और माधवदेव की भी यही राय है।

अपने भी गुण गाना और दूसरों के भी गुण गाना। सहयोग के लिए यह गुण-ग्रहण वृत्ति आवश्यक है, लाभदायी है। इसको हमने नाम दिया है गुण-चुम्बक-वृत्ति। मनुष्य में जो गुण-दोष

पड़े होंगे, उनमें से गुण एकदम खींच लेना चाहिए। यह शक्ति हममें हो तो सहयोग अच्छी तरह सधेगा।

७. धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा

धर्म-निरपेक्षता के नाम पर

इन दिनों धर्म-निरपेक्ष राज्य के नाम पर विद्यार्थियों को आध्यात्मिक साहित्य नहीं पढ़ाया जाता। हमारी भाषाओं की अंग्रेजी से तुलना की जाये, तो अंग्रेजी में जो विविध प्रकार का साहित्य है, वैसा साहित्य हमारी भाषाओं में नहीं है। लेकिन हमारी भाषाओं का सर्वोत्तम साहित्य आध्यात्मिक साहित्य है। अगर धर्म-निरपेक्ष राज्य के नाम पर वह कुल-का कुल साहित्य निषिद्ध हो जाये, तो विद्यार्थियों में नैतिकता कैसे पैदा होगी? सिक्खों में करीब-करीब हर लड़का 'जपुजी' पढ़ता है। लेकिन इन दिनों धर्मनिरपेक्ष राज्य के नाम पर 'जपुजी' की तालीम स्कूलों में नहीं दी जायेगी। 'जपुजी' में तो कहा है कि **आई पंथी सगल जमाती**। यानी कुछ दुनिया हमारी ही जमात है। सबके साथ समान भाव रखने की इससे बेहतर तालीम दूसरी क्या होगी? लेकिन इन दिनों स्कूलों में तुलसीदासजी की रामायण भी रामायण के तौर पर नहीं पढ़ायी जायेगी, केवल साहित्य के अंश के तौर पर उसका थोड़ा-सा अंश पढ़ाया जायेगा। जिससे श्रद्धा बन सके, ऐसी कोई चीज नहीं पढ़ायी जाती। रामायण, कुरान, गीता, जपुजी कुछ भी नहीं पढ़ाया जाता है। इस तरह आज की तालीम में आध्यात्मिक चीज नहीं है।

'सेक्युलर' शब्द के कारण बड़े-बड़े लोगों में गलतफहमी होती है। अगर किसी स्कूल में वेद की प्रार्थना होती है तो कहते हैं कि सेक्युलर स्टेट की सरकार में वैदिक मंत्र कैसे पढ़े जा सकते हैं? मैं अलीगढ़ विश्वविद्यालय में गया था। उन लोगों का रिवाज है कि आरम्भ में खड़े होकर 'कुरान' की आयत पढ़ें। जाकिर हुसेन साहब ने मुझसे पूछा, तो मैं बहुत खुशी से खड़ा हो गया। सारा कार्यक्रम बड़े प्रेम से हुआ। लेकिन अगर इस पर कोई कहे कि सेक्युलर स्टेट के विश्वविद्यालय में कुरान की आयतें क्यों पढ़ी जाती हैं, तो यह गलत है। एक विदेशी शब्द के कारण ऐसी गलतफहमी हो रही है।

धार्मिक शिक्षण दिलचस्प विषय है। पर आज ‘धर्म’ शब्द का अर्थ बड़ा ही संकुचित और समाज-भंजक बन गया है। यही कारण है कि विचारशील लोगों का सुझाव पाठशालाओं में धर्म-शिक्षण न देने की पक्ष में है। मेरी दृष्टि से सच्चा धर्म-शिक्षण साहित्य का विषय ही नहीं है। चरित्र-निष्ठा, ईश्वरविषयक श्रद्धा और देह से पृथक् आत्मा का भान, यही धर्म का सार है और वह सत्पुरुषों की संगति से ही मिलता है। इसलिए सुशील शिक्षकों की योजना ही मेरी धर्म-शिक्षण की योजना है।

संतों के वचनों को कंठस्थ करना लाभदायक तो है ही पर उसे मैं धर्म-शिक्षण नहीं कहूँगा। उसे तो विशुद्ध वाङ्‌मय का शिक्षण ही कहूँगा। उसमें भी चुनाव करते समय व्यापक विवेक आवश्यक होगा।

सर्व-धर्म-समभाव की भूमिका का आश्रय ले उन-उन धर्मों के संतों के चरित्र या व्रत, उत्सव आदि चित्त-शुद्धि-साधक योजनाओं के बारे में जानकारी करायी जा सकती है। पर इसे भी मैं धर्म-शिक्षण नहीं कहूँगा। इसे इतिहास और समाज का अध्ययन कहा जा सकेगा।

चित्त-शुद्धि की तनिक भी परवाह न कर, कुछ तांत्रिक आचारों और क्रिया-कलापों से सीधे पुण्य हथियाने की कल्पनाएँ, जो सभी धर्मों में रूढ़ हैं, वे नष्ट होनी ही चाहिए। प्रत्येक बात अनुभव की कसौटी पर कस लेने की आदत बच्चों में डालनी चाहिए। अगर यह सध सके, तो मैं समझूँगा कि सारा धर्म-शिक्षण मिल गया।

प्रश्न : आध्यात्मिक शिक्षण के बारे में मार्गदर्शन दीजिएगा।

उत्तर : शिक्षा में धर्मों का प्रवेश हो, इस दृष्टि से केन्द्र सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी। उसने सिफारिश की है कि शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों को सब धर्मों का सार सिखाया जाये। सेक्युलॅरिजम का अर्थ धर्म-निरपेक्षता नहीं, वास्तव में 'सब धर्मों के लिए समान भाव’ ऐसा उसका भावात्मक अर्थ किया जाना चाहिए। शिक्षा के क्षेत्र से सब धर्मों को हटा देंगे, तो लोग संस्कारी कैसे बनेंगे? मैंने विविध धर्मग्रन्थों में से चयन करके अलग-अलग धर्म-सार निकाले हैं और उन-उन धर्मों के अधिकृत व्यक्तियों से उनका स्वागत भी हुआ है। उन किताबों में से चुनकर दे सकते

हैं। हमने जो लिखा, वह पचीस-तीस वर्षों तक अध्ययन करने के बाद ही लिखा, अपने को उस-उस समाज का सदस्य मानकर लिखा। अधिकारी पुरुषों की टीकाएँ प्राप्त करके स्वयं उनका अध्ययन किया और आवश्यक सुधार करके उन्हें प्रकाशित किया। इसलिए आप लोग बैठिए और इनमें से काम की चीज पसंद कर लीजिए। अब आपको मूल धर्म-ग्रन्थों को उलटने-पलटने की जरूरत नहीं रही।

'धार्मिक शिक्षा' का विषय अत्यंत नाजुक है। यूरोप की हालत हमसे भिन्न है। यूरोप में देश से धर्म बड़ा है, तो यहाँ धर्म से देश बड़ा है। यूरोप में जो छोटे-छोटे राष्ट्र बने हैं, उनका धर्म के नाम पर फेडरेशन बन सकता है। परन्तु यहाँ एक ही देश में अनेक धर्म हैं। इंग्लैण्ड में सेक्युलर (धर्म-निरपेक्ष) स्टेट होते हुए भी धर्म की तालीम दी जा सकती है, क्योंकि वहाँ एक ही धर्म (ईसाई) है। यहाँ अनेक धर्म होने के कारण मुश्किल होती है। इसके लिए यही करना होगा कि शिक्षा का जिम्मा स्टेट को नहीं उठाना चाहिए, वह ज्ञानियों का ही जिम्मा है। शिक्षण सरकार के हाथ में नहीं होगा तो फिर देश में शिक्षा के भिन्न-भिन्न प्रयोग चलेंगे।

दूसरी बात यह है कि यहाँ सब धर्मों का समन्वय करना होगा। जब सब धर्मों का अच्छा अंश लेकर समन्वय करनेवाला और हरएक धर्म में क्या गलत अंश है यह बतानेवाला कोई महापुरुष पैदा होगा, तभी यह मसला हल होगा।

८. शिक्षा का माध्यम-मातृभाषा

भारत में एक बड़ा विचित्र प्रश्न पूछा जाता है कि शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाये या नहीं? इसमें तो दो राय होनी ही चाहिए। गधे के बच्चे से पूछा जाये कि तुझे गधे की भाषा में ज्ञान देना चाहिए या सिंह की भाषा में? तो वह यही कहेगा कि सिंह की भाषा चाहे जितनी अच्छी हो, मुझे तो गधे की भाषा ही समझ में आयेगी, सिंह की नहीं। तो यह जाहिर है कि मनुष्य के हृदय को ग्रहण होनेवाली जो भाषा है, वह मातृभाषा है। उसी के द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए। इसमें कोई शक नहीं होना चाहिए। मेरा तो मानना है कि पहले से आखिर तक सारी तालीम मातृभाषा के द्वारा ही दी जानी चाहिए। विज्ञान की परिभाषा धीरे-धीरे बनती जायेगी, तब तक अंग्रेजी शब्द

चलेंगे। हमारी भाषाएँ काफी विकसित हुई हैं और आगे अधिक विकसित हो सकती हैं। बारहवीं सदी का हमारा ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ और इंग्लैंड का ‘केन्टरबरी टेल्स' ग्रन्थ को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञानेश्वर के पास जितने शब्द हैं, उसका चौथा हिस्सा भी ‘केन्टरबरी टेल्स' में नहीं है। दोनों में बड़ा अन्तर है।

विज्ञान की पढ़ाई

सौ साल से ज्यादा अंग्रेजों का राज यहाँ चला। लेकिन हिन्दुस्तान में विज्ञान बहुत फैला नहीं। उसका कारण यही था कि विज्ञान सारा अंग्रेजी किताबों में बंद था। विज्ञान तो सृष्टि से साथ संबंध रखता है। खेती में विज्ञान हो सकता है। रसोई में विज्ञान हो सकता है, सफाई में विज्ञान हो सकता है। इस तरह जीवन के हर हिस्से में विज्ञान ही जरूरत है। चूँकि अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था, इसलिए करोड़ों लोगों को विज्ञान का ज्ञान नहीं हो सका। अब सौ साल बाद चिल्ला रहे हैं कि विज्ञान की पुस्तकें मातृभाषा में कम हैं। यह अपराध किसका है? क्या उन मातृभाषाओं का अपराध है या योजना करनेवालों का अपराध है? आज भी कहा जा रहा है कि बिना अंग्रेजी के विज्ञान कैसे सीख सकते हैं? सवाल ठीक है। ऊँचा विज्ञान सीखना है, तो आज की हालत में अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन के जरिये ही सीख सकते हैं। परन्तु उन भाषाओं के जरिये वह हिन्दुस्तान में फैलेगा नहीं। इसके आगे विज्ञान का संबंध अगर मातृभाषा से नहीं होगा, तो विज्ञान सीखनेवाले के दिमाग में ही विज्ञान खतम हो जायेगा। बड़ी भारी गलती हम कर रहे हैं। हम सोच नहीं रहे हैं कि विज्ञान जैसी महत्त्व की चीज मातृभाषा में न हो, तो वह कैसे फैलेगा?

अभी भी बहुत-से लोग मानते हैं कि अंग्रेजी आ गयी तो विज्ञान भी आ जायेगा। यह धारणा भी गलत है। अन्य भाषाओं में भी विज्ञान का विकास हुआ है। इसलिए ‘अंग्रेजी यानी विज्ञान’ यह समीकरण ठीक नहीं है।

मातृभाषा-आत्मज्ञान के प्रसार का साधन

विज्ञान की बात छोड़ दीजिए। वह अभी पश्चिम से आया है। परन्तु आत्मज्ञान तो अपने ही देश की चीज है। पुराने जमाने से वह चीज थी। संस्कृत इस देश की भाषा है। हजारों संस्कृत शब्द

दूसरी भाषाओं में हैं। और संस्कृत अंग्रेजी जैसी दूर की भाषा भी नहीं है। लेकिन फिर भी अगर सारा आत्मज्ञान का साहित्य संस्कृत में ही पड़ा रहता और वह मातृभाषा में न आता, तो आज उसका जितना प्रचार हुआ है, उतना होता? उपनिषद में ऊँचा आत्मज्ञान है। षड्-दर्शन में ऊँचा दर्शन है। जो ऊँचे ज्ञान का चिन्तन करना चाहते हैं, ऊँचे ज्ञान की खोज करना चाहते हैं, तो वे संस्कृत जरूर सीखें। लेकिन आत्मज्ञान के उपयोग और फैलाव के लिए अगर संस्कृत कोई लेता है, तो उसका फैलाव कैसे होगा? एक चीज की खोज करना एक बात है, उसका उपयोग दूसरी बात है और प्रचार करना तीसरी बात है। आत्मज्ञान के उपयोग के लिए और प्रचार के लिए संत लोग वह सब मातृभाषा में लाये, वैसा ही विज्ञान के बारे में भी करना चाहिए।

ऊँचे विज्ञान की खोज अगर करनी है, तो अंग्रेजी, फ्रेंज आदि भाषाएँ सीखनी होंगी। परन्तु विज्ञान के उपयोग के लिए और फैलाव के लिए मातृभाषा के बिना चारा नहीं। खोज और उपयोग का फर्क हम समझ सकते हैं। रेडियो की खोज एक बात है और रेडियो का उपयोग दूसरी। रेडियो का उपयोग सब लोग कर सकते हैं। उसकी खोज बहुत थोड़े लोगों ने की है।

अंग्रेजी लादी न जाये

आज कोशिश हो रही है कि अंग्रेजी का ऊँचा ज्ञान बच्चों को किस तरह हो। उसका एक ही उपाय है। सारे लोगों पर अंग्रेजी न लादी जाये। तभी चन्द लोग अच्छी अंग्रेजी सीखेंगे। लेकिन बहुत लोग अंग्रेजी सीखेंगे, तो अंग्रेजी का स्तर ऊँचा नहीं रहेगा। अच्छी अंग्रेजी सीखना चन्द लोगों का काम है। उसके लिए लाखों लोगों पर वह क्यों लादी जाये? सब लोगों पर अंग्रेजी लादना गलत बात है। अंग्रेजी की जरूरत नहीं है, तो भी उसे रखते हैं। यह दूसरी गलती है। उसका नाहक बोझ होगा। यह तीसरी गलती है। वह बोझ मनुष्य फेंक देगा। इसमें खर्चा भी बहुत ज्यादा होगा।

बचपन से अंग्रेजी सिखाना गलत

बिलकुल छोटी उम्र से, बचपन से अंग्रेजी सिखायेंगे, तो बच्चे अच्छी अंग्रेजी बोल सकेंगे, यह खयाल गलत है। जहाँ समाज की आबहवा अंग्रेजी है, वहाँ बचपन से अंग्रेजी सिखायी जा सकती है। लेकिन जब तक व्याकरण के जरिये भाषा सिखाने का क्रम है, तब तक मातृभाषा के

व्याकरण और साहित्य की अच्छी जानकारी हुए बिना दूसरी भाषाओं का ज्ञान नहीं हो सकता। मातृभाषा का व्याकरण और साहित्य न जाननेवाला दूसरी भाषाओं का व्याकरण और साहित्य कैसे सीखेगा? इसलिए अंग्रेजी माध्यम से शिक्षण देना सौ फीसदी मूर्खता है। अंग्रेजी में ऐसी कौन-सी चीज है, जो ज्ञान देने लायक है?

राजनीतिक सम्बन्ध का प्रश्न

बहुतों का यह भी खयाल है कि अन्य देशों के साथ राजनैतिक ताल्लुक रखना है, तो अंग्रेजी आनी चाहिए। हम इसे भी एक भ्रम समझते हैं। होना यह चाहिए कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में जानेवाले हमारे प्रतिनिधि वहाँ हिन्दी भाषा में बोलें। आज ऐसा नहीं हो रहा है। अपने देश के लिए यह लाभदायक परिस्थिति नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ में हम अंग्रेजी में बोलते हैं, तो हमें प्रतिष्ठा मिलती है, यह भी एक गलत खयाल है।

राज्यभाषा भी अंग्रेजी

बड़े-बड़े विद्वानों को भी हम कहते हुए सुनते हैं कि अंग्रेजी में जो विचार प्रकट करने की शक्ति है वह शक्ति हमारी भाषाओं में नहीं है। पर शक्ति आपमें नहीं है या आपकी भाषा में नहीं है, इसका पृथक्करण होना चाहिए। दिल्ली पहुँचाने के लिए रास्ते में शक्ति नहीं है या आपमें शक्ति नहीं है? ये समझते हैं कि रास्ते में शक्ति नहीं है। कहते हैं कि, 'राज्य चलाना है, तो असंख्य शब्दों की जरूरत होती है, हमारी भाषा में इतने शब्द नहीं हैं, इसलिए राज्य चलाना मुश्किल है।' लेकिन क्या इसके पहले हिन्दुस्तान में राज्य नहीं चले? विजयनगर जैसे कितने ही साम्राज्य देश में हुए हैं। किसी को बुखार आ जाये और हमें औषधि न सूझे, तो क्या इसका अर्थ यह है कि वनस्पति में मामूली रोग दूर करने की भी शक्ति नहीं है?

अंग्रेजी भाषा को पहले जो स्थान मिला था वह अब मिल ही नहीं सकता। मातृभाषा के स्थान पर मातृभाषा रहेगी, राष्ट्रभाषा के स्थान राष्ट्रभाषा रहेगी। विदेशी भाषा के स्थान पर अन्य अनेक विदेशी भाषाओं के साथ अंग्रेजी भी रहेगी। यह कबूल है कि अंग्रेजी अधिक रहेगी। लेकिन

ऐसा हो कि विदेश की भाषा सीखनी है तो अंग्रेजी ही सीखें, तो बड़ा खतरा होगा। अंग्रेजी दुनिया की भाषा है यह भ्रम है। दुनिया इंग्लिश से बहुत बड़ी है।

परभाषा का असह्य बोझ

आज अंग्रेजी भाषा बच्चों पर जिस तरह लादी जा रही है और उसका जो आक्रमण हो रहा है, उससे बहुत नुकसान हो रहा है। अंग्रेजी साहित्य बहुत संपन्न है। उसमें विज्ञान है, वह दुनियाभर में चलती है। अंगेजी में बहुत अच्छे लेखक और कवि हुए हैं। अध्ययन की दृष्टि से अंग्रेजी की योग्यता बहुत बड़ी है। मुझे संतोष और अभिमान मालूम होता है कि मानवजाति के एक विभाग ने इतना विकास किया है। फिर भी मुझे लगता है कि वह भाषा आज यहाँ जिस तरह लादी जा रही है, उससे बहुत नुकसान होगा। लड़के उसे कबूल नहीं करेंगे। दुनिया में ऐसा कोई दूसरा देश नहीं है, जहाँ इस तरह मातृभाषा छोड़कर दूसरी भाषा लादी जाती हो। कहा जाता है कि इंग्लैंड के लड़के दो- तीन भाषाएं पढ़ते हैं। लेकिन समझना चाहिए कि वे फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाएँ पढ़ते हैं। वे इन भाषाओं के इतने करीब हैं कि जैसे कोई गुजराती लड़का मराठी या हिन्दी पढ़े। यहाँ के लड़कों को अंग्रेजी के जरिये तालीम देने का परिणाम देखना हो तो लंदन के लड़कों को हिन्दी के जरिये तालीम देकर देखिए। तब चता चलेगा कि इससे उनकी बुद्धि पर कितना दबाव पड़ता है। उससे लड़के बिलकुल निर्बोध बनेंगे। मैं चाहता हूँ कि या तो अंग्रेजी खूब अच्छी तरह सीखें या बिलकुल न सीखें। हरएक बच्चे को अंग्रेजी का डोज देना किसी काम का नहीं है। इसलिए मैं कहूँगा कि पहले आठ साल में बुनियादी शिक्षा चले, उसमें अंग्रेजी न सिखायें।

अमेरिका के एक मानसशास्त्रज्ञ ने कहा है कि बचपन में मनुष्य ज्यादा जल्दी सीखता है। चार-पाँच भाषाएँ सीख लेता है। परन्तु साथ-साथ यह बात भी है कि जितना जल्दी वह सीखता है, उतना जल्दी ही वह भूल भी जाता है। इसलिए उस मानसशास्त्रज्ञ को पूछना चाहिए कि आठ-नौ साल में अंग्रेजी सीखी, लेकिन उसे कीपअप - कायम कैसे रखेगा? अगर सतत आदत रहे तो बच्चा भूलेगा नहीं। बचपन में बच्चा प्रत्यक्ष संवाद से भाषा सीखता है। माँ की मुखाकृति देखकर माँ कैसे 'क' बोलती है, एकाग्र चित्त से देखकर फिर बच्चा सीखता है। लेकिन अंग्रेजी तो व्याकरण

पद्धति से ही सीखनी पड़ेगी। इसलिए किसी को अच्छी अंग्रेजी सीखनी है तो आठ साल के बाद सिखाना होगा।

बड़ी ठंडक-बड़ी तरी

अंग्रेजी हरएक को सीखने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन आज अंग्रेजी के अत्यन्त हिमायती कहा करते हैं कि सभी को अंग्रेजी सीखनी चाहिए। इस बारे में एक कीर्तनकार की कही कहानी मुझे याद आ रही है। एक बार कुछ लोग घूमने गये और हनुमानजी के एक मन्दिर में पहुँचे। एक ने हनुमानजी की नाभि में उँगली डाली और तुरन्त उसे बाहर निकालते हुए कहा कि "वाह! वाह! कितनी तरावट है।" और दूसरे ने भी डँगली डाली ओर उसने भी कहा, 'वाह! कितनी ठंडक है?" इस तरह सभी ने उँगली डाली और फिर बिच्छू काटने के कारण सभी रोने लगे। इसी तरह आज अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को बिच्छू ने काट खाया है और वे "बड़ी ठण्डक, बड़ी तरी" कहकर अपने बाल-बच्चों से भी अंग्रेजी पढ़ने के लिए कहते हैं।

अंग्रेजी लादना जुल्म

लेकिन अगर सारे राष्ट्र पर विदेशी भाषा लादी जाती है, तो बुद्धि अत्यन्त क्षीण हो जाती है। इंग्लैंड के सात-आठ साल के लड़के 'विकार ऑफ वेक-फील्ड' आदि जो पुस्तकें पढ़ते हैं, उन्हें हम लोग सोलहवें वर्ष में पढ़ते हैं, जबकि उस समय हमें उपनिषदों जैसे ग्रन्थ पढ़ने चाहिए। इसलिए राष्ट्र पर अंग्रेजी लादना गलत है।

हिन्दुस्तान में डेढ़ सौ साल से अंग्रेजी चली है। रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द को छोड़कर कोई हिन्दुस्तानी हुआ जिसका साहित्य दुनिया में चलता हो? क्या इन डेढ़ सौ वर्षों में कोई अंग्रेजी लेखक हुआ जिसने भारत की किसी भाषा में ग्रंथ लिखकर यहाँ के साहित्य की वृद्धि की? तो फिर भारतीयों पर यह जिम्मेवारी किसने डाली कि वे अंग्रेजी भाषा में साहित्य लिखकर मिल्टन और टेनिसन का मुकाबला करें ?. . . हमें यह मान्य है कि कुछ लोग अंग्रेजी सीखें। लेकिन वह लादी न जाये इतना ही हमारा कहना है। वह लादी जाती है तो उसके लिए एक ही शब्द सूझता है- यह जुल्म है।

शिक्षणशास्त्रियों को चाहिए कि वे नौकरी जेसी साधारण बातों पर विचार न किया करें। उन्हें तो सरकार पर अपनी छाप डालनी चाहिए, सरकार की छाप अपने पर नहीं पड़ने देनी चाहिए। नौकरी के बारे में सरकार चाहे जैसा तय करे। किन्तु शिक्षणशास्त्री सूक्ष्म विचार करें, तो उन्हें स्वयं ध्यान में आयेगा कि आरम्भ से अन्त तक मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रहना चाहिए। सिर्फ कॉलेज में यह सुविधा हो कि दूसरी युनिवर्सिटी का प्रोफेसर वहाँ की मातृभाषा में न बोलकर हिन्दी में बोले, तो विद्यार्थी उसे समझ पायें। मेरा तो यह मत है कि जिस तरह मानव दो आँखों से देखता है, उसी तरह हर भारतीय को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों आनी चाहिए। संस्कृत की विभक्ति और प्रत्ययों के विषय में मेरा कोई आग्रह नहीं, लेकिन उसकी शब्द-सामग्री के प्रति मेरा आग्रह अवश्य है। इसलिए वह शब्द-समाग्री सिखलाना मातृभाषा का एक अंग होना चाहिए। फिर जिन्हें अधिक ग्रन्थ पढ़ने हों, वे अधिक भाषाएँ पढ़ें।

अंग्रेजी सिर्फ चश्मा

भगवान शंकर को तीसरी आँख थी, वह ज्ञानदृष्टि कहलाती है। वैसे हमें भी तीसरी आँख चाहिए। संस्कृत भाषा का अध्ययन हमें लाभदायी होगा। अंग्रेजी भाषा चश्मे के तौर पर काम आयेगी। चश्मे की जरूरत सबको नहीं होती। कुछ लोगों को कभी जरूरत होती है तो उतना अंग्रेजी का स्थान है।

अंग्रेजी का लाभ सारे देश को मिले

जो मनुष्य अंग्रेजी सीखना चाहता है, वह किसलिए अंग्रेजी सीखना चाहता है, उसका जवाब उसके पास चाहिए। क्या उसे अंग्रेजी में काव्य लिखना है? क्या उसे अंग्रेजी साहित्यकार बनना है? क्या विदेश जाना है? आज बी.ए., एम. ए. करके भी बच्चे सामान्य व्यवहार की बात भी अंग्रेजी में नहीं कर सकते। जो अच्छी अंग्रेजी सीखे हैं उनको मरने के पहले एक अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद करके मरना चाहिए। आज हिन्दुस्तान में ८० लाख लोग अंग्रेजी जाननेवाले हैं, उनमें से माना कि ऐसी योग्यता रखनेवाले पचास हजार लोग हैं, तो देश को पचास हजार अनुवादित ग्रन्थ देकर मर सकते हैं। जो मेहनत माँ-बाप ने की, वही मेहनत बच्चों को भी करनी चाहिए, ऐसा

माननेवाले माता-पिता धन्य हैं! हमें जो मेहनत करनी पड़ी, वह अपने बच्चों को न करनी पड़े, ऐसी करुणाबुद्धि माँ-बाप में होनी चाहिए।

एक बार जेल में एक भाई ने मुझसे कहा- “इन्साईड एशिया नाम की पुस्तक बहुत अच्छी है, आप पढ़िए।” मैंने उनसे कहा, “आप पढ़ें और मैं भी पढ़ूँ, उसकी क्या जरूरत है? मुझे इसका सार बताइए।“ तो बोले, “इसमें एशिया का बहुत अच्छा चित्र दिया है, परन्तु हिन्दुस्तान के बारे में नासमझी है।'' मैंने कहा, “आप हिन्दुस्तान के बारे में जानते हैं इसलिए ऐसा कह सके। परन्तु बाकी के देशों के बारे में आप जानते कहाँ हैं? हमारा निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता।“

अंग्रेजी-केवल एक 'विण्डों ' (खिड़की)

लोगों के मन में एक गलत खयाल घुस गया है कि अंग्रेजी के सहारे हम दुनियाभर में आसानी से घूम सकेंगे। अंग्रेजी सारी दुनिया की भाषा है, यह मान्यता अत्यंत गलत है। अंगेजी जाननेवालों की संख्या दुनिया में तीस करोड़ है और दुनिया में तो तीस करोड़ से ज्यादा लोग हैं। इस पर से ध्यान में आयेगा कि दुनिया में ऐसे प्रदेश भी हैं, जहाँ अंग्रेजी के आधार से काम नहीं चलेगा।

बहुत लोगों को लगता है कि अंग्रेजी के ज्ञान के बिना शिक्षा अधूरी रह जायेगी, क्योंकि दुनिया के लिए वह एक विण्डो यानी खिड़की है। मैं यह बात मानता हूँ। परन्तु घर में केवल एक ही खिड़की रखेंगे, तो सर्वांग विश्वदर्शन नहीं होगा, केवल एक ही अंग का दर्शन होगा। तो कम-से कम आपको सात खिड़कियाँ रखनी चाहिए. - इंग्लिश, फ्रेंच, जर्मन, रशियन, ये चार यूरोप की, चीनी और जपानी-ये दो पूर्व की, और एक अरबी - ईरान से लेकर सीरिया तक का जो विस्तार है उसके लिए। इस तरह सात विण्डो रखेंगे तो दुनिया का सही दर्शन होगा, अन्यथा एकांगी दर्शन होने से अंग्रेजी भाषा के अधीन हो जायेंगे और स्वतंत्र बुद्धि से सोचने का मौका नहीं मिलेगा। आठ साल अध्ययन करके कोई खेत में जायेगा, कोई कहीं जायेगा, अपना-अपना काम करेगा। उन सब लोगों पर अंग्रेजी लादना ठीक नहीं। वे कहेंगे कि आपकी 'विण्डो' हमारे लिए किस काम की? हम तो खेती में रहते हैं। ‘विण्डो' तो उसको चाहिए, जिसके घर में दीवालें हों। हमारे घर में तो दीवालें होतीं नहीं। ऊपर से भी फटा रहता है। इसलिए उनको 'विण्डो' के फेर में नहीं डालना

चाहिए और अंग्रेजी से मुक्त करना चाहिए। परिणाम यह होगा कि अपनी भाषा का वे उत्तम अध्ययन करेंगे। अभी तो अपनी भाषा का भी ठीक से ज्ञान नहीं होता और अंग्रेजी भाषा का भी ज्ञान कच्चा रहता है।

'रीटर्न टु इंडिया '-आंदोलन

कहा जाता है कि स्कूल में अंग्रेजी का स्टेन्डर्ड गिर रहा है। लेकिन अगर आप चाहते हैं कि अंग्रेजी का स्तर न गिरे, तो उसके लिए एक ही इलाज है। आपने अंग्रेजों को 'क्विट इंडिया—भारत छोड़ो’ कहा था, उसके बदले अब उनसे ‘रिटर्न टु इंडिया—भारत लौटो' कहिए। आप लाख कोशिश करें, तो भी आजाद हिन्दुस्तान का दिमाग परकीय भाषा को कबूल नहीं करेगा। बच्चे उसे कबूल नहीं कर रहे हैं, इसी से पता चलता है कि उनका दिमाग आजाद है। अगर वे अंग्रेजी में ज्यादा दिलचस्पी लेते, तो मैं हिन्दुस्तान के भविष्य के बारे में मायूस हो जाता। कहा जाता है कि लड़के दूसरे विषयों में अच्छी दिलचस्पी दिखाते हैं, लेकिन उन्हें अंग्रेजी अच्छी नहीं आती। अगर उन पर अंग्रेजी न लादी जाये और मातृभाषा के जरिये उन्हें सब विषयों का ज्ञान दिया जाये, तो बहुत ही कम समय में वे ज्ञान ग्रहण करेंगे। प्रयोग करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

संस्कृत राष्ट्रभाषा हो सकती है

कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि 'संस्कृत राष्ट्रभाषा क्यों नहीं हो सकती?’ तो मैं कहता हूँ कि संस्कृत ही राष्ट्रभाषा होगी। नाम हिन्दी होगा और रूप संस्कृत होगा। शब्द संस्कृत के होंगे और विभक्ति प्रत्यय हिन्दी के होंगे। यानी संस्कृत आसान बनायी जायेगी, क्योंकि संस्कृत के विभक्ति-प्रत्यय कठिन हैं। परन्तु संस्कृत में जो शब्द का खजाना है, वही मुख्य बात है। उसको मैं 'शब्द-साधनिका' कहता हूँ। संस्कृत में एक शब्द से अनेक शब्द बनते हैं। जैसे ‘चर’ धातु पर से विचार, प्रचार, संचार, आचार आदि अनेक शब्द बने। यही श्रेष्ठ वस्तु है। लेकिन प्रत्यय हिन्दी के आयेंगे। इसके अलावा, राष्ट्रभाषा पर दक्षिण की भाषाओं का भी कुछ असर होने ही वाला है। ब़दरीकेदार से रामेश्वरम् तक यात्रिकों का जो आवागमन रहा है, उसके कारण हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान

स्वाभाविकत: प्राप्त हो गया है और इस जमाने में गांधीजी ने उसको राष्ट्रभाषा के तौर पर स्थान दिलाने के लिए कोशिश की।

संस्कृत का हर शब्द मनोवैज्ञानिक है। उसमें धात्वर्थ होता है। वैसा अंग्रेजी में नहीं। Sea शब्द है। सी यानी छोटा समुद्र ओर बड़ा हो तो ओशन (Ocean)। ये शब्द खुद अर्थ नहीं बताते। संस्कृत में समुद्र यानी सम् + उद् +र = चारों ओर से ऊपर उठनेवाला, खेलनेवाला, रमनेवाला। सिंधु यानी बहना। यह नदी को ज्यादा लागू होता है। पृथ्वी - पृथु - फैली हुई। धरा - धारण करनेवाली। गुर्वी - भारवान, वजनदार।. . . यह सामर्थ्य अंग्रेजी में नहीं। चित्त शब्द का पर्याय अंग्रेजी में मिलना मुश्किल है।

९. शासनमुक्त शिक्षण

आजकल दुनिया में तालीम-विभाग सरकार के हाथ में आया है। जो सिखाया जाता है, वह बच्चे सीखते हैं। इसलिए स्वतंत्र लोकमत नहीं बनता। परिणामस्वरूप नाममात्र की लोकशाही रहती है। हरएक को वोट का अधिकार है। फिर भी सत्ता चन्द लोगों के हाथ में रहती है और वे जो करेंगे वही ठीक है, ऐसा माना जाता है। सरकार जो खिलाये वह जनता को खाना पड़ता है। और जो सिखाये, वह जनता को सीखना पड़ता है। जिसे सरकार ज्ञान कहती है, उसे ही ज्ञान मानना पड़ता है। जिसे वह अज्ञान कहती है, उसे अज्ञान मानना होगा। हमें सिर्फ 'वोट' देना है। इसके बाद हमें कुछ नहीं करना है। यह बहुत भयानक है।

यह बहुत खतरा है कि सरकार जो ढाँचा तय करती है, उसी में विद्यार्थियों के दिमाग को ढालने की कोशिश पूरी दुनिया में हो रही है। आज इतिहास भी लिखना है, तो उसका एक ढाँचा बनता है। अगर फैसिस्ट सरकार है, तो तालीम पर फैसिज्म का रंग चढ़ेगा, अगर वेलफेयर स्टेट है, तो पंचवार्षिक योजना के गाने सिखाये जायेंगे। जिस रंग की सरकार होगी, उसी रंग की तालीम होगी। अगर इस तरह ढाँचे में बुद्धि ढाली जाये, तो बुद्धि का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इस वास्ते बुद्धि की आजादी होनी चाहिए। और आजादी का अगर किसी को हक है, तो सबसे पहले विद्यार्थी को है, क्योंकि हुक्म से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शंकराचार्य ने बड़ा सुन्दर वाक्य लिखा है—

ज्ञानं वस्तुतंत्रम्, न पुरुषतंत्रम—ज्ञान मनुष्य के हाथ की बात नहीं है, वह वस्तु पर अवलम्बित है। अगर सामने गोल वस्तु है, तो उसका आयताकार ज्ञान हो नहीं सकता, उसका गोल ही ज्ञान हो सकता है। वस्तु का ज्ञान उसके अपने स्वरूप पर निर्भर है, आपकी मर्जी पर या किसी की आज्ञा पर नहीं। अत: विद्यार्थियों को ज्ञान ग्रहण करने की पूरी आजादी होनी चाहिए। उनका दिमाग किसी ढाँचे में ढाला नहीं जाना चाहिए। इसलिए जिसको 'लिबरल एजुकेशन' (सामान्य शिक्षण) कहते हैं, वह सारा जनता के हाथ में होना चाहिए। तालीम का अधिकार जहाँ सरकार हर होगे मे गया, वहाँ बहुत बड़ा खतरा समझना चाहिए।

आशय यह है कि शिक्षा पर सरकार का अधिकार और नियंत्रण बड़ा जुल्म है। टेक्निकल शिक्षा या विज्ञान की शिक्षा सरकार द्वारा दी जाये, तो कोई हर्ज नहीं है।

आज तो शिक्षण पर सरकार की हुकूमत चलती है और सरकार की तरफ से सारा टाइमटेबल बनाया जाता है। जैसे बैलों से कहा जाता है कि कल अमुक खेत में चने बोये जायेंगे और परसों अमुक खेत में गेहूँ बोये जायेंगे। वैसे ही शिक्षकों को कहा जाता है कि हफ्ते में चार दिन हिन्दी सिखायी जायेगी, दो दिन अंग्रेजी सिखायी जायेगी। पुस्तकें भी सरकार की तरफ से नियत होती हैं। जो अधिकार हमने तुलसीदासजी को नहीं दिया था, शंकराचार्य को नहीं दिया था, वह अधिकार आज हमने शिक्षण-विभाग के मंत्रीजी को दे रखा है। तुलसीदासजी की रामायण अत्यंत लोकप्रिय है, लेकिन तुलसीदासजी यह नहीं कह सके कि उनकी रामायण हरएक को लाजिमी तौर पर पढ़नी होगी। रामायण पढ़ना ऐच्छिक बात थी। शंकराचार्य बड़े विद्वान और ज्ञानी पुरुष थे, परन्तु वे अपनी किताबें लाजिमी तौर पर किसी से पढ़वा नहीं सके। लेकिन आज शिक्षामंत्री जो पुस्तकें तय करेगा वह हरएक को लाजिमी तौर पर पढ़ना होगा। मालूम नहीं, उसमें आपने क्या अक्ल देखी कि जो ताकत तुलसीदासजी और शंकराचार्य को नहीं दी, उससे भी ज्यादा अधिकार शिक्षामंत्री को दे दिया! अब बच्चे वे किताबें नहीं पढ़ेंगे तो पास नहीं होंगे। इसलिए वे किताबें उनको पढ़नी ही होंगी। इससे ज्यादा गुलामी हो ही नहीं सकती।

शिक्षा लादने की कोशिश रशिया में हुई, चीन में हुई। परिणाम क्या आया, आप लोग देखते हैं। रशिया में दो-दो, तीन-तीन दफा इतिहास लिखे गये। नये-नये इतिहास! इतिहास यानी क्या?

'इति ह आस' वास्तव में ऐसा हुआ। परन्तु इन दिनों इतिहास का अर्थ है- इतिहास:।' ऐसे हँसना, हास्यास्पद। इतिहास यानी हास्य का विषय।

आज लोग भी चाहते हैं कि सरकार शिक्षा का इन्तजाम करे। वे सरकार से शिक्षा के प्रबन्ध की मांग करते हैं। छोटा-मोटा मकान बना देते हैं और बाकी प्रबन्ध की सरकार से अपेक्षा रखते हैं। शिक्षक सरकार का, शिक्षा-पद्धति सरकार की, परीक्षा सरकार की! और अपने प्यारे लड़के उनके हाथों सौंप देते हैं। होना तो यह चाहिए कि लोग ही शिक्षा-पद्धति तय करें, शिक्षक की व्यवस्था करें, हर साल उसे गाँव की ओर से कुछ अनाज मिले, थोड़ी जमीन भी उसे दें, फिर सरकार से थोड़ी मदद मिले तो पर्याप्त है। लेकिन सरकार का अंकुश न हो।

हिन्दुस्तान में विद्या कम थी, ऐसा नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि हिन्दुस्तान में सबसे पहले विद्या शुरू हुई थी। परन्तु विद्या पर कभी राजाओं की सत्ता नहीं थी। विद्या किस तरह देना, यह बात गुरु तय करते थे। राजा उनकी मदद करते थे। राजपुत्र भी उनके पास आते थे और गुरु राजपुत्रों को सामान्य लोगों के लड़कों के साथ रखते थे। सामान्य विद्यार्थी भिक्षा माँगते थे, तो राजपुत्रों को भी भिक्षा माँगने के लिए भेजा जाता था। सांदीपनि ने कृष्ण को एक गरीब ब्राह्मण के साथ रखा और दोनों को जंगल में जाकर लकड़ी काटकर लाने का काम दिया। गुरु ने यह नहीं सोचा कि राजा का बेटा है, तो उसे दूसरी तालीम देनी है, जो गरीब ब्राह्मण के बेटे के लिए नहीं है। आश्रम चलाने के लिए राजा मदद करते थे, लेकिन राजपुत्र के लिए विशेष सहूलियतें नहीं माँगते थे। इस तरह हिन्दुस्तान में विद्या अत्यंत स्वतंत्र थी। जिसे संस्कृत भाषा का ज्ञान है, वह जानता है कि हिन्दूधर्म में कितना विचार-स्वातंत्र्य है। हमें दूसरा धर्म मालूम नहीं है जिसमें इतने परस्पर विरोधी विचार हों! दूसरे धर्मों में एक ही विचार है, लेकिन हिन्दूधर्म में कपिल, कणाद, जैमिनी इत्यादि के विचार परस्पर विरुद्ध थे। परन्तु कोई नहीं कहता कि वे हिन्दूधर्म के खिलाफ हैं। आजकल कुछ लोग ऐसे हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते। लेकिन इसलिए वे धर्महीन हैं, ऐसा कहना गलत होगा। इतना विचार-स्वातंत्र्य यहाँ था। कारण विद्या स्वतंत्र थी। आज जैसे लश्कर सरकार के हाथ में है, वैसे शिक्षा भी सरकार के हाथ में है। इतनी व्यापक सरकार बनी है। सरकार व्यापक चिन्तन करती है, तो अच्छा है। पहले की सरकार व्यापक चिन्तन नहीं करती थी, यह

अच्छा नहीं था। परन्तु सत्ता व्यापक नहीं होनी चाहिए। आज सत्ता व्यापक है। चिन्तन व्यापक होना चाहिए और सत्ता सीमित होनी चाहिए। पहले सत्ता भी सीमित थी और चिन्तन भी सीमित था। हम चाहते हैं कि सरकार का चिन्तन व्यापक हो और उसकी सत्ता सीमित हो।

सरकार निरपेक्ष नयी तालीम

नयी तालीम का जो व्यापक प्रयोग हो रहा है, वह बहुत सारा विभिन्न प्रांतीय सरकारों के द्वारा हो रहा है। परिणाम यह है कि सर्वत्र 'नयी तालीम' का 'वानरीकरण' हो रहा है। नयी तालीम के पीछे एक जीवन-दर्शन है। उसे ग्रहण किये बगैर जब उसका एकांगी आकलन और विकृत अनुकरण होता है, तब उससे नयी तालीम की बदनामी के सिवा और कोई निष्पत्ति की आशा नहीं की जा सकती। और आज यही तो हो रहा है। भिन्न-भिन्न राज्यों में नयी तालीम के जो सरकारी प्रयोग हुए, उनकी जो दशा मैंने देखी, उससे भय हो रहा है कि शायद नयी तालीम की कब्र खोदी जा रही है। लेकिन इस विकृति की जिम्मेवारी उन लोगों पर है, जिन्होंने नयी तालीम को सरकार की आश्रित बनने दिया। होना तो यह चाहिए था कि हम नयी तालीम के शुद्ध नमूने जगह-जगह खड़े करते।

सरकारी अफसरों के जरिये अभी तक जो प्रयोग किये गये हैं, उनके दो प्रकार हैं। एक प्रकार तो जान-बूझकर बुनियादी तालीम को बदनाम करने के उद्देश्य से हो रहा है। ताकि वह खर्चीली साबित हो, उसमें ज्ञान की कमी दीखे, पालकों की नाराजगी प्राप्त की जा सके, विद्यार्थी भी असंतुष्ट हो जायें। स्पष्ट है कि यह एक अच्छी वस्तु का अप्रामाणिक व्यवहार है। इसका विचार हम छोड़ दें। दूसरा प्रकार है, प्रामाणिक। लेकिन उसमें नये मूल्यों को स्वीकार न करते हुए पुराने मूल्यों को कायम रखकर नयी तालीम को उसके कुछ गुणों के लिए स्वीकार करने की बात है। यह प्रकार प्रामाणिक है, फिर भी नयी तालीम का असली रूप उसमें नहीं दीखेगा। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि नये मूल्यों की बुनियाद पर जितने परिशुद्ध प्रयोग किये जा सकते हैं, किये जायें।

जब देश गुलाम था, तब राष्ट्रीय शिक्षण का विचार निकला और स्वतंत्र विद्यापीठ भी खुले। अब लोग सोचते हैं कि जब स्वराज्य आ गया, तो सारे सरकारी विद्यापीठ राष्ट्रीय विद्यापीठ बन गये। लेकिन 'हो गये' कहने से तो दरअसल हो नहीं जाते। उन्हें राष्ट्रीय बनाना पड़ेगा। मैं आशा करता हूँ कि वे वैसे बनाये जायेंगे। फिर भी सरकार से पृथक् शिक्षण के स्वतंत्र प्रयोग करने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। गाँव-गाँव की परिस्थिति के अनुसार लोगों की तरफ से अपनी-अपनी अलग शालाएँ चलनी चाहिए। नहीं तो, अगर देश की सारी शिक्षा सरकारी तंत्र में आ गयी, तो बच्चों के दिमाग विशिष्ट साँचे में ढाले जाने का खतरा बना रहेगा। इस दृष्टि से भी नयी तालीम के सरकार-निरपेक्ष प्रयोग चलने चाहिए।

जब हम कहते हैं कि शिक्षण सरकार से स्वतंत्र होना चाहिए, तब मैं ऐसा नहीं कहता कि सरकार में दोष है, इसलिए शिक्षण सत्ता-निरपेक्ष होना चाहिए। सरकार यदि सर्व-गुण-सम्पन्न है और उसमें कोई भी दोष न हो, तो भी मैं यह कहूँगा कि जनता का शिक्षण सरकार से स्वतंत्र ही चलना चाहिए। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सरकार मदद करे तो भी न ली जाये। हमें अपनी शर्त पर मदद लेनी चाहिए। हमारे सिद्धान्त में कॉम्प्रोमाइज (समझौता) न करना पड़े। हम ऐसी मदद न लें, जिससे हमारी आत्महानि होती हो। ऊपर-ऊपर से मदद मिलती हो तो लें, पर अपनी आत्मनिष्ठा कायम रखें। गाँव-गाँव में शिक्षण की सरकार-निरपेक्ष व्यवस्था हो। शिक्षण का सम्बन्ध जब ग्रामस्वराज्य के साथ जुड़ेगा, तब यह होगा।

सरकार से स्वतंत्र यानी सरकार के साथ असहयोग करने की बात नहीं है। परन्तु सरकार का ही तंत्र, पैसा, योजना होगी तो हम सरकार का ही एक विभाग बनेंगे। जैसे कि सरकार ने एक अपूर्ण ग्रन्थ लिखा, उसमें हमने एक नया प्रकरण जोड़ दिया और उसे पूर्ण किया, ऐसा किया, हमें नहीं करना है। हमें तो नया ही ग्रन्थ लिखना है और सरकार इसमें पूर्ति करे। मैं स्वतंत्र शब्द का यह अर्थ समझता हूँ।

मेरा ऐसा भी आशय नहीं है कि सरकार अपनी तरफ से शिक्षण संस्था न चलाये। सरकार के डिपार्टमेन्ट की अलग परीक्षा हो, उसमें कोई भी व्यक्ति परीक्षा दे सकता है। लोग अपनी पद्धति से अलग-अलग प्रकार का शिक्षण देंगे। किसी जगह धार्मिक या वैज्ञानिक, तो किसी जगह

ग्रामोद्योग अथवा संस्कृत। इस तरह से स्वतंत्र प्रयोगों को उत्तेजन मिलेगा। इसमें शिक्षक को पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिए ।

१०. मातृमुखेन शिक्षणम्

संयम की प्रेरणा माँ दे सकेगी

आज जो निर्वीर्य और निस्तेज प्रजा बढ़ रही है, वह क्यों? इसलिए कि देश में संयम का वातावरण नहीं है। जो भी साहित्य लिखा जा रहा है, जो सिनेमा वगैरह चल रहे हैं, वे सब हिन्दुस्तान के सारे वातावरण को पूर्णत: निर्वीर्य बना रहे हैं।

वातावरण संयमयुक्त रखने की जिम्मेवारी अगर ठीक ढंग से हमें निभानी है तो जरूरी है कि स्त्रियों के हाथ में छोटे बच्चों की शिक्षा दे देनी चाहिए। उपनिषदों में कहा है**—मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्**। शिक्षण पहले माता से, बाद में पिता से, अन्त में आचार्य से - यह शिक्षण का क्रम होना चाहिए।

पहले पाँच साल की शिक्षा स्त्रियाँ ही दे पायेंगी। वह पुरुष का काम नहीं। अगर उनकी शिक्षा चल पड़े, तो क्या फिर बीड़ी, सिगरेट, शराब चलेगी? ये पुरुषों के चलाये हुए ढंग हैं।

सिखाने के पहले स्त्री स्वयं सीखे

स्त्रियों को पुरुष पर नियन्त्रण करना चाहिए। उन्हें अपने हाथ में अंकुश रखना चाहिए। तभी समाज सुधर सकता है। पुरुषों ने बड़े-बड़े राज्य स्थापित किये, चुनाव लड़े, सजाएँ दीं, सेनाएँ खड़ी कीं, लड़ाइयाँ लड़ीं, दो-दो विश्व युद्ध हुए - यह सब किया, फिर भी समाज को अभी तक कोई आकार ही नहीं मिल पाया है। अभी वह अपनी ही जगह पर है। उसमें परिवर्तन लाना होगा। लेकिन यह कौन करेगा? मैं समझता हूँ कि इस काम में स्त्रियों से बहुत अच्छी मदद मिलेगी। इसके लिए सबसे पहले तो स्त्रियों को खुद को शिक्षा की जरूरत है और फिर शिक्षा उनके हाथ में होनी चाहिए। तभी पुरुषों के हाथों अच्छे-अच्छे काम होंगे।

इसीलिए सबसे पहले लड़कियों को पढ़ाना होगा। उन्हें तो लड़कों से भी अधिक ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि लड़के बड़े होने पर मेहनत-मशक्कत करेंगे, अनाज की पैदावार बढ़ायेंगे।

स्त्रियाँ बच्चों को बढ़ायेंगी यानी राष्ट्र को बढ़ायेंगी। इसलिए उनके पास ज्ञान की चाभी होनी ही चाहिए। हर घर में बिल्कुल बचपन से माँ से ज्ञान पाने की सुविधा हो जाये, तो फिर पूछना ही क्या है? छोटे बच्चों के लिए अपेक्षित शिक्षण स्कूल में नहीं मिल सकता, वह माँ ही दे सकती है। इसलिए उसे ज्ञान की अत्यावश्यकता है।

आज तक जितने भी ज्ञानी और सन्त पैदा हुए, वे सब - ज्ञानदेव, तुकाराम, शंकराचार्य आदि - पुरुष ही थे। स्त्री तो एकआध ही कहीं हुई, जैसे मीराबाई, मुक्ताबाई, जनाबाई। फिर भी आतज्ञान के क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों से आगे बढ़ सकती हैं। मैं कई बार कह चुका हूँ कि जब यहाँ शंकराचार्य जैसी स्त्रियाँ पैदा होंगी, तभी हिन्दुस्तान आगे बढ़ेगा।

प्राथमिक शिक्षा स्त्रियाँ सम्भालें

मेरे विचार में प्राथमिक शालाएँ स्त्रियों के हाथ में ही रहनी चाहिए। उनमें लड़के और लड़कियाँ एकसाथ पढ़ेंगे। अगर सारा प्राथमिक शिक्षण स्त्रियों के हाथ में रहेगा तो बच्चों का विकास ठीक-ठीक होगा, वे ठीक रास्ते लगेंगे। समाज को मर्यादा में रखने की भी कुछ शक्ति स्त्रियों में आयेगी। बच्चों की तालीम का काम आज पुरुषों के हाथ में है। वस्तुतः पुरुषों में बच्चों को तालीम देने लायक कोई अक्ल दीखती नहीं। बड़े होने पर भले ही पुरुष उन्हें तालीम दे सकें, परन्तु प्राथमिक शाला के बच्चों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये, यह पुरुष क्या जाने? यह सारा-का-सारा क्षेत्र स्त्रियों के हाथ में होना चाहिए।

मेरी सर्वोत्तम शिक्षादात्री—मेरी माँ

मेरा अपना अनुभव बताऊँ तो मुझे बहुत ग्रंथ पढ़ने को मिले हैं, जो अनुभव से भरे हैं और सत्संगति भी मिली है। उन सबको मैं एक पलड़े में रखता हूँ और मेरी माँ से मुझे साक्षात् भक्ति का जो शिक्षण मिला उसे दूसरे पलड़े में रखकर तौलता हूँ, तो यह दूसरा पलड़ा भारी होता है। उसका वजन अधिक होता है।

कुछ लोग मुझसे पूछते हैं कि स्कूलों में धर्म-शिक्षा दी जाये या नहीं? मैं कहता हूँ—आज के स्कूलों में धर्म-शिक्षा कौन देगा? अगर स्त्रियाँ शिक्षक हों, तो वे धर्म सिखला सकती हैं। तभी

स्कूलों में भक्ति का वातावरण भी निर्माण होगा। बच्चे अच्छे निकलेंगे। मुझे सत्संगति अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु मेरी माता का मुझ पर अधिक परिणाम हुआ। माँ पूजा कैसे करती थी, सुबह कितनी जल्दी उठती थी, जरा-सा भी समय मिला तो कैसे भगवान का नाम लेती थी, अन्य व्यर्थ की बातों का उस पर कुछ भी प्रभाव न होता था—यह सब मुझे याद है। इसलिए मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि बचपन की शिक्षा स्त्रियों के ही हाथ में रहे और पुरुष ऊपर की पाठशालाओं में जायें। ज्ञान तो माँ के मुँह से ही मिलना चाहिए। घर में माँ होगी तो मेवा-मिठाई भी देगी और साथ-साथ रसोई पकाना भी सिखायेगी।

मातृहस्तेन भोजनम्

भगवान कृष्ण की कहानी है। वे गोकुल में गायें चराते थे, बच्चों के साथ खेलते थे और कंस आदि का भी काम तमाम कर चुके थे। लेकिन वसुदेव को लगा कि इतना बड़ा हो गया, फिर भी अनपढ़ ही रहा, इसे पढ़ना-लिखना आना ही चाहिए। इसलिए उन्होंने कृष्ण को सांदीपनि के आश्रम में भेजा।

जब कृष्ण की विद्या समाप्त हुई और वे घर लौटने लगे, तो गुरु सांदीपनि ने कहा—'वर माँगो।' कृष्ण ने कहा—'आप ही कुछ दीजिए।' सांदीपनि ने कहा—'नहीं, मेरी प्रतिष्ठा रखने के लिए ही कुछ माँग लो।' कृष्ण ने कहा— 'ठीक' और उन्होंने वर माँगा 'मातृहस्तेन भोजनम्।' यानी मरने तक मुझे माता के हाथ से भोजन मिले। उन्होंने और कोई वर नहीं माँगा। सांदीपनि ने उन्हें वर दे दिया। भगवान कृष्ण जब तक जीये तब तक उनकी माँ भी थीं।

मातृमुखेन शिक्षणम्

इसके विपरीत उन बच्चों की क्या दशा होती होगी, जिन्हें कभी भी माँ के हाथ का भोजन नसीब नहीं होता। कहीं होटल में खाते हैं या भोजनालय में। माँ के भोजन में बहुत बड़ी विद्या है। उसमें सिर्फ घी और रोटी नहीं रहती, प्रेम भी होता है। इसलिए भगवान ने 'मातृहस्तेन भोजनम्' वर माँगा। लेकिन 'मातृमुखेन शिक्षणम्' यानी माता के मुँह से शिक्षा मिले यह नहीं माँगा। उतना माँगना उन्होंने मेरे लिए बाकी रखा। यह बड़ी ही सुन्दर बात है—'मातृमुखेन शिक्षणम्' और

‘मातृहस्तेन भोजनम्।‘ ये दोनों बातें एक साथ जुट जायें तो हिन्दुस्तान को कला एकदम निखर उठेगी। हम दुनिया को सिखा सकेंगे। ज्ञान चारों ओर फैला पायेंगे। भावनाओं का निर्माण स्त्रियों के द्वारा ही शक्य है। धर्म को टिकाने का काम भी बहनों ने ही किया है। पकड़ रखने का स्वभाव स्त्रियों में है। अच्छी बातों को पकड़ रखने का और बुरी बातों को छोड़ देने का विवेक स्त्रियों में आ जाये तो वे समूची दुनिया का नेतृत्व कर सकेंगी।

संस्कार-बीज माँ-बाप डालें

यदि हम बड़ों में अच्छे संस्कार होंगे तो वे बच्चों को सहज ही मिलेंगे। गुलाब में यदि सुगन्ध होगी तो सहज ही वह लोगों की नाक में घुस जायेगी। बच्चों पर अच्छे संस्कार डालने के लिए माता को भक्त, पिता को योगी और आचार्य को ज्ञानी होना चाहिए। अर्थात् यदि माता भक्त है तो उसकी भक्ति का संस्कार बच्चों को सहजरूप से मिलता है। भक्ति के अलावा दूसरी किसी भी चीज में इतनी शक्ति नहीं है। बच्चों पर संस्कार डालने के लिए भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। पिता समत्वयुक्त चित्त से संसार-कार्य करे, यह पिता का कर्तव्य है। और गुरु को मैं ज्ञानी कहता हूँ। यानी उसमें माता की भक्ति और पिता के योग (समत्वयुक्त चित्त) के अतिरिक्त ज्ञान होता है। इसलिए बच्चों पर अच्छे संस्कार डालने की पहली जिम्मेवारी माता-पिता पर है, ऐसा समझना चाहिए। इसके बजाय, शिक्षक सारी जिम्मेवारी अपने सिर पर ले लेता है।

बालमानस को पुरानी कहानियों से बनायें

बच्चों को कहानियाँ सुनना अच्छा लगता है, ऐसा हमारा अनुभव है। परन्तु कौन-सी कहानियाँ कहनी चाहिए? नयी-नयी कहानियाँ कहना अच्छा होगा या पुरानी? भारत की या भारत के बाहर की? प्रत्यक्ष घटी हुई या काल्पनिक? कौन-सी कहानी अच्छी रहेगी? यह सवाल है। अगर काल्पनिक कहानी कहनी हो तो 'ईसप की कहानियाँ’ बहुत अच्छी हैं, अगरचे वे काल्पनिक हैं, रूपक की शैली में कही हैं। मन पर अच्छा संस्कार करनेवाली कोई भी कहानियाँ चल सकती हैं। परन्तु जो कहानियाँ प्राचीन काल से घोटी गयी हैं, उनका अधिक असर होगा। होमियोपैथी की औषध जैसा। मैं दो मिसालें देता हूँ—एक ध्रुव की कहानी और दूसरी प्रह्लाद की। वे दोनों कहानियाँ

कम-से-कम पाँच हजार साल से घोटी गयी हैं। इसलिए उनकी पोटेन्सी बढ़ी है। इस युग की कहानियाँ भी कह सकते हैं, पर प्राचीन कहानियों की शक्ति ज्यादा होगी।

प्रथम तीन साल में सर्वोच्च ग्रहणशीलता

बचपन में सबसे पहला श्लोक मैंने कौन-सा सीखा? हमारे चाचा ने मुझे सिखाया— प्रह्लाद के पिता ने उसको मारने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन वह मरता ही नहीं था। फिर क्या हुआ? **न मरे ह्यास्तव नेला पर्वत-शिखरासि**—मरता नहीं था इसलिए पर्वत-शिखर पर ले गये और **लोटिला खोलीं**—नीचे ढकेल दिया। **परि तो निर्भय चित्तीं वाहे नारायणासि लाखोली**—परन्तु निर्भय चित्त से वह नारायण-नारायण स्मरण करता रहा। उसके नाम-स्मरण में खंड नहीं पड़ा। उसके पिता का आग्रह था कि तू नाम-स्मरण मत कर, परन्तु उसने वह छोड़ा नहीं। सर्वोत्तम सत्याग्रह का वह नमूना था। उसका चरित्र और यह प्रथम सीखा हुआ श्लोक स्मरण में इतना पक्का पैठ गया कि उसका कभी भी विस्मरण नहीं होता। कितने ही श्लोक कण्ठस्थ किये और दस-पन्द्रह हजार तो आज भी याद होंगे। परन्तु आरम्भ का यह श्लोक मन पर जितना अंकित हुआ उतना दूसरा कोई भी नहीं हुआ, क्योंकि बचपन में सीखा था।

बच्चे ईश्वर से ज्यादा निकट

दूसरी बात, बच्चों को हम बनानेवाले हैं, यह भावना ठीक नहीं। बच्चे भगवान के घर से आते हैं और उसके निकट होते हैं। उन पर कुसंस्कार न होने दें, इतना ही हमारा काम है। इतना करेंगे तो बच्चे उत्तम ही बनेंगे। मिठाई खाते समय बच्चा कौए को देखेगा तो खाना बन्द कर वह कौए की तरफ देखेगा। चैतन्य का चैतन्य की ओर स्वाभाविक ही खिंचाव रहता है। मुझे कहना यह है कि बचपन में बच्चे परमात्मा के निकट होते हैं। खींच-खींचकर हम उन्हें नीचे ले आते हैं। इसलिए उन्हें बनाना है, ऐसा नहीं, कुसंस्कार होने न दें, इतना ही हमारा काम।

प्रथम गुरु माता

तीसरी बात, शिक्षकादि दूसरे लोग कितनी भी कोशिशें करें, माँ का काम वे नहीं कर सकते। इसलिए मुख्य काम तो माताओं को ही करना होगा। बच्चे बचपन से माँ के पास ही होते हैं, अगरचे

आजकल की माताएँ बच्चों को चार-पाँच साल की उम्र में ही स्कूल में भेज देती हैं, झंझट मिटी मानकर। लेकिन बच्चों को उत्तम संस्कार देने के लिए माँ से बढ़कर साधन नहीं। इसलिए बच्चों को उत्तम संस्कार कैसे मिल सकेंगे इसकी योजना केवल शिक्षकों को करनी है ऐसा नहीं, वह इतनी महत्त्व की बात है कि सबको मिलकर ही योजना बनानी होगी। परन्तु बच्चों को जो कहानियाँ कहनी हैं, वे माँ के द्वारा कही जानी चाहिए। वह माताओं पर सौंपना चाहिए।

आज की माताओं को ऐसी कहानियाँ कम मालूम होती हैं। क्योंकि आज की माताएँ 'येसफेस' (अंग्रेजी) पढ़ती हैं। आज हमारी लड़कियों को अंग्रेजी का अल्प-स्वल्प ज्ञान होता है, लेकिन प्राचीन ज्ञान कुछ होता ही नहीं। इसलिए उन माताओं से बच्चों को संस्कार मिलना कठिन-सा हो गया है। इसलिए इन माताओं के पास इस तरह का वाङ्मय पहुँचाना चाहिए। माँ के द्वारा बच्चों को कहानी कहलायेंगे, तब वे संस्कारी होंगे।

बच्चों को सब धर्मों की कहानियाँ कहें

एक बात सहज ही ध्यान में रखनी होगी। हम बच्चों को जो कहानियाँ कहेंगे, वह एक ही धर्म की नहीं होनी चाहिए, अनेक धर्मों की होनी चाहिए। ईसा मसीह, मुहम्मद पैगम्बर की कहानियाँ कहनी चाहिए। ध्रुव-प्रह्लाद जैसे, भिन्न-भिन्न धर्मों के साधु-संतों की कहानियाँ भी कहनी चाहिए। सेंट फ्रांसिस ऑफ ॲसिसी। 'आओ रे आओ' वह प्रेम से बुलाता है। किसको? साँप को। साँप आता है, उसकी गोद में प्रेम से बैठता है और फ्रांसिस आनन्द से भगवान का नाम-स्मरण करता है। बच्चे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई नहीं होते, वे परमात्मा के बच्चे होते हैं। यानी वे आध्यात्मिक होते हैं; धार्मिक, पांथिक नहीं होते। हिन्दुस्तान का वैभव है कि अनेक धर्म के लोग यहाँ हैं, इसलिए इस दृष्टि से हमारा चिन्तन होना चाहिए।

स्त्री विद्या की देवी शारदा बनें

माँ पर जब इतनी बड़ी जिम्मेवारी आती है, तो बहनों को भी गहरा अध्ययन करना चाहिए। आज हमारे समाज की रचना पुरुषप्रधान है। सारे सामाजिक कार्य पुरुषों के हाथ में हैं। ऐसी हालत में स्त्रियों में आक्रमणकारी शक्ति पैदा होनी चाहिए। उनमें सरस्वती की तेजस्विता आनी

चाहिए। वह थोड़े से अध्ययन से नहीं आयेगी। उसके लिए आत्मज्ञान चाहिए। आज स्कूलों में जो शिक्षण मिलता है वह ऊपर-ऊपर का बाह्य ज्ञान ही है। ठीक है, वह ज्ञान भी होना चाहिए। परन्तु शक्ति देनेवाली तो दूसरी ही चीज है, उसका अध्ययन होना चाहिए। स्त्रियों को अध्यात्मनिष्ठ बनना चाहिए, तभी पुरुषों को सुधारने की शक्ति उनमें आयेगी। पुरुष चाहते हैं कि स्त्रियाँ हमें मदद करें, परन्तु हमें दिशासूचन न करें। शंकराचार्य ने अपने शिष्यों को शारदा की उपासना करने को कहा। शारदा यानी सरस्वती। स्त्री शारदा की प्रतिनिधि होनी चाहिए। इसलिए बहनें अध्ययन करेंगी, तभी उनकी ताकत बढ़ेगी। सिनेमा देखना या बीड़ी फूँकने जैसे बुरे कामों में मर्दों की बराबरी करने की जरूरत नहीं, परन्तु ज्ञान-ध्यान में वे पीछे रह जायेंगी तो समाज निस्तेज हो जायेगा। बच्चों की तरक्की के लिए बहनों को ज्ञान, ध्यान, मोक्ष और भलाई की बातों में आगे आना चाहिए।

आचार्यों से बढ़कर माँ

एक साल के लड़के और दो साल के लड़के के ज्ञान में बहुत अन्तर होगा, लेकिन ५० साल के मनुष्य और ७० साल के मनुष्य के ज्ञान में खास अन्तर नहीं होगा। कारण, पहले तीन-चार वर्षों में मनुष्य को ज्यादा-से-ज्यादा ज्ञान मिलता है। पहले तीन-चार सालों में मिले सारे ज्ञान को एक बाजू में और शेष जीवन में मिले ज्ञान को दूसरी बाजू रखें तो पहले ज्ञान का पलड़ा भारी होगा, क्योंकि वह ज्ञान 'ग्रास रूट' है, मूल है। यह ज्ञान बच्चा माँ से ही पाता है, किसी आचार्य से नहीं। मनुस्मृति में गणित बताया है—

उपाध्यायान् दशाचार्य: आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितृन् माता गौरवेणाऽतिरिच्यते॥

—उपाध्याय (साधारण शिक्षक) से दसगुना आचार्य का गौरव है, आचार्य से सौ गुना पिता का और पिता से हजार गुना से भी अधिक माता का गौरव है। ऐसा नहीं कहा कि एक हजार पिता = माता, बल्कि यह कहा कि हजार पिता से बढ़कर माता है।

माँ को भजन आदि कण्ठस्थ हों और वह घर में काम करते-करते बोलती रहे तो वह सुनकर बच्चे को सहज ही कण्ठस्थ हो जायेंगे।

जो भी गुणवाचक शब्द हैं वे अधिकतर स्त्रीलिंगी हैं। भक्ति, मुक्ति, नीति, शक्ति, शान्ति आदि। गीता में भी कहा है—-**कीर्ति: श्रीर्‌वाक् च नारीणां स्मृतिर् मेधा धृति: क्षमा।**

पहले कहते थे छड़ी लगती है तो विद्या आती है। छड़ी मारने से क्या विद्या आयेगी? मास्टर की छड़ी देखकर जो विद्या होगी वह भी चली जायेगी! विद्या प्रेम से समझाने से आती है। इसलिए मातृमुख से ज्ञान मिलना चाहिए।

३. वर्तमान शिक्षा के दोष और शिक्षा में क्रान्ति

१. यह विद्या है या अविद्या?

ज्ञान और कर्म के दो टुकड़े

वर्तमान शिक्षा यानी पढ़ना-लिखना और कुर्सी पर बैठकर हुक्म चलाना। विद्या सीखने के मानी काम छोड़ना। पढ़े-लिखे लोगों को काम करने में शर्म मालूम होती है। यह बिल्कुल खतरनाक हालत है कि समाज में देह और बुद्धि अलग-अलग हो। भगवान ने सबको हाथ और बुद्धि दोनों दी हैं। इसलिए जो विद्वान हों, वे कर्मनिष्ठ भी हों और जो कर्मनिष्ठ हों, वे विद्वान भी हों। इस तरह से ज्ञान और कर्म, विद्या और परिश्रम दोनों अगर जुड़ जायेंगे तो देश की उन्नति होगी और देश एकरस होगा।

आज भारत का दुर्भाग्य यह है कि यहाँ ज्ञान और कर्म के बीच मेलजोल नहीं रहा। काम करनेवालों के पास ज्ञान नहीं पहुँचता और जिनका बौद्धिक विकास हुआ है वे काम नहीं करते हैं। इसलिए चिन्तन को बुनियाद ही नहीं मिलती। ऐसा राहु-केतु का समाज आज है। एक को केवल सिर है, उसको हाथ-पाँव नहीं, और दूसरे को हाथ-पाँव हैं, परन्तु सिर नहीं। ईश्वर की ऐसी योजना होती तो वह सबको सिर और हाथ-पाँव दोनों क्यों देता? कुछ लोगों को केवल सिर-ही-सिर और कुछ लोगों को केवल हाथ-पाँव ही दे सकता था। परन्तु उसकी योजना है कि सबका बौद्धिक और शारीरिक विकास दोनों हो। जैसे शब्द और अर्थ दोनों भिन्न होते हुए भी एक साथ ही रहते हैं वैसे ज्ञान और कर्म एक साथ हो जाना चाहिए। ये दोनों कपड़े के ताना-बाना जैसे हैं, दोनों मिलकर ही जीवन का वस्त्र बनता है। परन्तु हमारे यहाँ तो लिखा-पढ़ा मनुष्य श्रेष्ठ और परिश्रम करनेवाला नीच माना जाता है। गिबन ने लिख रखा है कि उत्पादक परिश्रम से घृणा करने के कारण रोम की सभ्यता का ह्रास हुआ।

बीकॉम या बेकाम?

विद्यार्थी अपने जीवन में कोई काम नहीं करते, सेवा नहीं करते, सिर्फ किताबों का अध्ययन करते रहते हैं। इससे वे ठण्ड बर्दाश्त नहीं कर सकते, गर्मी सहन नहीं कर सकते और वर्षा में खट

भी नहीं सकते। खेतों में काम करने में अक्षम हैं। उनसे उद्योग-धन्धे की भी कोई आशा नहीं है। लोग भी कहते हैं कि ये पढ़े-लिखे लोग ‘बी-कॉम' नहीं, 'बेकाम' बन जाते हैं। उनको हजार रुपये दे दो, पर वे व्यापार का काम नहीं कर सकते, उलटे सालभर में वे एक हजार का पाँच सौ कर लायेंगे। इस प्रकार वर्तमान तालीम में न व्यावहारिक ज्ञान मिलता है और न पारमार्थिक ज्ञान मिलता है। उसका वास्तविकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। भूख लगने पर व्याकरण खाया नहीं जाता। प्यास लगने पर काव्य पीया नहीं जाता। ऐसी स्थिति में आज के शिक्षितों की दशा धोबी के कुत्ते जैसी 'न घर का, न घाट का', हो जाती है। उनकी दयनीय स्थिति को सुधारने के लिए जनता का कर्तव्य है कि वह शिक्षण को अपने हाथ में ले ले। इंग्लैण्ड में शिक्षण सरकार के हाथों में नहीं है, वहाँ की प्रजा ने शिक्षण को अपने हाथों में रखा है। इसलिए इंग्लैण्ड के लोग स्वातंत्र्य-प्रेमी हैं। हमारे यहाँ सारी-की-सारी तालीम सरकार को सौंप दी गयी है। आजाद दिमाग रखने के लिए प्रजा को शिक्षा अपने हाथ में रखनी चाहिए।

इस विद्या का एक और परिणाम यह है कि आज के शिक्षित लोग 'मिस्टिक एक्सपीरियन्स' (गूढ़ अनुभव) को समझ नहीं पाते। उनके लिए वह सारा ढँक गया है। यह आवरण **हिरण्मयेन पात्रेण** जैसा है। यह विद्या कहलायी जाती है, लेकिन वास्तव में है अविद्या। सूर्य के प्रकाश में सारी तारिकाएँ ढँक जाती हैं और पेड़-पत्थर आदि सारी सृष्टि खुल जाती है। सूर्य इस सृष्टि को हमारे सामने खोलता है, लेकिन असंख्य तारिकाओं को ढाँकता है, जिनके सामने वह स्वयं बिल्कुल नाचीज है। लेकिन सूर्य डूबते ही सारी तारिकाएँ खुल जाती हैं। आज की विद्या भी भौतिक चीजों को खोलते हुए गूढ़ (आध्यात्मिक) अनुभवों को ढाँक देती है।

परीक्षा-नौकरीलक्षी शिक्षा

कहते हैं आजकल चारों ओर शिक्षा का विस्फोट हो रहा है। विद्यार्थियों के दंगे बहुत बढ़ गये हैं। तो मैं विनोद से पूछता हूँ कि ‘दंगे किनके हैं? विद्यार्थियों के या परीक्षार्थियों के? विद्यार्थी तो बाबा है, जो रोज अध्ययन करता है। परन्तु आज का विस्फोट इसलिए है कि वे नौकरी चाहते हैं। पिछले सालों में शिक्षितों की संख्या बढ़ी है। वे सब नौकरी चाहते हैं और नौकरी की गुंजाइश है नहीं। दस-बारह परिवारों के पीछे आज एक सरकारी नौकर है। इसलिए मैंने कई बार कहा है कि

सरकार कांग्रेसी है, परन्तु कम्युनिस्ट बनाने के कारखानें खोल रही है। कॉलेजों से निकलकर असन्तुष्ट विद्यार्थी कम्युनिस्ट बनते हैं। 'असन्तुष्ट: द्विज: कम्युनिस्ट:' जो शिक्षित असन्तुष्ट होता है वह कम्युनिस्ट बनता है। ऐसी बेकार तालीम अभी तक चली है। इसलिए विद्यार्थियों को सोचना चाहिए कि उनके अपने जीवन का 'रोल' क्या होगा?

आज तो विद्यार्थी विद्यार्थी नहीं रहे, परीक्षार्थी हो गये हैं। उन्हें ३३ प्रतिशत अंकों पर पास कर देते हैं। वास्तव में ज्ञान तो शत-प्रतिशत होना चाहिए। सच्चा ज्ञान कभी भुलाया नहीं जा सकता। आज 'ज्ञान' नहीं दे रहे हैं, किसी तरह 'जानकारी' दे देते हैं। आज के शिक्षण में स्वयं ज्ञान हासिल करने की शक्ति प्राप्त हो, यह उद्देश्य ही नहीं। जो भूलने जैसी विद्या है, वह विद्या ही नहीं। क्रियायुक्त ज्ञान कभी भुलाया नहीं जा सकता। क्रियाहीन सिर्फ 'थियरी' हो तो वह भुलायी जा सकती है। साक्षात् क्रियायुक्त ज्ञान में ३३ प्रतिशत नहीं चलेगा, शत-प्रतिशत ही चलेगा। ज्ञान में लेशमात्र कचाई नहीं चल सकती।

आज इतनी बेकार तालीम दी जा रही है कि यदि मेरे हृदय में बगावत की जो वृत्ति है, वह विद्यार्थियों में होती, तो वे बहुत ज्यादा बगावत करते। आप यह मत समझिए कि मैं बगावत को उत्तेजन देनेवाला नहीं हूँ। जरूर उत्तेजन दूँगा। परन्तु बगावत का एक तरीका होता है। आपके ही वोट से सरकार बनी है और आप ही की सरकार ने सब प्रकार के शस्त्र रखने का अधिकार पुलिस को दिया है और आप उस पुलिस का मुकाबला करने के लिए पत्थर और ढेले ढूँढ़ते हैं। बगावत करने का यह कोई ढंग नहीं। उसके लिए कोई बेहतर शस्त्र चाहिए।

बगावत करनी है तो विद्यार्थी कॉलेज छोड़कर निकल पड़ें। गाँव-गाँव में जाकर सेवाकार्य करें। इससे कॉलेज खाली हो जायेंगे और फिर सरकार पर आज की तालीम में फौरन बदल करने का दबाव आयेगा। लेकिन जिस तरह के दंगे आजकल विद्यार्थियों के चलते हैं उनसे उनकी कोई ताकत नहीं बनती।

आज की अनर्थकारी विद्या

मैं आज की तालीम से बेहद असन्तुष्ट हूँ। यह आज की बात नहीं है। जब मैं स्कूल-कॉलेज में पढ़ता था, तब भी असन्तुष्ट ही था। बीच में ४०-५० साल गुजर गये, लेकिन जो तालीम उस

वक्त चलती थी, करीब-करीब वही तालीम आज भी चल रही है। अगर उसमें और आज की तालीम में कुछ फर्क होगा, तो यही होगा कि आज की तालीम कुछ कमजोर होगी, बच्चों का स्तर गिरा हुआ होगा। जब मैं कॉलेज में पढ़ता था, तब मैं तालीम के बारे में इतना असन्तुष्ट था कि मेरे जीवन का एक-एक क्षण व्यर्थ जा रहा है, ऐसा मैं अनुभव करता था। मैं कक्षा में पूरा हाजिर भी नहीं रहता था। आखिर एक दिन मेरे पास जो सर्टिफिकेट थे, उन्हें जलाकर घर और कॉलेज छोड़कर निकल पड़ा। मुझे आज तक उसका पश्चात्ताप नहीं हुआ है, क्योंकि मैंने देखा कि कॉलेज में जो क्रम चलता था, वह सारा-का-सारा अत्यन्त शुष्क और यान्त्रिक था। असलियत के साथ उसका कोई ताल्लुक नहीं था।

रद्दी-से-रद्दी तालीम

आज जगह-जगह शालाएँ खुलती हैं, मगर मुझे वे सब प्राणहीन दिखायी देती हैं। थोड़ा-सा अक्षरज्ञान दे देते हैं, पर जीवनोपयोगी ज्ञान नहीं मिलता। अपने देश में दारिद्र्य है उसका मुझे उतना दु:ख नहीं, जितना अज्ञान का है। लोगों को अज्ञान से छुड़ानेवाले शिक्षित लोग मिलते नहीं। सब शिक्षितों को यह भूलना नहीं चाहिए कि गाँव के लोगों ने कष्ट करके अन्न पैदा किया, तब हम शिक्षा प्राप्त कर सके। गाँव-गाँव में अज्ञान भरा पड़ा है और शिक्षित लोग अपने-अपने संसार में रत हैं। इसका कारण आज की निकम्मी तालीम है। अब इसमें कोई पराक्रम ही बाकी नहीं रहा। आज की शिक्षा में धर्मविचार, चारित्र्य, शरीरज्ञान, अध्यात्मविद्या कुछ भी नहीं मिलता। वर्तमान शिक्षा की यह महिमा है कि जिस छात्र को मैट्रिक तक पढ़ने को मिल जाता है, वह श्रम की क्या, अपनी आत्मा की भी प्रतिष्ठा खो बैठता है। जहाँ गुरु-शिष्य-भाव नहीं है, त्याग या सेवावृत्ति का नामोनिशां नहीं है, नैतिक वातावरण नहीं है, स्वधर्म का अभ्यास नहीं है, मातृभाषा के प्रति सम्मान नहीं है, श्रम की कोई कीमत नहीं है और स्वतंत्र विचारों का कोई मूल्य नहीं है ऐसे आत्मनाश के जो यंत्र खड़े किये हैं, वहाँ अर्थनाश का क्या हिसाब? पर चूँकि पैसा गुलामों का ईश्वर है, इसलिए अर्थनाश का हिसाब उनकी समझ में आ सकता है। कम-से-कम उसे देखकर भी आँखें खुलें इतना ही कहना है।

अगर जाहिर किया जाये कि रद्दी-से-रद्दी तालीम का कोई नमूना जो पेश करेगा, उसको महावीर चक्र देंगे, तो मेरा ख्याल है आज की तालीम को महावीर चक्र मिलेगा। इससे बदतर शिक्षा-योजना बनाना चाहें तो भी बना नहीं सकेंगे।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान की तालीम का ढाँचा इतना दकियानूसी है कि उस पर विज्ञान का कोई असर नहीं है और आज का समाज बदला है, उस माहौल (वातावरण) का भी कोई असर नहीं है। तिसपर भी वह तालीम बेखटके चल रही है। तालीम यानी संयोजन का एक अंग (विभाग) हो गया है। पढ़े-लिखे लोगों में जो बेकारी है, उसे हटाने के लिए क्या-क्या करना है? नये स्कूल खुलेंगे तो इतने लोगों को नौकरियाँ मिलेंगी आदि सोचते हैं। यानी तालीम की ओर भी 'जॉब' (नौकरी) देने के खयाल से देखना ही अच्छा समझा जा रहा है। हाँ, स्कूलें खोलने से पढ़े-लिखे बेकारों को नौकरी तो मिलती है, लेकिन वे जिस फैक्टरी को चलाते हैं, वह फैक्टरी बेकारों की तादाद बढ़ानेवाली है, यह सोचने की बात है।

अंग्रेजी शिक्षा के त्रिदोष

अंग्रेजों ने भारत में जो शिक्षा-पद्धति चलायी, वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए चलायी। उस पद्धति में मुझे त्रिदोष दीखते हैं, जो कफ-वात-पित्त के प्रकोप जैसे भयानक हैं। अंग्रेजी राज्य के कारण इस देश में एक बड़ी दुर्घटना यह हुई कि कुछ लोगों को अंग्रेजी तालीम, जिसे ऊँची तालीम भी कहा जाता है, वह मिली और शेष को नहीं। फलतः विद्वान और अविद्वान ऐसे दो वर्ग पड़ गये। जिन्हें विद्या मिली, वह भी स्वदेशी नहीं थी, विदेशी थी, फलत: भेद और संघर्ष बढ़ते ही गये। केवल पाँच प्रतिशत लोगों को विद्या मिली और बाकी सबको मूरख रखा। यह विद्या भी ऐसी दी कि विद्या पानेवाले दूसरे लोगों के साथ मिलजुलकर नहीं रह सकते, वे शहरों में भाग गये। इस तरह समाज के दो टुकड़े पड़ गये।

दूसरी घटना यह हुई कि जिन्हें तालीम दी गयी, उनका जीवनमान ऊँचा बनाया गया, जो इस देश की सभ्यता के विरुद्ध था। यहाँ विद्या और ज्ञान के साथ त्याग जोड़ा गया और माना गया कि जिन्हें विद्या प्राप्त नहीं है, वे अगर आनन्द-भोग लेते हैं, तो उसमें हर्ज नहीं, क्योंकि वे अज्ञान

में हैं। पर ज्ञानी वैसा भोग ले तो वह ठीक नहीं है। पर आज का विद्वान तो विद्यानन्द नहीं, दूसरे ही आनन्द के भोग में तृप्त होता है। विद्या के साथ ऊँचा जीवनमान यानी भोग और पैसा जोड़ा गया, यह विद्या का अपमान है। परिणामस्वरूप विद्या की नहीं, पैसे की वासना बढ़ी।

शिक्षा के साथ तीसरी दुर्घटना यह हुई है कि शिक्षा के साथ काम को नहीं जोड़ा गया। आज की शिक्षा व्यवसायपरक नहीं है, अनुत्पादक है। परिणामतः बिना काम किये विद्वान आनन्द का भोग चाहता है और शरीरश्रम को नीचा मानता है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन करने की अक्ल तो है नहीं, सिर्फ भोग लेने की ही अक्ल है।

आयुर्वेदानुसार कफ-वात-पित्त का प्रकोप रोगी को समाप्त कर सकता है। तालीम के ये त्रिदोष उतने ही भयानक हैं। खराब भोजन से भोजन न करना बेहतर है। कुछ-न-कुछ खाना चाहिए, इसलिए जहर तो नहीं खाया जा सकता!

आरामतलब तालीम

आज की तालीम बिल्कुल 'आराम से, आराम में, आराम के लिए' ही दी जा रही है। तालीम देनेवाला कुर्सी पर बैठेगा, लेनेवाला बेंच पर बैठेगा, आराम से तालीम दी जायेगी और ली जायेगी। तालीमार्थी लड़के को घर में माँ-बाप काम नहीं सौंपेंगे, क्योंकि लड़का पढ़ रहा है। तालीम के बाद भी लड़का नौकरी ही चाहेगा, ताकि काम न करना पड़े। मतलब यह हुआ कि जो तालीम दी जा रही है, वह आराम के लिए ही दी जा रही है। परन्तु हमारे पूज्य नेता पण्डित नेहरू ने जाहिर किया कि 'आराम हराम है।' तो मानना पड़ेगा न कि जो तालीम दी जा रही है, वह भी हराम है?

अंग्रेजों की दूषित शिक्षा-पद्धति

अंग्रेजों ने यहाँ की शिक्षा-पद्धति तय करते समय दो बातें ध्यान में रखी थीं। एक तो शिक्षा ऐसी हो, जिसके द्वारा अंग्रेजी शासन चलाने में मदद करनेवाले लोग तैयार हों अर्थात् लोगों की गुलामी की वृत्ति टिकी रहे। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं था, क्योंकि यहाँ के लोग अपने को यानी अपनी संस्कृति को निकृष्ट नहीं मानते थे। यद्यपि उन्होंने अंग्रेजों का बल (राज्य) मान्य किया था, क्योंकि वे जीते गये थे; परन्तु अंग्रेजों की संस्कृति को वे श्रेष्ठ नहीं मानते थे। उन्हें अपनी संस्कृति

की श्रेष्ठता का भान था, जो अंग्रेजों के लिए खतरा साबित हो सकता था। राज्यकर्ता की संस्कृति के लिए आदरभाव न होना राज्यस्थिरता की दृष्टि से एक खतरा ही माना जायेगा। इसलिए असन्तोष फैलाना, अंग्रेजों की संस्कृति श्रेष्ठ है, यह शिक्षा देना जरूरी था। तो गुलामी की वृत्ति को पनपानेवाली और अंग्रेजी संस्कृति की श्रेष्ठता मानस पर थोपनेवाली ऐसी दुहरी शिक्षा-पद्धति अंग्रेजों ने बनायी।

आज शिक्षा के सम्बन्ध में जो सर्वसाधारण में अलग-अलग विचार प्रचलित हैं, वे सभी इसी दुहरी शिक्षा-पद्धति से आये हैं। इसलिए आज की शिक्षा-पद्धति इन दोनों दोषों से दूषित है। अलावा एक और बड़ा दोष उसमें है। वह यह कि इस पद्धति में जीवन के आठ-दस साल शिक्षा प्राप्त करने में जाते हैं और उसके बाद जीवन की शुरूआत होती है। मतलब इन आठ-दस सालों में किसी काम की जिम्मेवारी, कोई सामाजिक कर्तव्य माना नहीं जाता। यह एक बड़ा विचारदोष है।

शिक्षा-जीवन की कला

मनुष्य के हाथ में कोई काल है, तो वह वर्तमानकाल है। भूतकाल उसके हाथ में नहीं है, क्योंकि वह जा चुका है। भविष्यकाल आनेवाला है, वह भी उसके हाथ में नहीं है, क्योंकि उसका भरोसा नहीं है। ऐसी स्थिति में जो काल हाथ में है वह वर्तमानकाल, भविष्यत् जीवन की यानी अनिश्चित जीवन की तैयारी करने में बिताना, यह ख्याल ही विचित्र लगता है। इसमें होता यह है कि जब विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करता है, तब जीवन के साथ उसका कोई ताल्लुक नहीं रहता और जब जीवन के साथ सम्बन्ध आता है तब शिक्षा प्राप्त नहीं होती। इसके कारण जीवन में और शिक्षण में कोई प्राण ही नहीं रहता। जीवन के बिना शिक्षण निष्प्राण है और शिक्षण के बिना जीवन निष्फल है। जैसे मनुष्य का सिर और धड़—रुंड और मुंड—अलग-अलग कर देने से जो होगा वैसे, शिक्षण को जीवन से और जीवन को शिक्षा से अलग कर देने से, शिक्षण या जीवन कोई भी अपनी जगह पर बचता ही नहीं। तैरना सीखना हो तो पानी में उतरना होगा। पहले विद्यार्थी का पानी के साथ सम्बन्ध जोड़ देना होगा, फिर तैरने की कला के पाठ देने होंगे। कोई अगर यह कहे कि जब तक तैरना नहीं आता तब तक पानी में उतरूँगा ही नहीं, तो उसे क्या

कहेंगे? जीवन और शिक्षण बिल्कुल एकरूप हैं, उन्हें अलग कर देने से कोई काम बनेगा नहीं। शरीर के हर अवयव की पूर्ण और व्यवस्थित वृद्धि होना, इन्द्रियों का कार्यकुशल बनना, विभिन्न मनोवृत्तियों का सर्वांगीण विकास होना, बौद्धिक शक्तियों का प्रगल्भ और प्रखर बनना, इन सब नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रवृत्तियों का विकास ही शिक्षण है। अर्थात् 'जीवन प्राप्त कर लेने की कला ही शिक्षण है।'

मनुष्य को सर्वाधिक जरूरत हवा की है। इसलिए श्वास लेने की कला अत्यावश्यक है। वह सीखनी चाहिए। ठीक, सम श्वास लेना शिक्षण है, उससे बुद्धिविकास होता है। श्वासोच्छवास की क्रिया बहुत महत्त्व की है। यद्यपि वह स्वाभाविक लगती है, वह स्वाभाविक नहीं है, उसके लिए श्रम करने पड़ते हैं। इसीलिए मनुष्य को मृत्यु आती है। अगर किसी उपाय से अहोरात्र होनेवाले श्वासोच्छवास के श्रम से मनुष्य बच सके तो उसका जीवनकाल बढ़ेगा। इस श्रम से आराम पाने के लिए ही मृत्यु आती है। हवा की तरह ही, बल्कि हवा से ज्यादा आकाश की आवश्यकता है। इसलिए ज्यादा-से-ज्यादा समय आकाश के नीचे रहने का अभ्यास करना चाहिए। उससे आकाश की विशालता का, अलिप्तता का अध्ययन सहज ही हो जाता है। फिर, मनुष्य को पानी की भी जरूरत होती है। यदि जीवन को पानी की जरूरत है तो पानी खींचने में, पानी प्राप्त कर लेने में आनन्द और शिक्षा है। उसके बाद आता है अन्न। अगर अन्न की जरूरत है तो अन्न पैदा करना, उसको पकाना, उसकी देखभाल करना शिक्षण है। उसमें मनुष्य का विकास है। यह ईश्वर की बड़ी कृपा है कि उसने मनुष्य के पेट में भूख रखी है। वह उसने शिक्षण के लिए ही रखी है। भूख के कारण मनुष्य श्रम करता है। श्रम के कारण शिक्षण में आनन्द आता है। इस प्रकार जीवन प्राप्त करने के काम में ही शिक्षा मिलती जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य की भूख बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शिक्षा बढ़ती जानी चाहिए। ईमानदारी से स्वावलम्बनपूर्वक आजीविका प्राप्त करना शिक्षा का प्रथम आधार है। इसी को यज्ञ कहते हैं।

शिक्षण और नौकरी

शिक्षण में आत्मिक शिक्षण, शारीरिक शिक्षण और एकआध कारीगरी, उद्योग—इतना तो होना ही चाहिए। इसके साथ गणित, भूगोल, हिन्दी और स्थानिक भाषा सिखा सकते हैं। गाँव के

लोग ऐसे सिखानेवाले विद्वानों को बुला सकते हैं। फिर सरकार विभागीय परीक्षा ले। उसके लिए विषय, पाठ्यक्रम आदि जाहिर करे। फिर जिनको परीक्षा देनी हो, वे फीस भरें और परीक्षा दें। उसके लिए डिग्री की कोई जरूरत न हो। वह किसी भी खाते की परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो जाने पर नौकरी करे।

संस्कार-शिक्षण जनता के हाथ में और विज्ञान का सरकार सँभाले

वैज्ञानिक शाखा का शिक्षण सरकार दे, परन्तु जिसको लिबरल एजुकेशन, संस्कार का शिक्षण, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षण कहते हैं, उस पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं रहना चाहिए। सरकार से सिर्फ आर्थिक मदद मिलनी चाहिए। जिससे मनुष्य का चारित्र्य बनता है, जीवन बनता है वह शिक्षण जनता के हाथ में होना चाहिए। विज्ञान के लिए सरकार स्वतंत्र स्कूल चलाये, उसमें कोई हर्ज नहीं, बल्कि वह सरकार ही चलाये, ऐसा मेरा आग्रह है। इतनी बात है कि जितना विज्ञान गाँव में सिखा सकते हैं उतना गाँवों में ही सिखाना चाहिए। गाँव के लिए जितना जरूरी विज्ञान है, वह एक घण्टा सुबह और एक घण्टा शाम को सिखाना चाहिए। काम कें साथ विज्ञान का योग हो। विज्ञान के कुछ साधन भी हर गाँव में हों। दो-चार गाँवों के बीच एकआध लेबोरेटरी, एकआध संग्रहालय भी रखना चाहिए। विज्ञान का प्राथमिक शिक्षण जिसे हम सामान्य विज्ञान कहते हैं वह एकआध घण्टे में सिखा सकते हैं। मैं एक घण्टे के स्कूल की बात करता हूँ तो उसमें एक घण्टा यानी एक ही घण्टा ऐसा नहीं, उसका भावार्थ लेना है, अक्षरार्थ नहीं। एक-दो घण्टे, जैसी आवश्यकता हो।

मुफ्त और लाजिमी तालीम

आजकल मुफ्त और लाजिमी तालीम (फ्री ॲण्ड कम्पलसरी एजुकेशन) की बात चलती है। मुझे तो ‘मुफ्त और लाजिमी तालीम' यह शब्द ही पसन्द नहीं। मैं बहुत दफा विनोद में कहता हूँ कि यह योजना करने को बाकी नहीं है। भगवान वह योजना कर चुका है। इतनी महत्त्व की योजना कि जिसके आधार पर मानव खड़ा है, ऐसी शिक्षण-योजना किये बिना ही भगवान मानव को जन्म देगा, यह सम्भव नहीं। कोई एक सरकार बनेगी और उसके बाद योजना करके सबको

अनिवार्य और मुफ्त तालीम देगी, इतना आधार परमेश्वर सरकार पर रखता, तो दुनिया मिट ही जाती। लेकिन भगवान ने मनुष्य के दिमाग में अक्ल रखी है, पेट में भूख रखी है और हृदय में सबके लिए सहानुभूति रखी है। तो यह सहानुभूतिवाला हृदय, अक्लवाली बुद्धि और भूखवाला पेट, ये तीन साधन ज्ञान-प्राप्ति के लिए मिल गये। इस भूख के निवारण के लिए सहानुभूति के साथ बुद्धिपूर्वक उसे काम में लगना होता है। वह काम करने के लिए जाता है, तो तरह-तरह का ज्ञान होता है। अगर पेट की भूख का दिव्य दान भगवान की तरफ से नहीं मिला होता, तो कोई तालीमी संघ या सरकार ज्ञान नहीं दे सकती। इसे हम 'अनिवार्य शिक्षण कहते हैं। भूख लगते ही हम कुदाली लेकर खेत में जाते हैं, बोते हैं तो उसमें से तालीम मिल ही जाती है। नहीं तो काश्तकारी कैसे आती? फिर कॉलेज में भी कौन जाता? पढ़ने और नौकरी करने की जरूरत ही क्या होती? इस तरह भूख द्वारा ज्ञान की लाजिमी, अनिवार्य तालीम भगवान दे ही रहा है।

बच्चों के लिए योजना है कि माता के उदर से उन्हें जन्म मिले। माता बच्चे को मातृभाषा सिखाती है, उसके लिए एक कौड़ी का भी खर्च सरकार को नहीं करना पड़ता। उसको हम मुफ्त तालीम की योजना कहते हैं। इतनी दुहरी योजना भगवान कर चुका है। करने का जो बाकी है, वह गणित में जिसको शून्य कहते हैं, ऐसा शून्यवत् है, इतना ही समझना चाहिए। इसलिए मैं बहुत दफा कहता हूँ कि हम शिक्षणदाता हैं, ऐसा कोई समझता होगा, तो उसको शिक्षण पाना बाकी है, इतना ही समझना चाहिए।

बोलना भी न आता हो ऐसे बच्चे को भी उसकी माँ एक भाषा सिखाती है। वह शून्य में से एक पैदा करती है, फिर आप चाहें तो एक के दस करो या सौ करो। दस करो तो दस गुना होगा, सौ करो तो सौ गुना होगा। परन्तु शून्य में से एक हुआ वह तो अनन्त गुना हुआ। भगवान की योजना के मुताबिक हरएक माँ दो-ढाई साल तक एकदम एकाग्र होकर एक बच्चे को तालीम देती है। अर्थात् एक शिष्य के लिए एक गुरु होता है। मेरा तो अनुभव यह है कि मेरी माँ ने मुझे जितना सिखाया, उससे ज्यादा मुझे और किसी ने नहीं सिखाया। बाद में मैंने कम ज्ञान हासिल नहीं किया, तिसपर भी मैं ऐसा कहता हूँ। हम तीनों भाइयों के दिल में वैराग्य की जो भावना उगी है, वह सब माँ की तालीम का परिणाम है।

माँ केवल मातृभाषा ही नहीं सिखाती, वह प्रेम की भाषा भी सिखाती है। प्रेम के लिए त्याग करना पड़ता है। माँ ऐसा त्याग करके दिखाती है, और प्रेम सिखाती है। इस प्रेम की तालीम माँ नहीं देती और सरकार पर उसकी जिम्मेवारी आती तो मालूम नहीं, कितना खर्च होता। प्रेम सिखाने के लिए शिक्षक-वर्ग तैयार करना पड़ता और प्रतिवर्ष शायद करोड़ों रुपयों का खर्च सरकार को करना पड़ता। और तिसपर भी जगह-जगह से शिकायत आती कि हमें प्रेम सिखाया नहीं, यहाँ पक्षपात होता है। परन्तु ईश्वर ने एक ऐसी योजना बनायी, जिससे बच्चों के पैदा होते ही माँ द्वारा उन्हें प्रेम की तालीम मिलती है।

गरीबों को तालीम

कुछ जगहों पर शाला-कॉलेज का शिक्षण मुफ्त होता है। लेकिन इस योजना का लाभ तो केवल अमीरों को ही मिलता है। गरीब लोगों के बच्चे तो शाला में जा ही नहीं सकते; क्योंकि उन्हें तो घर के लिए कमाना पड़ता है। इसलिए समाज में समानता की स्थापना हो यह पहला काम है। अगर सबको शिक्षण दिलवाना है तो गरीबों को रोटी भी दो और ऊपर से मुफ्त शिक्षण दो। इस पर भी मेरा आक्षेप तो रहता ही है कि जब तक आज के शिक्षण में परिवर्तन नहीं होगा तब तक गरीब के बच्चे यदि पढ़ेंगे भी तो अपने ही गरीब-वर्ग के दुश्मन बन बैठेंगे। पढ़ने के बाद न तो वे देहात में जायेंगे, न वे खेती करेंगे। वे अपने अनपढ़ माँ-बाप को बेवकूफ समझेंगे। इसलिए समूची शिक्षा-प्रणाली ही बदलनी होगी। गांधीजी ने ज्ञान के साथ कर्म की बात कही। चीनवालों ने वह मान ली और हाफ-हाफ स्कूल चलाये, परन्तु हमने नहीं माना।

संस्कृत को भी विकृत कर डाला

आजकल संस्कृत के नाम पर जो कुछ श्रृंगारिक साहित्य सिखाया जाता है, उतना ही साहित्य संस्कृत में होता तो मैं संस्कृत सीखने की परवाह न करता। संस्कृत में नाटक, उपन्यास आदि भी हैं, परन्तु वह कोई संस्कृत की विशेषता नहीं है। अर्वाचीन भाषाओं में भी ऐसा साहित्य खूब है, तो फिर उसके लिए खास संस्कृत सीखने की क्या जरूरत? वास्तव में तो संस्कृत की प्रेरणा आध्यात्मिक दृष्टि से ही हो सकती है, अथवा तो भाषाशास्त्री संस्कृत सीखते रहेंगे।

इस तरह शिक्षण के विषय में जितनी भी गलतियाँ हम कर सकते थे, वे सब हमने की हैं। एक भी गलती करने को बची नहीं है। जो भारत का खास विचार था, जिसके आधार पर भारत खड़ा था और खड़ा है और मजबूत बना है, वह बुनियाद ही आज अपनी तालीम में नहीं है। भारत की जो सर्वोत्तम अध्यात्म-विद्या थी वह और अद्यतन विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन विद्यालयों में चलना ही चाहिए।

प्राथमिक-माध्यमिक-उच्च शिक्षा

आजकल प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा की कल्पनाएँ परीक्षाओं साथ जोड़ दी गयी हैं। जैसे मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त कर ली तो प्रवेश-परीक्षा हो गयी। परन्तु यह ठीक नहीं। इस विषय में मेरी कल्पना अलग है। जब तक शरीर का विकास पूर्ण हुआ नहीं, तब तक बुद्धि-विकास शरीर पर निर्भर है। यह जो जीवन की स्थिति है, उसको मैं जीवन का प्रात:काल मानता हूँ। इस अवस्था में शिक्षा शारीरिक विकास के साथ चलती है। शिक्षा प्राप्त करने में शरीर का विकास, तद्द्वारा बुद्धि का विकास, यह जो अवस्था है, उसको मैं प्राथमिक शिक्षा कहता हूँ। इस अवस्था के बाद दूसरी अवस्था जिसमें शरीर का पूर्ण विकास हो चुका होता है और इसलिए शरीरार्थ आजीविका और अन्य नाना क्रिया आदि की शिक्षा भी पूरी हो गयी होती है। अब केवल शरीर की धारणा करने का सवाल होता है। यह जीवन का मध्याह्न काल है। इस अवस्था में जो बुद्धि-विकास होता है उसको मैं माध्यमिक शिक्षा कहता हूँ। इसके आगे की अवस्था में शरीर नाशवान है, वह जानेवाला है, इस तरह चिन्तन करके बुद्धि को शरीर से अलग करना होता है। बुद्धि को शरीर से अलग करने की शिक्षा विवेक-वैराग्य से प्राप्त करनी होती है। शरीर जिस किसी अवस्था में भी हो, कितना भी क्षीण हो, बुद्धि को शरीर से अलग करके बुद्धि का विकास करना, इसको मैं उच्च शिक्षा मानता हूँ।

सारांश, शिक्षा जीवन से अलग करके नहीं दी जा सकती, जीवन से ही उसकी शुरूआत होती है, जीवन जीते हुए ही वह प्राप्त की जा सकती है। शरीर-विकास के साथ बुद्धि-विकास यह प्राथमिक शिक्षा है। शरीरधारणा के साथ बुद्धि-विकास—यह माध्यमिक शिक्षा है। और विवेक-वैराग्य से शरीर और बुद्धि को अलग कर शरीर-निरपेक्ष रहकर बुद्धि-विकास—यह है उच्च शिक्षा।

२. आज की परीक्षा-पद्धति

विद्या का लय

विद्यालय के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ है कि जहाँ विद्या का लय होता है, विद्या लुप्त होती है। दूसरा अर्थ है कि जहाँ विद्या का स्थान है, घर है, निवास है।

पहले अर्थ के विद्यालय तो हमारे देश में हजारों हैं। लोग पढ़ते हैं, परीक्षा देते हैं और फिर मानो कोई जुलाब ले लिया हो, वैसे ज्ञान का रेचन हो जाता है, सारा ज्ञान खतम हो जाता है। जिस विद्यार्थी को परीक्षा में सौ में से अस्सी अंक मिले थे, उससे पन्द्रह दिन के बाद कुछ प्रश्न पूछे गये, तो वह फेल हो गया। हयने ही उसकी यह परीक्षा ली थी। उस लड़के ने हमसे कहा कि पन्द्रह दिन के बाद हम बहुत भूल गये हैं। परीक्षा के लिए बहुत-कुछ तैयार कर रखा था। परीक्षा की तारीख अगर अट्ठारह होती है और परीक्षा सत्रह तारीख को हो जाती है, तो भी दस-बीस अंक हमें कम ही मिलते। यह बात सब शिक्षक जानते हैं कि हमारे विद्यालय में विद्या का लय होता है।

जिस विषय की मुझे परीक्षा देनी पड़ी, उसका मुझे विशेष ज्ञान नहीं। पर जिस विषय की परीक्षा नहीं दी, उसका मुझे अच्छा ज्ञान है। इसलिए अपने अनुभव से मैं परीक्षा को कोई मूल्य नहीं देता। परीक्षा दे दी कि सारा ज्ञान साफ! इसलिए शिक्षणशास्त्र द्वारा खड़े किये गये इस ढोंग में पड़ने की कोई जरूरत नहीं। ।

इन दिनों परीक्षा में धमकी दी जाती है, घेराव भी होता है। विद्यार्थी कहते हैं कि हमको नकल करने का हक होना चाहिए और हम पर किसी प्रकार की निगरानी नहीं होनी चाहिए। तो ऐसे विद्यार्थी वास्तव में विद्यार्थी ही नहीं हैं। एक अच्छा शब्द उनके लिए हिन्दी में है, 'परीक्षार्थी'। विद्यार्थी नहीं, परीक्षार्थी। अब परीक्षार्थी शब्द भी गलत है, उनको 'नौकरी-अर्थी’ कहना चाहिए। वे 'नौकरी-अर्थी' हैं। नौकरी के लिए परीक्षा होती है। लेकिन नौकरी की भी सिर्फ उम्मीद ही होती है।

प्रश्न है परीक्षा-पद्धति में क्या-क्या परिवर्तन होना चाहिए? बच्चों के सालभर के काम की मुख्य रिपोर्ट यही परीक्षा है। सालभर बच्चों ने जो ज्ञान पाया, उसका सतत आकलन होना चाहिए।

उसी दृष्टि से हर माह परीक्षा ली जा सकती है। अन्तिम परीक्षा में बच्चों को किताबें दी जायें, परन्तु प्रश्न ही ऐसे पूछे जायें, जिनका उत्तर पाँच-सात जगह देखे बिना लिखना सम्भव न हो। उसमें किताबों का उपयोग कैसे करना है, यह मुख्य चीज है। परीक्षा के वक्त यदि बच्चे चाहें तो एक-दूसरे की सलाह भी ले सकते हैं। उसमें पास हुए तो पास, हालाँकि उसमें पास होनेवाले को नौकरी मिले ही यह आवश्यक नहीं है। परीक्षा और नौकरी का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। नौकरी देनेवाले अपनी स्वतंत्र परीक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं। मैंने सरकार के सामने सुझाव रखा है कि वह डिपार्टमेंटल परीक्षा ले। जो भी परीक्षा देना चाहे वह फीस देकर परीक्षा देगा और पास हुआ, तो उसे नौकरी मिलेगी। उस परीक्षा के लिए किसी डिग्री की जरूरत नहीं। इस पर सरकारी अधिकारी कहते हैं कि ऐसा करने से परीक्षा देनेवालों की तादाद बहुत बड़ी होगी। मैं कहता हूँ कि इसमें आपका क्या नुकसान है? अगर पाँच लाख लोग परीक्षा दें, तो आप प्रतिव्यक्ति पाँच रुपये फीस रखेंगे तो आपको पचीस लाख रुपये मिल जायेंगे। क्या पचीस लाख रुपयों से पाँच लाख लोगों की परीक्षा नहीं ली जा सकती? इस तरह जो बिल्कुल फिजूल आक्षेप उठाये जाते हैं, उसके मूल में यह है कि वे अपने हाथ से तालीम नहीं जाने देना चाहते हैं, उसे कसकर पकड़ रखना चाहते हैं।

३. छुट्टियों की खैरात

आज जिस पाठशाला में हमारा पड़ाव था, वहाँ इस वर्ष की छुट्टियों की तालिका टँगी थी। छोटे-बड़े कुल चालीस त्यौहारों की ५५ छुट्टियों का हिसाब लगाया गया था। हमारे आने की छुट्टी ५६वीं रही। हमारे देश में अनेक धर्म हैं। हरएक धर्म के अनेक सत्पुरुष हुए हैं और उन सत्पुरुषों के अनेक अभिमानी व्यक्ति हैं। इन सबको मिलाकर छुट्टियों की खैरात बँटती है। फलस्वरूप बच्चों के पल्ले सहज ही सर्वधर्म-समभाव पड़ जाता है।

जन्म-मृत्यु पर छुट्टियाँ

जन्म-मृत्यु भी समान हो जाते हैं। मुझे याद आता है कि हम लोगों के बचपन में बादशाह के मरने पर एक दिन की छुट्टी होती थी और उसके जन्म-दिन की छुट्टी तो थी ही। जैसे हिन्दूधर्म में बरही को मीठा खाना और तेरही को भी मीठा खाना। कोई जिये या मरे, मुँह सदैव मीठा होता है।

ये छुट्टियाँ उत्तर प्रदेश के शिक्षण-विभाग ने दी हैं। मजे की बात यह है कि उत्तर प्रदेश के सर्वजनप्रिय सन्त तुलसीदास, सूरदास और कबीरदास के नाम पर छुट्टियाँ नहीं दी गयीं। नहीं तो 'विद्यालय' में, यानी 'विद्या के लय' में और भी वृद्धि हो जाती। हाँ, नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम पर छुट्टियाँ अवश्य हैं। बुद्ध, महावीर, मुहम्मद आदि के नाम पर तो छुट्टियाँ होंगी ही। जिनके नाम पर झगड़े खड़े हो सकते हैं अथवा जिनके अपने मतानुयायियों के संघ हैं या जो अलग सम्प्रदाय बन गये हैं, उनके नाम पर छुट्टियाँ दे दीं। बस, झगड़ा समाप्त!

ग्रहण पर भी छुट्टी

इस साल चन्द्र-सूर्य ग्रहणों की ३ छुट्टियाँ हैं। ग्रहण हो न हो, चन्द्र-सूर्य की गति में रुकावट नहीं पड़ती। पर श्रद्धालु लोगों ने खोज की है कि ग्रहण से उनकी गति थोड़ी देर के लिए कुण्ठित हो जाती है। उसका फायदा छात्रों तथा शिक्षकों को मिल जाता है। “भोजन के बाद दोपहर को थोड़ी देर अवश्य सोना चाहिए” यह बतलाते हुए एक सज्जन मुझसे कह रहे थे कि “सूर्य भी दोपहर को थोड़ी देर विश्राम करता है।”

रविवार की छुट्टी

ईश्वर ने छह दिनों में सृष्टि पैदा की और थककर सातवें दिन आराम किया। तभी से किसी सम्प्रदाय में शुक्रवार को, किसी में शनिवार को और अब तो सर्वत्र रविवार को हक की छुट्टी करार दी गयी है। पर भोजन से छुट्टी कभी नहीं हुआ करती, कारण उससे थकान जो नहीं आती! कुछ लोग कहते हैं कि मैं रविवार को भरपेट भोजन करता हूँ, क्योंकि उस दिन खाने के बाद भरपूर सोने की सुविधा रहती है। और दिनों दफ्तर जाना पड़ता है, इसलिए पेट में डाला तो डाला, नहीं तो नहीं। रविवार को खाने के लिए ईश्वर की मिसाल नहीं कारण उसे केवल विश्राम की ही जरूरत थी, खाने की नहीं। हमें दोनों की गरज है, इसलिए हम लोग ईश्वर से एक कदम आगे हैं!

इसमें शक नहीं कि छुट्टी भी आनन्दवर्द्धक वस्तु है और भोजन करना भी। इसका कारण बतलाने की जरूरत नहीं। पर छुट्टी लेने पर खाना कैसे मिले? इस एक भारी समस्या पर आज

हमें विचार करना है। जब काम करने पर भी भरपेट खाना नहीं मिलता, तो काम छोड़ने पर वह कैसे मिल सकेगा?

गर्मी के दिनों में

त्योहारों और रविवार की छुट्टियों के सिवा गर्मी की लम्बी छुट्टियाँ इस देश के लिए अंग्रेजों की देन है। 'विद्या और अविद्या, दोनों मिलकर पूर्ण साधना बनती है'—उपनिषद की इस शिक्षा से गर्मी की छुट्टी का अच्छा मेल बैठता है। अविद्या को एक साथ तीन माह का मौका मिलता है। बच्चों के सिर पर नाहक लादी गयी विद्या को उठाकर पटक देने का अवसर उनको मिलता है। विद्यादेवी शत-प्रतिशत अंक मिले बगैर किसी को पास नहीं कर सकती, पर विद्या और अविद्या, दोनों के मिल जाने से ३३ प्रतिशत से ही काम चल जाता है।

शिक्षकों के काम के घण्टे

नागपुर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक कहते हैं—"सप्ताह में २० घण्टों से अधिक पढ़ाना हम लोगों के लिए सम्भव नहीं।" प्रान्त की सरकार उनसे कहती है—"आज देश को अधिक श्रम की जरूरत है, आप लोग सप्ताह में २४ घण्टे पढ़ाइए।" इस विवाद का कैसा अन्त हुआ, पता नहीं। पर दोनों पक्ष १८ घण्टे कबूल कर लें, तो विवाद मिट सकता है। सप्ताह के दिन छह और रोज के घण्टे तीन—छह तियाँ अट्ठारह—इस तरह हिसाब ठीक बैठ सकता है। अट्ठारह का अंक इतना शुभ है कि उसे व्यासजी की भी सम्मति मिल जायेगी। लेकिन यह आग्रहमात्र कोई न रखे कि आज के घण्टे की तरह शिक्षकों का घण्टा भी पूरे साठ मिनटों का हो। कारण, किसी एक विषय पर बच्चों के मन की एकाग्रता टिकने के बारे में अभी तक का अनुभव साठ मिनट के घण्टे के अनुकूल नहीं है। धार्मिकों ने यह निर्णय दिया है कि नवीन विषय नये मुहूर्त पर शुरू करना चाहिए। मुहूर्त यानी दो घड़ी या अड़तालीस मिनट। इस निर्णय के अनुसार चालीस से पचास मिनट के दरमियान कहीं भी घण्टा हुआ करता है।

तो शिक्षकों को कितने घण्टे काम करना चाहिए? मेरा विचार है कि शिक्षकों को रोज विद्यार्थियों के साथ तीन घण्टे शरीरश्रम का काम करना चाहिए और तीन घण्टे वे विद्यार्थियों को

बौद्धिक शिक्षण दें। इस तरह छह घण्टे पर्याप्त होंगे। मैंने तो दस घण्टे से कम काम किया नहीं। गांधीजी के पास रहते थे तब शरीरश्रम के लिए आठ घण्टे तो देना ही पड़ता था। उसके अलावा अध्ययन-अध्यापन का काम दो-चार घण्टे चलता था। परन्तु साधारण शिक्षक को अपनी निजी जिम्मेवारियाँ भी होती हैं, इसलिए छह घण्टे पर्याप्त हैं।

शिक्षक और शरीरश्रम

सप्ताह में २० घण्टे से ज्यादा पढ़ाना सम्भव नहीं, यह बात मैं भी सहज ही मान सकता हूँ। कारण पढ़ाने में मस्तिष्क, फेफड़े और गले को कितनी मेहनत करनी पड़ती है, इसका मुझे अनुभव है। इन दिनों मैं एक घण्टे से अधिक पढ़ाने की मजदूरी नहीं कर सकता। अगर ईमानदारी से और विश्वासपूर्वक पढ़ाया जाये, तो ऐसा ही अनुभव होगा। फिर भी यह सुझाव मानने में तो कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए कि प्रतिदिन तीन घण्टे पढ़ाया जाये और तीन घण्टे कोई भी उत्पादक-श्रम किया जाये। पर चूँकि शरीरश्रम शिक्षक का धर्म नहीं माना गया, इसलिए स्वधर्मनिष्ठ शिक्षक इस बात के लिए सहसा तैयार नहीं होंगे।

मैंने यह लेख विनोद में लिखा है, पर मैं इसमें मजदूर की वेदना छिपा नहीं सका। इसके लिए मैं विवश हूँ। हिन्दुस्तान में हजारों वर्षों से अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है, पर पाठशालाओं को लम्बी छुट्टी देने की योजना किसी को नहीं सूझी। अंग्रेजी विद्या के आरम्भ के साथ ही शिक्षा में छुट्टियों का प्रवेश हुआ। पहले साधारणत; सप्ताह में एक दिन का अनध्याय होता था। इसके सिवा शिष्टों का आगमन और विशेष प्रसंग अपवाद माने जाते थे। पर अब तो सालभर में जैसे-तैसे ६-७ महीने पाठशाला चलती है। चूँकि आज की पाठशालाएँ बन्दीगृह-सी बन गयी हैं, इसलिए छुट्टियों की आवश्यकता स्पष्ट है। यानी उस बारे में शिकायत करने का कोई कारण ही नहीं।

छुट्टियाँ बरसात में हों

पर लम्बी छुट्टियाँ यदि देनी ही हों, तो कब दी जायें, इस सम्बन्ध में पुनर्विचार होना जरूरी है। ऐसी छुट्टियाँ आजकल गर्मी के दिनों में देने का रिवाज चल पड़ा है। यहाँ की गर्मी साहबों के

लिए असह्य थी, इसलिए उन्होंने गर्मी में यह छुट्टी रखी। उन दिनों वे ठण्डी जगह में जाकर रहते थे, पर अब तो उसका कोई सवाल ही नहीं। साहब तो अब हिन्दुस्तान छोड़कर सदा के लिए इंग्लैण्ड की ठण्डी हवा में रहने के लिए चले गये हैं। इसलिए अब गर्मी की छुट्टी बदलकर बरसात में कर देना ठीक होगा। बरसात में किसानों के खेतों में गोड़ाई आदि काम होते हैं उस समय बच्चे खेतों पर काम कर सकेंगे। एक साथ डेढ़-दो माह की छुट्टी न देकर खेती की जरूरत देखकर हर बार १५-१५ दिन की छुट्टी दी जा सकती है। गर्मी में दिन बड़ा होता है। उस समय खेतों में भी काम नहीं रहता। उस समय छुट्टी देने का मतलब है, बच्चे या तो धूप में इधर-उधर भटकें या घर पर लम्बी तानें। इसके सिवा दूसरी कोई गति नहीं। इसलिए यह परिवर्तन अत्यावश्यक है। साहबों का राज्य तो चला गया, अब किसानों का राज्य आ गया है, यह बात सबके ध्यान में आनी चाहिए।

४. इतिहास-शिक्षण

१. इतिहास-अध्ययन के दुष्परिणाम

झूठ इतिहास के कारण पूर्वग्रह

आजकल जो तालीम दी जाती है, उसमें ऐसे तो कई दोष हैं, लेकिन एक बड़ा भारी दोष यह है कि उसमें लोगों के दिमाग में इतिहास के नाम पर कई चीजें ठूँसी जाती हैं। तालीम में सबसे बड़ा भारी खतरा इस इतिहास-शिक्षण ने खड़ा किया है। इतिहास यानी 'इति ह आस’ यानी इस प्रकार हुआ। परन्तु आज तो इतिहास में जो नहीं हुआ वह भी लिखा जाता है। इतिहास जितने झूठे होते हैं, उतनी कल्पित कहानियाँ भी झूठी नहीं होतीं, क्योंकि कहानी लिखनेवाला पहले ही लिख देता है कि सारी कहानी कल्पित है। इतनी तो सचाई उसमें होती ही है। किन्तु इतिहास लिखनेवाला दावा करता है कि ‘मैंने सारा सत्य लिखा है और दूसरा झूठ लिखता है।' क्या आप समझते हैं कि इतिहास नाम की जो चौज पढ़ायी जाती है, वह भी कोई चीज है? ये जो दो महायुद्ध हो गये, उनका इतिहास जर्मनी ने एक ढंग से लिखा होगा, तो रूस, इंग्लैण्ड ने दूसरे ढंग से। किसने क्या गुनाह किया, क्या अन्याय किया, कौन-सी घटना कब घटी, यह सब झूठा लिखा

जाता है। महत्त्व के कागज जला दिये जाते हैं और फिर सबूत के लिए झूठे कागज तैयार किये जाते हैं।

अभी अखबार में एक मजेदार खबर पढ़ी कि रूस का इतिहास दुरुस्त करके फिर से लिखा जायेगा। फिर से लिखेंगे, इसका मतलब क्या होता है? क्या स्टालिन मर गया, सो नहीं मरा, ऐसा लिखेंगे? स्टालिन अपने जमाने में इतिहास का महागौरव बना। वह सब-का-सब झूठा समझकर फिर से लिखा जायेगा। महात्मा गांधी एक क्रान्तिविरोधी व्यक्ति हैं, ऐसा उनके इतिहास में लिखा जाता था। अब लिखा जायेगा कि वे एक महापुरुष हो गये। ईश्वर की इतनी कृपा है कि 'वे हुए ही नहीं' ऐसा नहीं लिखते। इतना बदल वे नहीं करते, यही उनकी कृपा है।

सारांश, इतिहास अपनी-अपनी मर्जी से लिखे जाते हैं। लोगों के दिमाग विशेष प्रकार के बनाने के लिए पुरानी घटनाओं का उपयोग कर वह लोगों के सामने रखा जाता है। यह सारा इतिहास बच्चों को सिखाया जायेगा। इतिहास बनानेवाले मर गये और विद्यार्थियों के दिमाग कहानियों के बोझ के नीचे दबकर मर रहे हैं। आखिर मरे हुए राजाओं की नामावली रटने की जरूरत ही क्या है? कौन-सी घटना कब घटी, यह सुनने की कोई जरूरत नहीं। कितने राजा हुए, कोई हिसाब नहीं है। इन पेड़ों पर जितनी पत्तियाँ हैं, उतने राजा हो गये। उनका इतिहास पढ़कर क्या करेंगे? इतिहास के नाम से लोगों के दिमाग ढाले जाते हैं। परिणामस्वरूप कुल प्रजा पूर्वग्रह से पीड़ित होती है और पुरुषार्थहीन भी बनती है।

हम इतिहास बनानेवाले!

भूदान का काम जब शुरू हुआ, तब लोग पूछने लगे कि इस तरह माँग-माँगकर काम कब पूरा होगा? और इससे मिलेगा भी क्या? इतिहास में कभी ऐसा हुआ भी है? तो हम कहते हैं कि इतिहास में बाबा भी कहाँ हुआ था? बाबा ही नया जनमा है, इसलिए वह नया इतिहास बनाता है। तुम लोग इतिहास बनानेवाले हो या पुराना इतिहास पढ़नेवाले? कर्तृत्व शून्य बनकर पुराना इतिहास पढ़ना और अनुमान निकालना हमारा धन्धा नहीं! इतिहास में जो नहीं हुआ, वह कभी नहीं हो सकता, ऐसा क्यों कहते हैं? रामचन्द्रजी ने बंसी नहीं बजायी, इसलिए क्या कृष्ण ने भी

नहीं बजायी? रामचन्द्रजी ने जो किया, वही कृष्ण को भी करना था, तो कृष्ण का जन्म ही क्यों होता? पुराने लोगों ने जो किया, वही करना था, तो हम लोगों ने जन्म ही क्यों पाया? परमेश्वर ने हमें जन्म दिया, तो हमने कौन-सा पुरुषार्थ किया? इसलिए पुराने इतिहास का कोई भी दबाव हमारे दिमाग पर नहीं पड़ना चाहिए। एक तो ये सारे इतिहास एकपक्षीय होते हैं। कह नहीं सकते कि उनमें सत्यता कितनी है! हमारा जन्म तो नये सत्य की सिद्धि के लिए, नये प्रयोग के लिए है। इसलिए विद्यार्थी और नागरिकों को इतिहास का दबाव दिमाग पर से हटा देना चाहिए।

इतिहास के अभिनिवेश से ही झगड़े

बल्लारी कर्नाटक में है या आन्ध्र में? यह जानना हो, तो इतिहास क्या कहेगा? कुल आन्ध्रवासी इतिहास का निरीक्षण कर मान चुके हैं कि बल्लारी आन्ध्र में है। कुल कन्नड़, निरीक्षण कर चुके हैं कि वह कर्नाटक में है। अब क्या करोगे इतिहास को? भूगोल क्या कहता है? बल्लारी तो जिस जगह है, उसी जगह है। अब इतिहास से क्या सिद्ध होगा? हरएक प्रान्तवाले अपने-अपने प्रान्त की हद दूसरे प्रान्त में घुसाते हैं। जेसे किसान अपनी हद एक हाथ दूसरे के खेत में बढ़ाकर उसे बढ़ाना चाहता है। कैसा हास्यास्पद प्रयत्न है! सामने बैठे बच्चे यह सुनकर हँस रहे हैं, पर आपकी असेम्बली में जोरों के साथ ये दावे कहे जाते हैं। जानते हैं कि वे सब निकम्मी बातें हैं, लेकिन एक भूत का आवेश जो हो जाता है। इसका कारण यह इतिहास ही है। ये पुराने इतिहास जिस ढंग से लिखे जाते हैं, उसी ढंग से पढ़ते हैं, तो अपना-अपना अभिमान बनता है। उसमें सत्यनिष्ठा टिक नहीं सकती।

इतिहास का सार ग्रहण करें

जब तक इतिहास का यह आग्रह और अभिनिवेश टलता नहीं, तब तक प्रगति नहीं कर सकेंगे। पुराना इतिहास देखकर काम करना चाहेंगे, तो परिणाम ऐसा ही होगा। इसलिए सचमुच प्रगति करना चाहते हों, तो इस युग में पुराने इतिहास का सार लेकर असार छोड़ देना चाहिए। इतिहास का बिल्कुल उपयोग नहीं, ऐसा हम नहीं कहते। भगवान व्यासजी ने एक सुन्दर इतिहास 'महाभारत' लिखा है। मनुष्य के विविध स्वभाव किस प्रकार हो सकते हैं, इस पर अपना दर्शन

लिखा है। इस प्रकार के इतिहास से लाभ हो सकता है। लेकिन इतिहास का भूत सिर पर दबाव डालेगा, तो समाज की प्रगति कभी नहीं होगी। यह ठीक है कि पुराने लोगों ने जो पराक्रम किये, उसे समझने से ताकत आती है। लेकिन पुराने लोगों ने अच्छे काम किये, वैसे बुरे काम भी किये। तो, उनकी कुल-की-कुल चीजों का भार दिमाग पर क्यों उठाया जाये? उनकी अच्छी चीजें लेकर बुरी चीजें छोड़नी चाहिए। अगर हम पुराने इतिहास से चिपके बैठेंगे तो यह विवेकशक्ति क्षीण हो जायेगी।

इतिहास में बुराइयों का रेकॉर्ड

विद्यार्थियों से कहा जाता है कि इतिहास में रीड बिटवीन द लाइन्स—बीच का पढ़ा करो और छपी हुई पंक्तियों को छोड़ दो। बीच में जो कोरा भाग है, वही पढ़ो। एक भाई ने एक सुन्दर काव्यग्रंथ हमें भेजा। उसमें बीच-बीच में थोड़ा लिखा था और चारों ओर बहुत जगह छोड़ दी थी। सुन्दर कविता थी, लेकिन कविता के आसपास जो कोरा हिस्सा था, उसमें ज्यादा काव्य था। इसी तरह जो इतिहास लिखा जायेगा, उससे ज्यादा महत्त्व का इतिहास वह होगा, जो नहीं लिखा जायेगा। कोई माता अपने बच्चे को प्रेम से खिलाती-पिलाती है, तो उसका कोई टेलिग्राम अखबारवालों को नहीं भेजा जाता। किन्तु कहीं अगर किसी का खून हुआ या चोरी हुई, तो फौरन तार भेजा जायेगा और इतिहास में भी वह लिखा जायेगा। मानव अपनी मानवता का इतिहास लिखता ही नहीं। मानवता पर जितना प्रहार होता है, उतना ही इतिहास में लिखा जाता है। इसलिए मानवस्वभाव का ज्ञान इतिहास से नहीं हो सकता। मानवस्वभाव विरोधी जितनी घटनाएँ होती हैं, सबका उसमें 'रेकॉर्ड' होता है। और फिर जो इतिहास निर्माण होता है उसमें जिधर देखो उधर, हिंसा-ही-हिंसा दीख पड़ती है। इसलिए स्पष्ट है कि आजकल के इतिहास का ढंग ही खराब है। उसका दबाव पड़ने से शक्ति कुण्ठित हो जाती है, पुरुषार्थ मारा जाता है।

२. इतिहास का अध्यापन

मानवीय जीवन के मूल्य किस प्रकार सिद्ध होते गये और कैसे सिद्ध हुआ करते हैं, तथा हम कहाँ और कैसे आकर पहुँचे हैं—इसका स्वरूप समझना यंह इतिहास का काम है। मानव की

विवेक-बुद्धि के कन्टेन्ट्स (अन्तरसमावेश) क्या, कैसे हैं यह इतिहास पर से समझ में आता है। वह समझ में आता है तो मनुष्य की विवेकबुद्धि ठीक काम करती है और मनुष्य विवेकपूर्ण व्यवहार करने लगता है। भूतकालीन अनुभवों से कुछ सीखने के लिए इतिहास का अध्ययन करना होता है।

किसी जमाने में चोरी करनेवाले का हाथ काटने की सजा दी जाती थी। डिटरेन्ट (अटकाव) मानकर वैसी सजा बतायी थी। ऐसी सजा भारत के धर्मग्रंथों में बतायी है और कुरान में भी है। साधारणतया चोरी केवल अपने लिए नहीं बल्कि परिवार के पोषण के लिए कोई करता है। हर परिवार का रक्षण हो यह समाजवाद के अनुसार समाज का कर्तव्य है। उसके लिए अगर चोरी होती हो तो उसमें व्यक्ति का जितना दोष है उतना ही समाज का भी दोष है। इसलिए हम आज सोचते हैं कि सजा के बदले शिक्षा देनी चाहिए। जिस कारण से चोरी हुई उसका निवारण होना चाहिए। चोर को सजा देते हैं तो जिस परिवार के लिए उसने चोरी की उसे और असहाय बनाते हैं। चोर को तो आराम से जेल में तीन बार खाना मिलता है। हाथ काटने से उसका और उसके परिवार का बोझ सदा के लिए समाज पर पड़ेगा। ऐसा आज का मानसशास्त्र कहता है। लेकिन एक जमाने के मानसशास्त्र को हाथ काटना मंजूर था। वैसे ही फाँसी की सजा के बारे में भी मानस बदल रहा है।...मनुष्य की विवेकबुद्धि (कॉन्शन्स) कैसे बनी और कैसे विकसित हो रही है यह मैं बता रहा हूँ।

महाभारत का प्रसंग है। वह बड़ा धर्मग्रंथ माना जाता है। मानवी-जीवन का सर्वोत्तम इतिहास उसमें उपलब्ध है। पाण्डव द्युत में हारे। आज तो यहीं से चर्चा होगी कि द्यूत खेलना ही ठीक है या नहीं? लेकिन उस जमाने में राजा को, क्षत्रिय को द्यूत के लिए ना कहना अशोभनीय माना गया था। आज यह बात कोई नहीं मानेगा। युधिष्ठिर ने क्या किया? खुदको हार जाने के बाद द्रौपदी को द्यूत में लगाया और हार गये। द्रौपदी ने सवाल खड़ा किया खुद हारने के बाद पत्नी को द्यूत में लगा सकतें हैं क्या? तो कहा है—**भीष्म श्वेन विदुर भये विस्मित**! उस जमने के ये सारे महाज्ञानी थे। वे निर्णय नहीं दे सके। आज तो हमें यह इतना सरल मालूम पड़ता है कि बच्चा भी जवाब दे देगा! उस जमाने में जो कन्वेन्शन (परम्परा) था उसके आगे ये ज्ञानी भी नहीं जा सके!

आज हमारा विवेक आगे बढ़ा है। आज का विवेक कहता है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से लड़े यह ठीक नहीं। बचाव के लिए लड़ते हैं तो ठीक है। आक्रमण करना बुरा है। यहाँ तक हमारी विवेकबुद्धि आगे बढ़ी है। लेकिन आगे शायद ऐसा भी हो कि बचाव के लिए भी लड़ना ठीक नहीं। युद्ध किसी भी हालत में उचित नहीं। यहाँ तक विवेकबुद्धि जा सकती है।

इस तरह समाज का विवेक विकसित होता जाता है। हमारा विवेक (कॉन्शन्स) बनाने के काम में जिन-जिन लोगों की मदद हुई, उनकी जानकारी देना इतिहास का काम है। उनके उपकारों का स्मरण करने के लिए उन्होंने क्या-क्या किया यह जानना जरूरी है।

जिन्होंने समाज की विवेकबुद्धि बनाने के काम में मदद की उनकी जानकारी यानी इतिहास—ऐसी कसौटी मानी जाये तो उसके लिए (१) कुछ राज्यकर्ता काम में आयेंगे। जैसे शिवाजी। कल्याण के सूबेदार की कन्या भगाकर लाये और शिवाजी को अर्पण की। उस जमाने में वैसी पद्धति थी। शत्रु की स्त्रियों का अपहरण करने में उस जमाने की विवेकबुद्धि बाधा उपस्थित नहीं करती थी। वह लड़की सुन्दर थी। शिवाजी ने उसे ठीक से देखकर क्या कहा? मेरी माँ भी अगर ऐसी ही सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता। ऐसा कहकर उसे भेज दिया। उसे मातृवत् देखा। अकबर ने हिन्दू-मुसलमानों में शादियाँ कीं और करवायीं। (२) दूसरे कुछ महापुरुष, जिनका समाज-जीवन पर प्रभाव पड़ा (३) फिर कुछ कवि—साहित्यिक। जैसे कालिदास आदि (४) और चौथे शास्त्रज्ञ—वैज्ञानिक। मेरे पिताजी वैज्ञानिक थे। वे कहते थे कि वैज्ञानिक दयालु होते हैं! जीवन सुखकर हो इसलिए वे कितनी कोशिश करते हैं? पहले के जमाने में वृद्ध स्त्रियाँ सीते-सीते सुई कहीं रख देतीं, तो जल्दी मिलती नहीं थी। बड़ी परेशानी होती। कभी चुभने का डर भी रहता। वैज्ञानिक ने क्या किया? कैंची के सिरे पर लोहचुम्बक लगा दिया। कैंची इधर-उधर घुमायी कि लोहचुम्बक के कारण सुई झट् खींची जाती। वृद्धाओं को बड़ी सुविधा हो गयी और उनका जीवन सुखकर हो गया!

पहले के जमाने में बेहोश करने की दवाएँ थीं—अफू आदि। लेकिन उतने से काम पूरा नहीं होता था। अब क्लोरोफॉर्म निकला है। शरीर चीर देते हैं, हड्डी तोड़ देते हैं तो भी यह भलामानुस सोया रहता है। उसको पता ही नहीं चलता। मानो योगी ही हो, जिसका देह के साथ कोई सम्बन्ध

ही नहीं। क्रान्तिकारक शोध है। उससे जीवन में कितना परिवर्तन आया! तो साइन्स के कारण जीवन का स्वरूप बदल जाता है। उसके कारण पोशाक बदली, रीति-रिवाज बदले, उद्योगों का स्वरूप बदला। हजारों मील दूर से संदेश मिलते हैं। अब तो मंगल पर जाने की बात भी चली है।

इस तरह से जिन्होंने पराक्रम किया, नया-नया ढूँढ़ निकाला, और मानव का जीवन बदल डाला—ऐसे चार प्रकार के लोग समाज को मिले। आदर्श राज्यकर्ता, संत-सत्पुरुष, साहित्यिक और वैज्ञानिक। हमारा विवेक इन चारों ने बनाया है। इनकी जानकारी जिसमें मिले ऐसा इतिहास बच्चों को बताना चाहिए।

इतिहास ग्रेडेड हो क्या? ऐसा प्रश्न आता है। ग्रेडेड यानी जैसे भूगोल सिखाते हैं तो चौथी को वर्धा जिला, पाँचवीं को महाराष्ट्र, छठी को भारत और फिर दुनिया का भूगोल सिखाते हैं। क्या वैसे ही इतिहास सिखाना? यह पद्धति गलत है। हमें पद्धति यही चाहिए लेकिन उलटी चाहिए। बच्चों को प्रथम तारिकाएँ सिखाएँ, पृथ्वी नहीं। हम पृथ्वी से भी विशाल हैं। **वसुधैव कुटुम्बकम्**—अपनी पृथ्वी एक छोटा-सा कुटुम्ब है। 'क' प्रत्यय अल्पत्व सुझाता है। तारिकाएँ, चन्द्र-सूर्य प्रथम बतायें और पृथ्वी उसी का एक छोटा-सा हिस्सा है यह बतायें। ऐसा व्यापक ज्ञान प्रथम दें। व्यापक लेकिन मोटा-मोटा, स्थूल। और फिर पृथ्वी का इतिहास सिखाना। उसके बाद विशिष्ट ज्ञान देना। यानी तफसील से पृथ्वी का ज्ञान देना। प्रथम त्रिभुवन की स्थूल जानकारी, फिर त्रिभुवन की ही तफसील से जानकारी। उसमें भी अपने देश की और बारीक जानकारी। फिर प्रदेश, जिला आदि की तफसील से जानकारी देना चाहिए।

भोर में क्या होता है? सारा विश्व प्रकट होता है, लेकिन अस्पष्ट। फिर जैसे-जैसे सूरज ऊपर आता है, वैसे-वैसे विश्व अधिकाधिक स्पष्ट दीखने लगता है। ऐसा नहीं होता कि प्रथम एक टुकड़ा दीखा, फिर दूसरा। सारा विश्व एकदम दीखने लगता है। प्रथम अस्पश्ट फिर सूर्योदय पर तफसील से। वैसे ही प्रथम विश्व का स्थूल इतिहास सिखाना, फिर तफसील से बताना! माँ क्या करती है? गोद के बच्चे को चन्द्र दिखाती है। तारे दिखाती है। सुबह सूर्य दिखाती है। बच्चे को एकदम व्यापक दर्शन कराते हैं वैसे इतिहास-भूगोल सिखाना चाहिए।

इतिहास में प्रगति (इव्होल्यूशन) होती गयी उसमें एक बात ध्यान में आती है। दो-ढाई हजार साल पहले के जमाने में सारी दुनिया में धर्म-संस्थापक पैदा हुए। बुद्ध-महावीर, कन्फ्यूशियस, लाओत्से, ईरान में जरतुष्ट्र, आगे ईसा! करीब एक ही जमाने में सब हुए। सब ओर धर्म-स्थापना की प्रेरणा दीख पड़ती है। इन लोगों को एक-दूसरे की जानकारी भी नहीं थी। फिर धर्म-प्रेरणा समाप्त होकर सब ओर संतों का आविर्भाव हुआ। महाराष्ट्र में संत हुए, भारतभर संत हुए। फिर यूरोप का इतिहास पढ़ा तो उधर भी ऐसे ही सेंट फ्रान्सिस जैसे संत हुए, यह ध्यान में आया। प्रथम धर्म को प्रधानता देनेवाला युग था फिर भक्ति को प्रधानता मिली। आगे सब ओर राष्ट्रीयवाद का युग आया। अपना देश स्वतंत्र हो यह प्रेरणा पिछले सौ-दो-सौ साल से सब ओर दीख रही है। अभी भी चली है। दुनियाभर स्वतंत्रता की लहर का इतिहास चला है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आगे क्या? आगे कौन-सा युग आयेगा? आगे जागतिक युग आयेगा। उसके लिए क्षुद्र अभिमान छोड़ने होंगे। मराठी का अभिमान, गुजराती का अभिमान, जाति का अभिमान, धर्म का अभिमान और अन्त में भारत का अभिमान भी छोड़ना होगा। नये युग को जरूरत है 'जय जगेत्' की। विश्व एक राष्ट्र, भारत प्रान्त और महाराष्ट्र जला—ऐसा मानदण्ड (स्केल) बदलना होगा। ऐसी व्यापक दृष्टि इतिहास-शिक्षण में आनी चाहिए।

अभी नामदेव का ७००वें वर्ष का उत्सव मनाया जा रहा है। अब बच्चों को पूछा जायें कि नामदेव के जमाने में सारी दुनिया में कौन-कौन महापुरुष थे, तो वे बता सकेंगे? उस जमाने में दक्षिण में कौन महापुरुष थे, बंगाल में कौन थे, पंजाब में कौन थे, चीन में कौन थे यह बच्चों को मालूम होना चाहिए। नामदेव सारे भारत में घूमे। उनकी एक समाधि पंढरपुर में है। उसे काल्पनिक ही मानना चाहिए। उनकी समाधि तो पंजाब में है। नामदेव के दो सौ साल बाद नानक हुए। गुरु ग्रंथसाहब में नामदेव के भजन समाविष्ट हैं। नामदेव के बाद ३०० साल से वह ग्रंथ बना। मतलब उस समय तक उनके भजन लोगों में गाये जाते होंगे। नामदेव का पराक्रम अदभुत है। पंजाबवालों को विठ्ठल किसने सिखाया? नामदेव ने। मीराबाई भी कहतीं हैं— **विठ्ठलवरने वरी**। नामदेव ने ही मीराबाई को विठ्ठल सिखाया। ऐसे उन नामदेव के जमाने में कौन-कौन सत्पुरुष, साहित्यिक आदि थे यह चित्र एकदम सामने आना चाहिए। नामदेव के जमाने में वेदांतदेशिक नामक महान

आचार्य दक्षिण में हो गये। जन्म १२६६ और मृत्यु १३७१ यानी १०५ साल जीये। नामदेव १२७० में जनमे। यानी नामदेव के समकालीन थे। उन्होंने सौ से अधिक ग्रंथ लिखे। लेकिन महाराष्ट्र में उनकी जानकारी नहीं! वह मालूम होना चाहिए।

रात में हम आकाश देखते हैं। तो एक पट्टा नहीं दीखता सारा आकाश दीखता है। नामदेव तेरहवीं शती का आकाश! यह बारहवीं शती का आकाश, यह चौदहवीं शती का आकश—इस तरह इतिहास समझ में आना चाहिए। फिर जो तारे नजदीक हैं वे ज्यादा स्पष्ट और स्थूल दिखायी देंगे। जो नजदीक के होंगे उनके बारे में विशेष जानकारी मिलनी चाहिए, यह सहज ही है। लेकिन इतिहास की जानकारी में कुल-के-कुल भी एक साथ आने चाहिए। यह थोड़े में मेरी इतिहास की दृष्टि है।

राग-द्वेष का रेकॉर्ड क्यों पढ़ते बैठेंगे?

हम जो पिछला इतिहास सिखाते हैं उसमें राजाओं के राग-द्वेष पर आधृत लड़ाइयों की बातें हमें छोड़नी होंगी। यह समझना एक भूल है कि इतिहास यानी राजा-महाराजाओं के जीवन की सन्-संवत्वार घटनाएँ। जिन राजाओं ने पंजाब पर राज्य किया, आज कोई पंजाबी उन्हें नहीं जानता, लेकिन गुरु नानक को सब जानते हैं। बंगाल के सेन और पाल राजाओं को कोई नहीं जानता, चैतन्य महाप्रभु को सब जानते हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानदेव-तुकाराम के नाम को कौन हटा सकता है? इसलिए इतिहास में इन महापुरुषों को महत्त्व का स्थान दीजिए और राजाओं को थोड़े में निपटाइए। लेकिन ऐसा होता नहीं।

शिवाजी महाराज के पिता का नाम शाहू था। उन पर एक फकीर की कृपा हुई, इसलिए वे 'शाहजी' के नाम से पुकारे जाने लगे। यह फकीर उस जमाने का एक सूफी संत था। उन दिनों लोगों को इन लोगों ने इसलाम-धर्म सिखलाया। राजाओं ने तो मारकाट का काम किया। उनको धर्म से कोई मतलब नहीं था। उन्होंने तो सोमनाथ का मन्दिर तोड़ा और लूटा। कुरान में तो जगह-जगह लिखा है कि जबरदस्ती से धर्म का प्रचार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह बात कोई नहीं सिखाता। समर्थ रामदास स्वामी ने देखा कि ये सूफी संत शेखसादी का 'करीमा' लोगों को सुनाते हैं और उससे लोग उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। तो उन्होंने उसी ढंग पर अपने 'मनाचे श्लोक'

लिखे। उदाहरण के लिए—**मना सज्जना भक्तिपंथें चि जावें**। रामदास ने इसमें एक अक्षर अधिक जोड़ा। अब हममें से कितने लोगों को यह जानकारी है कि मराठी के 'मनाचे श्लोक' की रचना 'करीमा' पर आधृत है? इसलिए मैं कहता हूँ कि इतिहास या तो नयी पद्धति से लिखा जाये या फिर उसे छोड़ ही दिया जाये।

आज का इतिहास-इति-हास

आज कैसा इतिहास सिखाया जाता है उसका नमूना मेरे पास आया है। महाराष्ट्र के शिक्षामंत्री पूछने आये थे कि इतिहास-शिक्षा में किस तरह का परिवर्तन किया जाये? तो मैंने कहा कि “पहले क्या चल रहा है उसका पता चले, तब कुछ कह सकता हूँ।” उन्होंने इतिहास की किताब मुझे दी, वह करीब ६२२ पृष्ठों की थी। इन ६२२ पृष्ठों में सर्वप्रथम बौद्धधर्म और उसका थोड़ा-सा परिचय है। उसके बाद सुलतानशाही, खिलजी-वंश, लोदी-वंश, मुस्लिम-शासन के सोपान, बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शहाजहाँ, औरंगजेब, और फिर छत्रपति शिवाजी, राजाराम, ताराबाई और पुर्तगीज, फ्रेंच और उसके बाद हेस्टिंग्ज तथा मिण्टो, बेंटिक्स, डलहौजी, हार्डिंग, डफरिन, कैनिंग, कर्जन आदि। यह बताने के मानी हुए—**केशवाय नमः , नारायणाय नमः** आदि पूरे २४ नामों को कहकर एक के बाद एक को नमस्कार।

सबसे आश्चर्य की बात तो यह कि इतनी बड़ी ६२२ पृष्ठों की पुस्तक में ज्ञानदेव, तुकाराम, नामदेव का वृत्तांत केवल ७ पंक्तियों में दिया गया है। वहाँ लिखा है—“ज्ञानेश्वर से तुकाराम-रामदास तक महाराष्ट्र में जो संत हुए, उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक भावनाओं में एक प्रकार की जाग्रति लायी। लोगों में दिन-दिन यह भावना बलवती हो चली कि संतों के धार्मिक उपदेशों में ‘स्वधर्म' नाम की कोई वस्तु है और हमें उसका पालन करना चाहिए। उसका रक्षण करना चाहिए। इस बढ़ती हुई भावना का फल यद्यपि तत्काल दृष्टिगोचर नहीं हुआ, तो भी शिवाजी ने जब ‘स्वराज्य-स्थापना' का काम हाथ में लेकर स्वधर्म रक्षण का काम लोगों के सामने रखा, तो तत्काल उन्हें साधारण जनता की भी मदद मिलने लगी।' ६२२ पृष्ठों में महाराष्ट्र के संतों के बारे में इतना ही वृतान्त है। यहाँ ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, मोरोपंत, मुक्तेश्वर, श्रीधर, महिपति आदि जो महात्मा हो गये, उन्होंने महाराष्ट्र का मानस बनाया। आज भी लाखों लोग उनके

नाम लेकर ज्ञानदेव-तुकाराम, ज्ञानोबा-तुकाराम कहकर नाचते-गाते हैं। फिर भी उनके बारे में इतना-सा ही मजमून!

फिर सनावली लिखी गयी है कि किस समय कौन-सा महत्त्व का काम हुआ। उसमें ज्ञानदेव का जन्म किस समय हुआ, इसकी जानकारी नहीं। 'ज्ञानेश्वरी' कब लिखी गयी, इसका पता नहीं। एडिनबरो कब आया, उसका जन्म कब हुआ, किस प्रदेश में कब अकाल पड़ा, प्रिंस ऑफ वेल्स की भेंट कब हुई, इन सबकी तारीखें ठीक-ठीक दी गयी हैं। ऐसा इतिहास मराठी भाषी बालकों को सिखलाया जाता है। सचमुच यह गुलामी की मनोवृत्ति है। इसे शिक्षक लोग कब उठाकर पटकेंगे?

(एक बार इन चतुर्विध प्रकार के लोगों में से सत्पुरुषों की एक सूचि सहज बोलते-बोलते विनोबाजी ने बतायी। यह सूचि केवल सूचकमात्र है। इसे सम्पूर्ण न माना जाये—सं.)

१. भारत के बाहर के-

इब्राहीम, मूसा, मुहम्मद पैगंबर, अबूबकर, खलीफा उमर, हसन-हुसेन, जलालुद्दीन, रूमी, शेख सादी, ख्वाजा साहब। ईसा, जॉन द बॅप्टिस्ट, सेंट पीटर, सेंट जॉन, सेंट पॉल, सेंट फ्रान्सिस ऑफ ॲसिसी, सेंट टॉमस। सॉक्रेटिस, प्लेटो, जरतुष्ट्र। लाओत्से, कन्फ्यूशियस।

२. प्राचीन भारतीय-

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वसिष्ठ, वामदेव, याज्ञवल्क्य, मनु। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ। नानक, गुरु अर्जुन, गुरु गोविन्द, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, नरसिंह मेहता, मीरा, दादू, लल्ला, चैतन्य महाप्रभु, शंकरदेव, माधवदेव, जगन्नाथदास। ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास। विद्यारण्य, बसवेश्वर, पुरंदरदास। पोतना, त्यागराज। तिरुवल्लूवर, माणिक्कवाचकर, नम्मालवार, आंडाल। एळुत्तच्छन्।

३. आधुनिक भारतीय-

रामकृष्ण परमहंस, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, श्रीअरविंद, रवींद्रनाथ। दयानंद, गांधीजी, रानडे, तिलक, रामतीर्थ, एनी बेसेंट, रमणमहर्षि...आदि।

इनके चरित्र और वचन बच्चों को सिखाने चाहिए। और उन वचनों के द्वारा नीति- उपदेश बच्चों को मिलना चाहिए।

३. प्रश्नोत्तर

प्रश्न : इतिहास विधायक विज्ञान हो या निषेधक विज्ञान?

उत्तर : इतिहास कोई विज्ञान नहीं। उसे 'विज्ञान' कहना गलत है। इतिहास यानी जिसे आप अपनी कल्पना से ग्रहण कर सकते हैं वह। आप इतिहास लिखते हैं। जैसे लोहचुम्बक लोह-कणों को खींचता है वैसे ही आप भी उस इतिहास में से अपनी दृष्टि से खींच लेते हैं। तब उसे 'विज्ञान' कैसे कहा जा सकता है? विज्ञान आपकी मर्जी पर निर्भर नहीं रहता। अर्थात् जो बदला नहीं जा सकता, वह विज्ञान है। हाईड्रोजज और ऑक्सीजन मिलकर पानी बनता है। वह इष्ट है या अनिष्ट, यह आप तय नहीं कर सकते और न बदल ही सकते हैं। जबकि इतिहास की घटनाओं में से हम सारासार-विवेक कर सकते हैं। वह आपकी इच्छा पर निर्भर होता है।

प्रश्न : वैज्ञानिकों के विषय में बताना हो तो विकास सम्बन्धी कौन-सी भूमिका अपनायी जाये?

उत्तर : कौन-सा सिद्धान्त योग्य है और कौन-सा अयोग्य, यह तय करने की बुद्धि हममें नहीं। कारण हम वैज्ञानिक नहीं हैं। वैज्ञानिकों ने कौन-कौन-से शोध किये और बाद के वैज्ञानिकों ने उनमें से कौन-कौन-से गलत करार दिये तथा नये जोड़े, यह सारी जानकारी एकत्र करना इतिहास का काम है। उसमें कौन-से शोध योग्य थे और कौन-से अयोग्य, यह हम नहीं बता सकते। हम तो केवल ऐतिहासिक जानकारीभर दे सकते हैं। सच क्या और झूठ क्या, यह तो वैज्ञानिक ही तय करेंगे।

प्रश्न : आप कहते हैं कि मैं वर्तमान संशोधन के लिए इतिहास-संशोधन करता हूँ। अत: वर्तमान संशोधन का स्वरूप अधिक स्पष्ट करके बताइए।

उत्तर : मैं इतिहास का संशोधन आदि कुछ नहीं करना चाहता। वह तो इतिहासकार राजवाड़े जैसे लोगों का काम है। उन्होंने खोज-खोजकर इतिहास ढूँढ़ निकाला। पुराने पत्र, 'बखर'

(ऐतिहासिक वृत्तान्त) पढ़े और आज भी वही क्रम चल रहा है। लेकिन इसमें जितना सर्वमान्य है, जितना निर्विवाद है, उतना ही बताना चाहिए। जिस इतिहास के विषय में वाद-विवाद है, उसे न बताया जाये। उसे संशोधन के लिए खुला रखें।

प्रश्न : सम्पूर्ण समाज के कर्तृत्व का भाग इतिहास में कितना और कहाँ तक आना चाहिए?

उत्तर : प्राय: समाज की जानकारी यानी उस जमाने के बड़े लोगों की जानकारी होती है क्योंकि समाज उन्हीं के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए उस जमाने के बड़े लोग कैसा बर्ताव करते थे और उन्होंने लोगों को क्या सिखाया, मुख्यतया यही बतलाना पड़ता है। लेकिन यदि कुछ आन्दोलन हुए हों, तो उनकी जानकारी भी दी जाये। जैसे मांसाहार-त्याग का आन्दोलन हुआ। उसमें कुछ समाज भी दाखिल हुए। लिंगायत, शैव और महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय मांस नहीं खाता। गुजरात का कृषक भी मांस नहीं खाता। इस तरह पूरे समाज के समाज उसमें दाखिल हुए। पूरे समाज की ऐसी कुछ हलचलें हुई। इन्हें आप बता सकते हैं।

प्रश्न : क्या इतिहास से केवल स्फूर्ति ही ली जाये या संकेत भी?

उत्तर : इतिहास से 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं' दोनों का पता चलता है। आपके पिताजी ने जो कुछ अच्छा किया, उसे आप करें। उन्होंने जो भूलें कीं, उन्हें सुधारे। मान लीजिए, आपके पिताजी ने घर बनाया और उसमें खिड़की बनवायी। पर आपके ध्यान में आया कि यहाँ यह खिड़की लाभप्रद नहीं क्योंकि वह उत्तर की ओर है। इसलिए घर में सूर्य की किरणें नहीं पहुँचतीं। तो पूर्व की ओर दीवाल में छेद बनाकर खिड़की बैठायें। आपके पिताजी की सम्पत्ति है इसलिए आपको वैसा करने का पूरा अधिकार है।

प्रश्न : इतिहास में वैज्ञानिक और वास्तववादी दृष्टि का अधिक मूल्य है या आध्यात्मिक, काल्पनिक दृष्टि का?

उत्तर : यह प्रश्न 'आइडियालिस्टिक' और 'रियालिस्टिक' इन दो शब्दों का अनुवाद करके पूछा है। मान लिया गया है कि वैज्ञानिक वास्तववादी होता है, जबकि आध्यात्मिक काल्पनिक। किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। अध्यात्म ही वास्तव है और विज्ञान भौतिक या स्थूल

है। वह परिवर्तनशील है। कुछ मूल्य अपरिवर्तनीय हुआ करते हैं तो कुछ बदलनेवाले। इतिहास में न बदलनेवाले मूल्यों पर जोर दिया जाता है तो 'शील' बनता है, ‘चरित्र' बनता है और ‘निष्ठा’ बनती हैं इसलिए बदलनेवाली वस्तुएँ इतिहास में नहीं रखनी चाहिए, फिर भले ही वे अध्यात्म ने मानी हों या न मानी हों।

प्रश्न : हिन्दुस्तान के इतिहास का हिन्दू-काल, मराठा-काल, मुसलमान-काल, ब्रिटिश-काल ऐसा वर्गीकरण करना उचित है या अनुचित?

उत्तर : यदि हम भारत के इतिहास के इस प्रकार 'काल' करने लगें तो सारा इतिहास ही कालग्रस्त हो जायेगा। इतिहास की पुस्तक में, अकबर के काल में, एक छोटा-सा अनुच्छेद होता है—‘तुलसीदास नाम का एक अच्छा साहित्यिक और धार्मिक पुरुष हो गया।‘ चार-पाँच पंक्तियाँ होती हैं। इस पर कोई भी पूछ सकता है कि अकबर के काल में तुलसीदास हुए या तुलसीदास के काल में अकबर? आखिर इसका निर्णय कैसे किया जाये? जो शाश्वत है, आज तक है, उसे आप गौण बनायेंगे और जो हो गया है यह बिना कहे मालूम ही न पड़े, उसे मुख्य बनायेंगे? तुलसीदासजी की जानकारी आज पाठशाला में न दी जाये, तो भी घर-घर आपको मिलनेवाली ही है। पर अकबर की जानकारी आप बताते हैं, केवल इसीलिए हमें उसका पता चलता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि राजपुरुष यदि महान हों—जिनसे देश में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ हो, जैसे सम्राट् अशोक या छत्रपति शिवाजी—तो उनकी जानकारी अवश्य देनी चाहिए। पर उसे ‘मराठों का काल’ या और ‘किसी का काल' कहना सर्वथैव अव्यवस्थित है।

मैं बंगाल में घूम रहा था। वहाँ के स्कूलों का इतिहास मैंने देखा तो उसमें महाराष्ट्र के ताराबाई की जानकारी दी गयी थी। बंगाल के लोगों को ताराबाई की क्या जरूरत? उन्हें तो ज्ञानदेव-तुकाराम की जानकारी देनी चाहिए। पर उस पुस्तक में ज्ञानदेव-तुकाराम हैं ही नहीं; शिवाजी, संभाजी और ताराबाई हैं। ताराबाई से उन्हें क्या मुक्ति मिलनेवाली है? ऐसी व्यर्थ जानकारी नहीं लादनी चाहिए।

अभी देखिए न, महात्मा गांधी बड़े महापुरुष हो गये। उन्होंने अपनी आत्मकथा वास्तव में अत्यन्त संक्षेप में लिखी। परन्तु आज उसको भी और संक्षिप्त किया गया है और वही खपती है। इस तरह जब गांधीजी की यह दशा है तो औरों की तो बात ही क्या? आगे सौ वर्ष के बाद आप गांधीजी की दो-चार बातें ही बतायेंगे। सारा चरित्र बताने बैठेंगे, तो लोग कहेंगे कि 'हमारे पास नये चरित्र बहुत-से हैं। हम पुराने चरित्र पढ़ते नहीं बैठेंगे।'

प्रश्न : 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' के सिद्धान्त का और स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर : ज्ञात से अज्ञात की ओर जाया जाता है। छोटा बच्चा माँ की गोद में है। उसके लिए आपकी अलमारी में स्थित घी का डिब्बा अधिक निकट होगा या चन्द्र? निकट का कौन है? आपके मतानुसार आपकी अलमारी निकट है, परन्तु छोटा बच्चा आकाशस्थित चन्द्र को ही ग्रहण करता है। यही कारण है कि 'चंदा मामा, चंदा मामा' कहकर माँ उसे पहले यही जानकारी देती है। इसलिए प्रथम व्यापक दर्शन (ब्रॉड आउटलुक) कराना चाहिए। इसी तरह ज्ञात से अज्ञात की ओर जाया जाता है।

फिर ज्ञात में से जो कुछ ठोस प्रत्यक्ष हो, उसे प्रथम लिया जाये। फिर अज्ञात का ठोस लें। पहले स्थूल फिर सूक्ष्म। ज्ञात के मानी क्या है? बच्चे को महाराष्ट्र ज्ञात है क्या? नहीं। भारत ज्ञात है क्या? नहीं। लेकिन विश्व ज्ञात है। ये तारे, चाँद, बहनेवाली हवा, वह सूर्य, वह पक्षी चिल्लाता है—यह बच्चे को ज्ञात है। छोटे बच्चे को माँ दूध पिलाने बैठी है। उसी समय फड़फड़ करता एक कौआ आता है। बच्चा दूध पीना छोड़ देता है और कौए को देखता रहता है। कारण, वह उसका सजातीय तत्त्व है। दूध श्रेष्ठ या आत्मतत्त्व श्रेष्ठ ? आत्मतत्त्व श्रेष्ठ है और वही उसका ध्यान आकृष्ट करता है। बालक की दृष्टि में कौए का महत्त्व अधिक है या शिवाजी का? कहना होगा, कौए का ही। इसलिए हम लोग बच्चों को कौआ-चिड़िया की कहानियाँ सुनाते हैं तो बच्चों का एकदम तुरन्त ध्यान खिंच जाता है। इसलिए प्रथम उन्हें चींटी, चिड़िया, चंद्रादि ताराओं की, विश्वव्यापक वस्तुओं की ही जानकारी देनी चाहिए।

प्रश्न : इतिहास की घटनाओं का अर्थ लगाते समय विचार-प्रणालियों का प्रश्न उपस्थित होता है। उसका क्या?

उत्तर : यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इतिहास की घटनाओं का अर्थ कैसे लगाया जाये, यह आपकी बुद्धि पर निर्भर है। विभिन्न प्रकारों से घटनाओं के अर्थ लगाये जाते हैं। घटनाएँ वे ही होती हैं; पर उनके अर्थ तरह-तरह से लगाये जाते हैं और विभिन्न मत बना करते हैं।

मैं पाकिस्तान (आज का बंगला देश) गया था। वहाँ के इतिहास की किताब में मैंने देखा कि औरंगजेब का वर्णन था कि वह दान दिया करता था, वह उदार था, अपने हाथों कुरान लिखता था और वह प्रति बेचकर जो कुछ मिलता, उसी पर गुजारा करता था। इस तरह वह गरीबी का अमल किया करता था। स्वयं रोज कुरान पढ़ता था। यह वास्तविकता भी है। बात गलत नहीं है। लेकिन आपके इतिहास में कया होता है? उसने 'यह तोड़ा, वह फोड़ा' लेकिन उस जानकारी का वहाँ किसी को कोई पता ही नहीं। क्योंकि वह इतिहास पाकिस्तान के लिए था।

आप क्या करेंगे यह सवाल है। औरंगजेब को आप बड़ा महत्त्व देंगे क्या? उसका हमारे जीवन पर खास परिणाम है क्या? नहीं, तो महत्त्व देने की जरूरत नहीं।

प्रश्न : क्या रामायण और महाभारत को इतिहास माना जाये? क्या उसमें की बातें पाठ्य पुस्तकों में ले सकते हैं?

उत्तर : इस विषय में हमने अभंग-व्रत में लिखा है—इतिहास कया करता है? हुए-गये वृत्त बतलाता है। और पुराण? उसका उपयोग कर शाश्वत सार बतलाता है। इसलिए भारत और रामायण ये पुराण हैं और पुराण यानी ऐतिहासिक घटनाओं का सांकेतिक उपयोग कर आपके सामने रखा गया शाश्वत-सार। दूसरे शब्दों में, इतिहास देह है तो पुराण है नित्य सनातन आत्मा। इसलिए पुराण में इतिहास से बहुत कुछ अधिक आशय हुआ करता है।

बालक ध्रुव की ही बात लीजिए। पाँच वर्ष की आयु में जंगल पहुँचा और घोर तपश्चर्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर साक्षात् भगवान सामने खड़े हो गये। उसने उनसे वर माँगा और अटल पद पा लिया। प्रह्लाद की भी ऐसी ही कथा है। पाठ्य पुस्तकों में संकलित ऐसी कहानियाँ सांकेतिक

हैं। इस प्रकार के व्यक्ति हो गये या नहीं, इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। वह गुणावतार है, इसलिए महत्त्व का है। अत: उदाहरण के रूप में वे कथाएँ बतायें। ये कहानियाँ इतिहास से अधिक महत्त्व की मानकर, पुराणकथा कहकर अवश्य बतानी चाहिए।

प्रश्न : शिवाजी महाराज ने 'हिंदवी स्वराज्य' स्थापित किया। इसका अर्थ रैयत का, प्रजा का राज्य होता है। लेकिन क्या आज के जमाने में 'हिंदवी स्वराज्य' ऐसा उल्लेख किया जा सकता है?

उत्तर : वह एक पुराना शब्द है। उसका भावार्थ इतना ही लेना चाहिए कि शिवाजी का महाराष्ट्रीयत्व संकुचित अर्थ में नहीं था। वे भारतीयतावादी थे, यही दिखलाने के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। 'हिंदवी स्वराज्य' के लिए हमने फकीरों का बाना लिया ऐसा एक वाक्य है। उन्होंने यह जो फकीरी शब्द उपयोग में लाया, उसका कारण मुसलिम समाज के प्रति उनका आदरभाव है।' फकीर त्यागी हुआ करते थे। इस शब्द में शिवाजी को अखिल भारतीय दृष्टि प्रकट होती है। संकुचित अर्थ में वे कभी महाराष्ट्रीय नहीं थे।

हमारे स्वराज्य को गांधीजी ने 'हिन्द-स्वराज्य' नाम दिया था। उन्होंने एक ग्रंथ उसके बारे में लिखा तो उसका नाम भी वही रखा। सुभाषचंद्र बोस ने ‘जय हिन्द’ बतलाया। मैं उससे आगे बढ़कर ‘जय जगत्’ बता रहा हूँ, कारण आज ‘जय हिन्द’ की कल्पना पुरानी हो गयी। हमारे यहाँ कहा है—**'वसुधैव कुटुम्बकम्'**—पृथ्वी यह हमारा एक छोटा-सा परिवार है। बाकी बड़ा परिवार तो सामने, प्रकृति में फैला हुआ ही है।

प्रश्न : हमारे बालकों, छात्रों को मानवीय सदगुणों या नैतिक गुणों की कथाएँ या चित्रपट पसन्द आते हैं। लेकिन इन गुणोंवाले महापुरुषों का चरित्र या जीवन पसन्द नहीं आता। इसके लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर : इसका कारण है। चित्रपट आँखों के सामने चित्र खड़ा करता है। चरित्र का अर्थ है अव्यक्त। अर्थात् निर्गुण। दूसरी बात, हम लोगों को चरित्र लिखना नहीं आता। संक्षेप में, चरित्र

बताया जाये तो बच्चे पढ़ेंगे। 'अमुक वर्ष में जन्म हुआ' से प्रारम्भ कर मरने तक का हाल सुनाते बैठेंगे तो बच्चे ऊब जायेंगे।

प्रश्न : आप कुछ पौराणिक दृष्टान्त इस तरह पेश करते हैं, मानो वे वास्तविक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इस पर से किसी को यह कहने की प्रेरणा हो सकती है कि आपमें हिस्टारिकल पर्स्पेक्टिव नहीं है।

उत्तर : मेरे मन में रामायण, महाभारत, भागवत, अन्य पुराण ग्रंथ पड़े हैं इसलिए उनके दृष्टानत मेरे बोलने में सहज ही आ जाते हैं। मैं बहुत बार कुरान और बाइबिल में से भी दृष्टान्त देता हूँ।

दूसरी बात यह है कि इतिहास के बारे में मेरी दृष्टि भिन्न है। जिसमें राजाओं की वंशावली और विग्रह-सन्धि की घटनाओं का जिक्र हो, ऐसे वास्तविक इतिहास का मेरे मन में कोई महत्त्व नहीं है। मैंने अपने मन से भारत की एक आइडियालॉजिकल हिस्ट्री—अलग-अलग विचार-पद्धति और उसके द्वारा प्रजा-जीवन की परम्परा को पेश करनेवाला इतिहास सोच-रखा है। इसलिए पौराणिक घटनाएँ वास्तविक रूप में सही हों या न हों, परन्तु यदि उन घटनाओं ने प्रजा-जीवन को अमुक नयी दिशा दी हो तो मेरे लिए वह सच्चा इतिहास है। उदाहरण के तौर पर, ईसा को सत्यनिष्ठा के खातिर क्रूस पर चढ़ाया गया। ऐसा सचमुच में यदि न भी हुआ हो तो भी उसमें से लाखों लोगों ने सत्यनिष्ठा की प्रेरणा प्राप्त की है, तो मेरे लिए ईसा का क्रूस-आरोहण एक सत्य घटना है। इसी तरह राम और कृष्ण चरित्र भी मेरे लिए सत्य घटना है।

प्रश्न : प्राचीन भारत का इतिहास बताते समय केवल गौरवास्पद, इतिहास ही बताना या दोषस्थान भी बताना?

उत्तर : हमारा सारा प्राचीन इतिहास गौरवास्पद ही है ऐसा नहीं। उसमें कुछ दोष भी हैं। कुछ गौरवास्पद बातें पश्चिम में भी हुई हैं। गौरवास्पद है इसलिए इतिहास नहीं बताना है। जिन्होंने हमारे जीवन पर असर डाला उनकी जानकारी देनी है। उदाहरणार्थ, ध्रुवतारे को लीजिए। ध्रुव

नामक बालक ने तपस्या की। उस तपश्चर्या ने उस छोटे बच्चे को वहाँ आरूढ़ किया। इससे अधिक इतिहास का दर्शन इसमें से क्या मिलेगा? फिर भी ध्रुव की जानकारी देना आवश्यक है।

विश्वामित्र के क्रुद्ध होने पर भी वसिष्ठ क्रुद्ध नहीं होते थे। एक बार विश्वामित्र ने वसिष्ठ का वध करने का सोचा और उन्हें मारने चल पड़े। पूर्णिमा की रात थी। वसिष्ठ और अरुंधती चाँदनी में बैठकर बातें कर रहे थे। विश्वामित्र छिपकर दोनों की बातें सुनने लगे।

अरुंधती ने वसिष्ठ से कहा—'चाँदनी कितनी सुहावनी है!'

वसिष्ठ बोले—'ठीक विश्वामित्र की तपस्या जैसी, अत्यन्त मनोहर।' वार्तालाप सुनते ही विश्वामित्र का क्रोध शान्त हो गया और एकदम सामने उपस्थित होकर उन्होंने वसिष्ठ को साष्टांग प्रणाम किया। वसिष्ठ विश्वाम्रित्र को 'राजर्षि' कहा करते थे। लेकिन विश्वामित्र के नमस्कार करने के साथ ही वसिष्ठ ने कहा—'ब्रह्मर्षे उत्तिष्ठ'—ब्रह्मर्षि, उठो।

सारांश, हमें वसिष्ठ का सारा इतिहास नहीं चाहिए। इतनी ही कहानी पर्याप्त है। क्योंकि इससे नैतिक सद्गुण हममें आयेंगे। जीवन पर उपकार करनेवाले ऐसे लोगों की जानकारी होनी चाहिए।

इतिहास-शिक्षण का हेतु

अनादि भूत और अनन्त भविष्य के बीच वर्तमान कहाँ छिपा रहता है, उसका पता भी नहीं लगता। देखते- देखते वह भूतकाल में समाविष्ट हो जाता है। इसलिए उसकी ओर देखने के बजाय कर्मयोग में उसका उपयोग कर लेना ही उसके प्रति मनुष्य का कर्तव्य है। जो मनुष्य यह करता है, वही सच्चा इतिहास है। काल-पुरुष की चपलता, मनुष्य के शारीरिक जीवन की क्षणिकता और आत्मा की अमरता—इसकी प्रतीति मनुष्य को करा देना ही इतिहास का कार्य है। यह कार्य जिसके जीवन में ओतप्रोत है, जिसने वर्तमान का उपयोग किया, उसी ने वास्तव में इतिहास को समझा।

५. शिक्षा में क्रान्ति

पुरानी बात है। १५ अगस्त, १९४७, स्वातंत्र्य दिन था। मुझे व्याख्यान के लिए वर्धा शहर में बुलाया था। मैंने पूछा कि “देखो भाई, स्वराज्य मिल गया। क्या अब पुराना झण्डा एक दिन के लिए भी चलेगा?” तो बोले, “नहीं चलेगा।“ अगर पुराना झण्डा चला तो उसका अर्थ होगा कि पुराना राज्य जारी है। जैसे नये राज्य में नया झण्डा होता है, वैसे नये राज्य में नयी तालीम चाहिए। अगर पुरानी तालीम ही चालू रही तो समझना चाहिए कि पुराना राज्य ही जारी है, नया राज्य आया नहीं। गांधीजी ने दूर-दृष्टि से नयी तालीम नाम की एक पद्धति सुझायी। अगर मेरे हाथ में राज्य होता तो सारे विद्यार्थियों को छुट्टी दे देता और कहता कि तीन महीने की अपको छुट्टी है, खेल-कूद लीजिए, जरा मजबूत बनिए, थोड़ा खेती का काम कीजिए, स्वराज्य का आनन्द भोगिए। तब तक शिक्षा-शास्त्रियों का सम्मेलन होगा और हिन्दुस्तान की नयी तालीम का ढाँचा वे तैयार करेंगे। तब तक छुट्टी। परन्तु उसके बदले में चार-चार पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, लेकिन तालीम का ढाँचा पुराना ही चला आ रहा है।

सरदार वल्लभभाई स्वराज्य के बाद अपने भाषणों में यही कहते रहते थे कि आज का यह किताबी शिक्षण बिल्कुल निकम्मा है। इतना ही नहीं, बल्कि हानिकारक है। कोई साधारण या असाधारण विचारक इस तरह बोलता, तो अलग बात होती। पर जिसके हाथों में राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकार का सूत्र हो, वही नेता जब ऐसा बोलता है तो सहज ही कोई पूछेगा कि “अगर आपके मत से प्रचलित शिक्षण-पद्धति इतनी रद्दी है, तो आप उसे बदल क्यों नहीं देते?” इसके उत्तर में उन्होंने कहा था, “हम सब लोग ऐसे जाल में फँसे हैं कि अब उसमें से निकलना मुश्किल हो रहा है।” आजकल सरकार कहती है कि शिक्षा का विस्फोट (एक्स्प्लोजन) हुआ है। भारत में शिक्षण बहुत फैल गया है इसलिए नये-नये सवाल खड़े हुए हैं। तो मैं पूछता हूँ कि भाई, किसी अच्छी चीज का विस्फोट कभी होता है क्या? शिक्षण का विस्फोट हुआ तो इसका अर्थ यह है कि शिक्षण खराब है। वास्तव में आज वैसा ही है। आज भारत की स्थिति ऐसी है कि यदि शिक्षण नहीं बढ़ाते हैं तो लोग मूरख रहते हैं और शिक्षण बढ़ाते हैं तो लोग बेकार बनते हैं। अब या तो बेवकूफ बनो, या बेकार। जाकिर हुसेन साहब सुझसे कह रहे थे, “विनोबाजी, आप तो कहते हैं कि जिनको

शिक्षण मिलता है वे बेकार बनते हैं। परन्तु वे सिर्फ बेकार नहीं बनते, बेवकूफ भी बनते हैं।" उन्होंने मेरी बात में सुधार किया कि अशिक्षित लोग तो बेवकूफ ही रह जाते हैं, परन्तु शिक्षित लोग तो बेवकूफ और बेकार दोनों बनते हैं। इसलिए आज के शिक्षण का ढाँचा तुरन्त ही बदलना था। खैर, जो हुआ सो हुआ, अभी भी वह बदले, यह जरूरी है। शिक्षण के आधार पर ही सारा समाज बनेगा। इसलिए शिक्षण का ढाँचा बदलने का सब लोगों को निश्चय करना चाहिए। इसका अत्यन्त महत्त्व है। शिक्षण में जल्द-से-जल्द क्रान्ति होनी चाहिए।

जब से जगे रे भाई, तब से सबेरा

भारत को आजाद हुए कितने साल हो गये, अब उनको सूझता है कि शिक्षण का नवसंस्कार (रिओरिएन्टेशन) होना चाहिए। इतने सालों में तो दूसरे राष्ट्रों ने क्या-क्या नहीं कर डाला! शिक्षण की पद्धति का संशोधन करने के लिए दो-दो कमीशन बने। डॉ. राधाकृष्णन्-कमीशन की रिपोर्ट तो सरकार के पास वैसी ही पड़ी है। उसके बाद के कमीशनों की रिपोर्टें भी सरकार में पड़ी हैं, परन्तु आज तक शिक्षण के ढाँचे में कोई फर्क नहीं हुआ। खुद इन्दिरा गांधी (प्रधानमंत्री) को भी शिकायत करनी पड़ी कि कांग्रेस ने दो गलतियाँ कीं। एक, नौकरशाही पर विश्वास रखा और दूसरा, शिक्षण में कोई परिवर्तन नहीं किया। अब कोई भी पूछेगा कि इन्दिरा गांधी, स्वयं प्रधानमंत्री यह शिकायत कर रही हैं तो मामला कौन सुधारेगा? इसलिए शिक्षण की पद्धति बदलनी होगी। शिक्षण को ग्रामाभिमुख करना होगा। भारत के देहातों में विज्ञान पहुँचाना होगा। विद्यार्थियों को गाँवों का अध्ययन करना पड़ेगा। विद्यार्थियों की ज्ञान-शक्ति और गाँवों की श्रम-शक्ति का समन्वय करना पड़ेगा।

शिक्षण सरकार से मुक्त

शिक्षण में परिवर्तन की दिशा में सबसे पहले मेरे मन में यह बात आती है, जो 'मूले कुठार' है, मूल पर प्रहार करनेवाला है, वह यह है कि शिक्षण सरकारी तंत्र से मुक्त होना चाहिए। शिक्षण पर सरकार का कोई वरदहस्त नहीं होना चाहिए। शिक्षकों को सरकार तनख्वाह जरूर दे, वह सरकार का कर्तव्य है। परन्तु जैसे न्याय-विभाग स्वतंत्र है और सुप्रीम कोर्ट में सरकार के खिलाफ

भी फैसले दिये जा सकते हैं और दिये गये हैं, अगरचे उस न्यायाधिपति को तनख्वाह सरकार से मिलती है। वैसे ही शिक्षण-विभाग भी सरकार से स्वतंत्र होना चाहिए। यह अगर नहीं होगा तो देश के लिए बहुत बड़ा खतरा है।

परन्तु शिक्षण-विभाग की स्वायत्तता को सच्चे अर्थ में उपलब्ध एवं कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक सत्ता के पीछे न भागकर स्वयं अपनी शक्ति का विकास करें। इसलिए शिक्षकों को पक्ष-सत्ता की राजनीति से मुक्त होकर जनता से सम्पर्क रखना होगा। अगर शिक्षक ऐसा मानते हों कि स्कूल-कॉलेज में पढ़ाना ही हमारा धर्म है, तो उतने से चलेगा नहीं। जनता के साथ सम्पर्क नहीं होगा तो राजनीति पर असर नहीं पड़ेगा।

वास्तव में ज्ञान-क्षेत्र में आजादी होनी चाहिए। जो चीज विचार से हम पसन्द करेंगे उसी को स्वीकार करेंगे। दिमाग की आजादी शिक्षा का प्राण है। यदि दिमाग को चारों ओर से बाँध लेते हैं तो बुरे हाल हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप जिन शिक्षकों से समाज को मार्गदर्शन मिलने की अपेक्षा है, वे शिक्षक-पाठ्य-पुस्तकों से ज्यादा कुछ जानते ही नहीं। चारों ओर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए न उनको अवकाश रहता है, न उत्सुकता रहती है। हिन्दुस्तान चैतन्यमय तब बनेगा, जब शिक्षक अपनी हैसियत समझेगा। आज शिक्षक की हैसियत एक नौकर की हो गयी है।

दवा ही रोग बन गयी

एक अजीब-सी बात है। बोलते हैं कि भारत में शिक्षण की बड़ी समस्या है। हमने कहा, शिक्षण वह चीज है, जिससे सब समस्याओं का हल होता है। लेकिन यहाँ तो शिक्षण ही समस्या बन गयी!

शिक्षण का जीवन के साथ सम्बन्ध नहीं

शिक्षण का काम समाज के हाथ में रहना चाहिए, यह अत्यन्त प्राथमिक आवश्यकता है। परन्तु आज जो शिक्षण दिया जाता है, वह नहीं। शिक्षण बदलना होगा। आज तो बेरंगीन शिक्षण चलता है। जहाँ रंग नहीं दीखता वहाँ हृदय का विकास सम्भव नहीं। इसलिए शिक्षण जीवन के रंग से रंगा हुआ होना चाहिए।

नालायक बनानेवाली तालीम

आज तालीम देनेवाला कुर्सी पर बैठता है, लेनेवाला बेंच पर और पुस्तक के जरिये पाठ पढ़ाया जाता है। इस तरह को तालीम पानेवाला कोई भी काम करने के लिए नालायक बन जाता है। आज सारे लड़के रसोई करना नहीं जानते। वे समझते हैं कि यह तो हीन काम है, स्त्रियों का काम है, हमारा काम नहीं है। हमारा काम खाने का है। इसलिए हम उच्च हैं । हम ऐसी तालीम देना चाहते हैं, जिसमें लड़कों को रसोई का ज्ञान हासिल होगा। इन दिनों स्कूलों को गर्मी के दिनों में छुट्टियाँ होती हैं, क्योंकि वे गर्मी सहन नहीं कर सकते। इस तरह जो गर्मी और बारिश सहन नहीं कर सकते, वे खेत में कैसे काम करेंगे?

भगवान श्रीकृष्ण का आदर्श

जैसे भगवान कृष्ण को काम करते-करते तालीम मिली थी, वैसे ही हमारे लड़कों को मिलनी चाहिए। भगवान कृष्ण गाय चराते थे, दूध दुहते थे, घर लीपते थे, मेहनत-मजदूरी करते थे, गुरु के घर जाकर लकड़ी चीरने का काम करते थे, अर्जुन के घोड़ों की सेवा करते थे और उसका सारथ्य भी करते थे। राजसूय-यज्ञ के समय उन्होंने युधिष्ठिर महाराज से काम माँगा, तो युधिष्ठिर ने कहा कि आपके लिए हमारे पास काम नहीं है, लेकिन भगवान ने कहा कि मैं बेकार नहीं रहना चाहता। युधिष्ठिर ने कहा कि आप ही अपना काम ढूँढ़ लीजिए। भगवान ने कहा कि मैंने अपना काम ढूँढ़ लिया, जूठी पत्तलें उठाने का और गोबर लीपने का काम मैं करूँगा। मैं उस काम के लायक हूँ। मैंने बचपन से वह काम किया है और उस काम में मैं एम. ए. हूँ। इस तरह उन्होंने जूठी पत्तलें उठाने का काम किया, जिसका वर्णन शुकदेव ने भागवत में और व्यास भगवान ने महाभारत में किया है, और जब मौका आया तो कृष्ण भगवान ने अर्जुन को ब्रह्मविद्या का उपदेश भी दिया।

आज का भोगैश्वर्यपरायण शिक्षण

हमारे देश के लड़कें ऐसे होने चाहिए कि इधर तो ब्रह्मविद्या का गायन करें और उधर झाड़ू लगायें, गोबर लीपें, खेत में मेहनत करें। आज की तालीम ऐसी है कि उसमें न तो ब्रह्मविद्या का पता है, न उद्योग का। ब्रह्मविद्या न होने का परिणाम यह हो रहा है कि हम सब विषयभोग-परायण

बन गये हैं, इन्द्रियों के गुलाम हो गये हैं। जो पढ़ा-लिखा होता है, वह आरामतलब हो जाता है। उसके मन में भोग और ऐश्वर्य की लालसा सतत बनी रहती है। तालीम में उद्योग न होने के कारण हाथ भी बेकार बन जाते हैं। इस तरह आत्मज्ञान के अभाव में बुद्धि बेकार और उद्योग के अभाव में हाथ बेकार। फिर ये शिक्षित लोग दस उँगलियों से काम करने के बजाय हाथ में लेखनी लेकर तीन उँगलियों से काम करते हैं। अगर इस तरह की विद्या सबको हासिल होगी, तो देश क्या खायेगा?

ब्रह्मविद्या और उद्योग

इसलिए आज की तालीम बदलनी होगी और तालीम में ब्रह्मविद्या और उद्योग, दोनों बातें शामिल करनी होंगी। ब्रह्मविद्या से आत्मा की पहचान होगी। शरीर, मन और इन्द्रियों पर काबू रहेगा। सारी दुनिया के प्रति प्रेम पैदा होगा, स्व-पर का भेद मिट जायेगा। यह छोटा-सा घर मेरा है, यह खेत मेरा है, इस तरह की सब बातें मिट जायेंगी। जिसको ब्रह्मविद्या हासिल हुई है, वह 'मेरा-मेरा' नहीं कहेगा। वह कहेगा कि यह घर, यह जमीन, यह सम्पत्ति 'सबकी' है। लेकिन जिनको भ्रम-विद्या मिलती है, वे कहते हैं कि यह सब 'मेरा' है। हमारी तालीम में हर लड़का दोनों हाथों से काम करेगा और स्वावलम्बी बनेगा। हर लड़का उत्तम रसोई करेगा। सब लड़के खेत में मेहनत करेंगे। आज तो देश में इतना आलस फैला हुआ है कि सारे उद्योग खतम हो रहे हैं। अच्छे उद्योग करनेवाले लोग चाहिए, अच्छे बढ़ई चाहिए, बुनकर चाहिए, इंजीनियर चाहिए, लोहार चाहिए, चमार चाहिए, सिपाही और सेनापति चाहिए। हमें ऐसे व्यापारी चाहिए, जो व्यापार करके लोगों की रक्षा करेंगे, किसी को ठगेंगे नहीं। कोई धन्धा ऊँचा नहीं होगा, कोई नीचा नहीं होगा। कोई भी यह नहीं कहेगा कि फलाना काम मैं नहीं कर सकता, क्योंकि वह हीन काम है।

कालक्षयकारी कॉलेज

आजकल विद्यार्थियों में विद्या है, परन्तु प्रकाश नहीं, आत्मविश्वास नहीं। आज उन्हें जो शिक्षण दिया जाता है वह प्राणहीन है, क्योंकि अध्ययन खतम होने पर विद्यार्थियों में आत्मविश्वास जाग्रत् नहीं होता।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आज जो शिक्षण दिया जाता है उसका कोई मूल्य नहीं है। मूल्य जरूर है, परन्तु जब तक आत्मविश्वास प्रकट न हो, तब तक विद्या का अन्य कोई मूलभूत मूल्य नहीं है। जैसे अपनी आँखें अमूल्य हैं, परन्तु जब तक देह में प्राण है तब तक।

पहले के जमाने में विद्यार्थी गुरुगृह से वापस लोटता तब कहता, 'ये चारों दिशाएँ मेरे सामने झुक रही हैं' अर्थात् विद्या प्राप्त करके उसकी आत्मशक्ति जाग्रत् होती थी। इतिहास के पन्ने उलटते हैं तो देखने को मिलता है कि बाजीराव पेशवा सिर्फ अट्ठारह साल की उम्र में नेता बना। बीस साल की उम्र में प्रधानमंत्री बनने के दृष्टान्त भी हैं। महाराष्ट्र का सर्वोत्तम ग्रंथ भी सोलह साल के लड़के ने लिखा है, जबकि आज तो सोलह साल के लड़कों को 'गुलीवर्स ट्रावेल्स' पढ़ायी जाती है। इंग्लैण्ड में तो शायद आठ साल के बच्चे वह पढ़ते होंगे। मेरे लिए तो कॉलेज में रहना ही असह्य हो गया था। आखिर कॉलेज छोड़कर मैं निकल ही पड़ा। अकबर भी तेरह साल की उम्र में बेचैन हो गया था कि अब मुझे कोई पुरुषार्थ करना ही चाहिए। आखिर गुरु को जेल में धकेल दिया और खुद राज्य करने लगा।

तो आज के शिक्षण में यह महत्त्व की कमी है। महात्मा गांधी, पण्डित नेहरू आदि चालू शिक्षण के परिणाम नहीं हैं। वे सारे तो आज की रद्दी तालीम के बावजूद चमके हैं। पत्थर गले में बाँधा हो तो भी नदी तैर जानेवाले लोग पत्थर के कारण तैर गये ऐसा तो नहीं माना जायेगा? मैं तो कॉलेज का अर्थ यही करता हूँ कि जहाँ विद्यार्थियों का कालक्षय होता है। गीता में है—**भूतानि यान्ति भूतेज्या**: वैसे ही 'कालं च यान्ति कालेज्या।' कॉलेज में जानेवाले कालपुरुष के वश में होते हैं। वैसे जहाँ विद्या का लय होता है वही विद्यालय आजकल हो गये हैं।

पब्लिक स्कूल की विशेषता

फिर, आजकल 'पब्लिक स्कूल्स' चलते हैं यानी जिस स्कूल में पब्लिक (जनता) जा नहीं सकती, वह स्कूल। साधारण लोगों के बच्चे वहाँ नहीं जा सकते। वहाँ सिर्फ बड़े लोगों के बच्चे जायेंगे। उनको वहाँ अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जायेगी और उसे भी अपर्याप्त मानकर वे बच्चे आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जायेंगे यानी एक विशेष वर्ग निर्माण होगा। हमारी पुरानी चातुर्वर्ण्य

पद्धति से अत्यन्त खराब ऐसी यह अंग्रेजी माध्यमवाली आज की पद्धति है। अपने बच्चों को अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाते समय यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उस पर हम अंग्रेजी (विदेशी भाषा) क्यों लाद रहे हैं? क्या उसे अंग्रेजी में काव्य लिखना है? अंग्रेजी का साहित्यकार बनना है? क्या विदेश जाना है? क्या राजनीति में पड़ने की इच्छा है? इत्यादि विचार करके फिर बच्चों को वह मेहनत का काम सौंपना चाहिए। आज की शिक्षण-पद्धति के कारण वर्गभेद निर्माण हुए हैं। क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध पैसे से जोड़ा गया है। लेकिन क्या अधिक विद्या सीखने से भूख ज्यादा लगती है? इसलिए अधिक पढ़े-लिखे व्यक्ति की आवश्यकता भी बढ़ जाती है, यह माननेवाला शास्त्र गलत है। इसे ही हमें तोड़ना है और मजदूर एवं शिक्षितों को एक करना है। समाज के इन टुकड़ों को जोड़ने का काम शिक्षकों का है।

बच्चों को उत्तमोत्तम शिक्षक चाहिए

जो सबसे उत्तम, अधिक-से-अधिक अनुभवी और ज्ञानसम्पन्न शिक्षक होगा, उसे पहला वर्ग देना चाहिए। आज हेड मास्टर को ऊपर का वर्ग दिया जाता है। ऊपर के वर्गवालों को ज्ञान भरपूर चाहिए, परन्तु कुशलता की जरूरत नहीं। लेकिन जिसके पास ज्ञान और सिखाने की कुशलता है उसे प्राथमिक वर्ग यानी छह साल का बच्चा सौंपना चाहिए। उसको तनख्वाह भी पर्याप्त देनी चाहिए। परन्तु आज तो यह हाल है कि पहले वर्ग के शिक्षक के पास कम-से-कम ज्ञान है, कम-से-कम अनुभव है। चारित्र्य भी है या नहीं, कह नहीं सकते। फिर कम-से-कम तनख्वाह। और उसी के हाथ में हमारे सर्वोत्तम रत्न दिये जाते हैं। बच्चे देश की सबसे बड़ी दौलत हैं, उनको उनके हाथ में हम दे रहे हैं।

नौकर और पत्नी को भी पढ़ायें

मेरा एक सुझाव यह भी है कि प्रत्येक पाठशाला में झाड़ू लगानेवाला एक नौकर हुआ करता है। तो, कम-से-कम एक दिन उसे छुट्टी देकर वह काम शिक्षक करें, तो श्रम-निष्ठा प्रकट होगी। इसे मैं एक टोकन (प्रतीक) मानता हूँ। यदि ऐसा किया जाये तो वातावरण बदलने में बहुत बड़ी

सहायता होगी। हम लोग साबरमती आश्रम में शिक्षक थे, तो वहाँ यही व्यवस्था चलती थी। उसका परिणाम भी अच्छा निकला।

दूसरी बात, पचीस वर्षों तक पाठशाला में रहकर भी नौकर पहले जैसा ही मूर्ख रहता है। उसे वैसा ही अज्ञानी न रखकर पढ़ा-लिखाकर आगे बढ़ाया जाये। उसका भी स्तर बढ़ता रहे। मैंने देखा है कि विद्वान की पत्नी भी जन्मभर अविद्वान ही बनी रहती है। आखिर ऐसा क्यों? भई, वह सहधर्मिणी है न? उसे भी शाम को आधा घण्टा ही सही, नित्य सिखलाना चाहिए। इससे उसमें थोड़ा-सा ज्ञान और रुचि भी उत्पन्न होगी।

तुलना असम्भव

शिक्षण में क्रान्ति होगी तो फिर इस नये शिक्षण में से जो बच्चे तैयार होंगे, उनकी पुरानी शिक्षा के विद्यार्थियों से तुलना ही नहीं हो सकेगी। नये शिक्षण का बच्चा अध्यात्म-विद्या-सम्पन्न रहेगा, वहाँ पुरानी शिक्षा-प्राप्त बच्चे को उसकी गन्ध तक न होगी। यह एक उद्योग-धन्धे में कुशल रहेगा, तो वह सर्वथा निरुद्योगी। यह सभी व्यवहारों में दक्ष रहेगा, तो वह व्यवहारशून्य। इसके सामने पराक्रम के क्षेत्र खुले रहेंगे, तो उसकी आँखों के सामने अँधेरा छाया रहेगा। यह संशोधक होगा तो वह संशोध्य।

संक्षेप में, शिक्षण में क्रान्ति के लिए मेरे मुख्य-मुख्य सुझाव ये हैं—

१. शिक्षण को सरकारी तंत्र से स्वतंत्र बनाना चाहिए।

२. उसका माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।

३. उसमें दूसरी भाषा का स्थान हो, परन्तु वह लाजिमी तौर पर न हो।

४. उसमें आध्यात्मिक शिक्षण का स्थान हो।

५. उसमें उद्योग को स्थान हो।

६. शिक्षक वानप्रस्थाश्रमी हो।

४. नयी तालीम

१. क्यों और कैसे?

गांधीजी की कल्पना

१९३७ में, यानी स्वराज्य-प्राप्ति के दस साल पहले, बापू ने नयी तालीम की कल्पना देश के सामने रखी। स्वराज्य के माने विदेशी सत्ता यहाँ से हट जाये, इतना ही बापू नहीं कहते थे; बल्कि एक नया समाज बने, जिसमें शोषण न हो, जिसमें केन्द्रित शासन कम-से-कम हो, जिसमें हरएक के विकास के लिए पूरी सहूलियत हो—ऐसी समाज-व्यवस्था को वे ‘स्वराज्य' नाम देते थे। स्वराज्य यानी ऐसा राज्य, जिसमें हरएक को महसूस हो कि यह राज्य मेरा है। इसी को वे 'राम-राज्य’ भी कहते थे।

स्वराज्य के बाद जिस-जिस चीज की अत्यन्त जरूरत रहेगी, ऐसी हरएक चीज का आविष्कार उन्होंने कर लिया था। उनका खयाल था कि जैसे राज्य बदलने के साथ झण्डा बदल जायेगा, वैसे ही राज्य बदलने के साथ तालीम भी नयी शुरू करनी होगी।

गांधीजी कहते थे कि नयी तालीम ही मेरी इस देश के लिए अन्तिम और सर्वोत्तम देन है। किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहने को बापू को आदत नहीं थी। हमको उनके सिवा दूसरा मनुष्य मालूम नहीं है, जो अपने शब्दों को पूरा तौल करके बोलता हो। इसलिए उन्होंने जो कहा, वह सम्पूर्ण अर्थ में उनकी दृष्टि से यथार्थ था। बापू का सबसे श्रेष्ठ गुण यह था कि उनमें प्रतिभा थी; यानी तर्क-शक्ति से नहीं, किन्तु स्वयं-प्रज्ञा से वे आवश्यकता को महसूस करते थे।

‘नयी तालीम ' नाम क्यों?

बापू ने इसको ‘नयी तालीम' नाम क्यों दिया? तालीम के पहले ‘नयी’ विशेषण जोड़ने का मतलब क्या है? शिक्षण का और ज्ञान का जो मूलभूत विचार होता है, वह अनादि ही होता है, नया नहीं होता है। परन्तु बीच-बीच में विचार मन्द पड़ जाता है और नये जमाने के साथ उसको नये रूप में प्रकाशित करना होता है, तो वह नयी चीज बन जाती है।

ढाँचा न हो

इसे नयी तालीम नाम दिया गया है। लेकिन मैं इसे 'नित्य नयी तालीम' कहता हूँ। नित्य नयी तालीम का मतलब है—'जो कल थी, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगी', जैसे नदी का पानी। नदी बहती रहती है, लेकिन प्रतिक्षण उसका पानी नया होता है। वैसे ही रोज के अनुभव के आधार पर जो तालीम नित्य बदलती रहती है, वह है नित्य नयी तालीम। तंत्र में अगर इस चीज को जकड़ेंगे, तो यह चीज निर्जीव-सी बन जायेगी। फिर लोगों को कुछ करना-धरना नहीं रहेगा और हर क्रिया का हर ज्ञान के साथ किस तरह जोड़ बैठ सकता है, उसी की खोज में बेचारे लगे रहेंगे। इसमें से हमें मुक्त होना चाहिए। नयी तालीम एक जीवन-दर्शन है। उसमें जो दृष्टि है, उसे लेकर काम करना है।

लोग तालीम का एक ढाँचा बनाते हैं। जहाँ ढाँचा बना, वहाँ तालीम बिगड़ी। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह का ढाँचा जीवन में नहीं बनने दूँगा। रोज नये-नये अनुभव आते हैं, उनके अनुसार हमारा जीवन नित्य बदलने की शक्ति हममें होनी चाहिए।

नयी समाज-रचना ही लक्ष्य : समान वेतन

नयी तालीम आज की समाज-रचना कायम रखकर नहीं दी जा सकती। आज को समाज-रचना के साथ नयी तालीम का पूरा विरोध है। अगर कोई कहे कि नयी तालीम तो तालीम का एक प्रकार है, उद्योग के जरिये तालीम देने की एक पद्धति है, तो ऐसा कहना गलत है। नयी तालीम तो नये समाज का ही निर्माण करेगी। आज की समाज-रचना में ही नयी तालीम को बैठाया जाये और शिक्षको की तनख्वाह कम-बेशी रहे, डिग्री के अनुसार तनख्वाह दी जाये, यह सब उसमें नहीं चलेगा। अगर नयी तालीम में ही शिक्षकों की तनख्वाह में फर्क रहा, तो 'राज्य' में कैसे बदलाव होगा? आज तो 'राज्य' का जो सारा तंत्र बना है, उसमें योग्यता के अनुसार तनख्वाह दी जाती है, दर्जे बने हुए हैं। नयी तालीम इसे खत्म करेगी। अगर नयी तालीम का उसके साथ विरोध नहीं आता और नयी तालीम उसको तोड़ती नहीं, तो वह नयी तालीम ही नहीं है। नयी तालीम में शरीर-परिश्रम और मानसिक परिश्रम की नैतिक और आर्थिक योग्यता समान मानी जायेगी।

इसका मतलब है कि आज की कुल आर्थिक रचना ही हमें बदलनी है और उसे बदलने के वास्ते ही नयी तालीम है।

नयी तालीम का मंत्र

नयी तालीम के लिए मूल उद्योग का जरिया आदि तंत्र है तो वह क्या काफी है? या उसके लिए कोई मंत्र भी चाहिए? अगर मंत्र नहीं है और सिर्फ बाहर का तंत्र ही रहा तो केवल तंत्र से क्या होगा? नयी तालीम का मंत्र है कि वह 'शरीर-परिश्रमनिष्ठ और साम्ययोगी होती है।' उसमें यह नहीं चलेगा कि शिक्षकों की योग्यता में फर्क है, इसलिए वेतन में भी फर्क हो। नयी तालीम में यह जरूरी है कि सब शिक्षकों को समान वेतन मिले। इसमें मैं पैसा बचाने की बात नहीं कर रहा हूँ, वरन् साम्ययोग की योजना बता रहा हूँ। उसके बिना नयी तालीम आगे नहीं बढ़ेगी। नयी तालीम में हम शारीरिक और बौद्धिक कामों के मूल्य में कोई अन्तर नहीं मानते। हम मानते हैं कि नेतृत्व, व्यवस्था आदि में भी वेतन का अन्तर नहीं होना चाहिए। सच पूछिए तो 'वेतन' शब्द ही गलत है, उसके लिए तो 'दक्षिणा' कहना ही ठीक होगा।

ब्रेड लेबर

हमें एक नया समाज बनाना है। उस समाज के लिए आचरण का एक बड़ा सूत्र यह है कि हर किसी को अपने शरीर के आहार के लिए शरीर-परिश्रम करना चाहिए। दूसरे-तीसरे बौद्धिक काम करके शरीर को खिलाना उत्तम धर्म नहीं है। बौद्धक काम करके रोटी हासिल की गयी हो, तो भी वह उत्तम कार्य नहीं है। शरीर का पोषण शरीर-परिश्रम से करना चाहिए। इसी को 'ब्रेड लेबर' कहते हैं। इसी को भगवद्गीता में 'यज्ञ' नाम दिया गया है। उसी का जिक्र ईसा ने किया है कि अपने पसीने से जो रोटी कमाता है, वह 'ब्रेड लेबर' है। नयी तालीम में यह एक मूलभूत सिद्धान्त है। इस तत्त्व को जो पूरी तरह से कबूल नहीं करेंगे, वे नयी तालीम को पूरी तरह से कबूल नहीं करेंगे। क्योंकि हमसे यह सवाल बार-बार पूछा जाता है कि शरीर-परिश्रम का इतना आग्रह क्यों? नयी तालीम में सिर्फ इतना ही नहीं है कि किसी भी क्रिया के जरिये ज्ञान प्राप्त करना, 'लर्निंग थ्रू डुइंग'। शिक्षण-शास्त्र के दूसरे भी कई विचारक कहते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए कुछ-

न-कुछ काम करना चाहिए। हम ऐसे ही गणित सिखायेंगे, तो वह हवा में जायेगा; परन्तु कुछ व्यवहार का काम करते हैं और उसके जरिये गणित सिखाते हैं, तो बच्चे आसानी से समझ लेते हैं, यह तो एक बिल्कुल ही मामूली शिक्षण-पद्धति का विषय है। यह नयी तालीम नहीं है। अपने शरीर की आजीविका शरीर-परिश्रम से प्राप्त करना धर्म है और हम वैसा नहीं करते हैं, तो दूसरों के कंधों पर बैठते हैं और हिंसा से मुक्त नहीं हो सकते हैं, यह हमारा विचार है। नयी तालीम के मूल में यही विचार है। वैसे लोग व्यायाम के लिए कुछ शरीर-परिश्रम करना अच्छा समझते हैं और ज्ञान प्राप्ति के लिए कुछ ‘प्रोजेक्ट' के तौर पर काम करना अच्छा है ऐसा भी मानते हैं। इस तरह से जो काम करते हैं, वह भी काम है। परन्तु वह 'ब्रेड लेबर' नहीं है। नयी तालीम ‘ब्रेड लेबर' के सिद्धान्त पर आधार रखती है, श्रद्धा रखती है।

दो फेफड़े-साम्ययोग और स्वावलम्बन

पुरुषार्थहीनता का दोष पाश्चात्य देशों के शिक्षण में नहीं है। पर उतने से ही नयी तालीम नहीं हो जाती। लुटेरे भी पुरुषार्थी होते ही हैं। अगर साम्ययोग और स्वावलम्बन, ये दो गुण हमारी शिक्षा में न हों, तो हमारी शिक्षा के दोनों फेफड़े ही नष्ट हुए समझिए। हमारे अपने बाल-बच्चे और तत्सम दूसरे भी, यही हमारा क्षेत्र है। अपने बाल-बच्चों सहित हम स्वावलम्बी होते ही हैं। मुझे कभी भी स्वावलम्बन की पहेली मुश्किल नहीं मालूम हुई। तुल्य वेतन तो सर्वोदय-समाज की नींव ही है।

प्रश्न पूछा गया है कि क्या बुनियादी तालीम की योजना डाल्टन, किंडरगार्टन और मॉण्टेसरी का सुधारा हुआ रूप है या कोई स्वतंत्र योजना है? बुनियादी तालीम किसी योजना का सुधारा हुआ रूप नहीं है। वह स्वतंत्र और विशिष्ट योजना है। दूसरी योजनाएँ लड़कों को कोई उपजाऊ धन्धा नहीं सिखातीं। नयी तालीम देश का उत्पादन बढ़ाती है, छात्र को स्वावलम्बी बनाती है और ज्ञान भी देती है। यह पद्धति हमें हिन्दुस्तान की परिस्थिति में से सहज सूझी है। उद्योग द्वारा शिक्षण का विचार मान्य करते हुए भी दूसरी पद्धतियों ने आजीविका संपादन द्वारा शिक्षण सिद्ध नहीं किया है, यह हम देख सकते हैं।

नये मूल्यों की स्थापना

नयी तालीम यानी नये मूल्यों की स्थापना। पुरानी तालीम चोरी करने को पाप समझती थी। नयी तालीम न सिर्फ चोरी को, बल्कि अधिक संग्रह को भी पाप समझती है। पुरानी तालीम शारीरिक और मानसिक परिश्रमों के मूल्य में फर्क करती थी। नयी तालीम दोनों का मूल्य समान समझती है। इतना ही नहीं, दोनों का समन्वय करती है, दोनों का 'समवाय' साधती है। पुरानी तालीम 'क्षमता' की इज्जत करती थी। नयी तालीम 'क्षमता' को 'समता' की दासी समझती है। पुरानी तालीम लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती को स्वतंत्र देवता-रूप में पूजती थी। नयी तालीम मानवता को पूजती है और इन तीनों को उसकी सेवा का साधन समझती है।

बुनियादी तालीम में और चालू शिक्षण-पद्धति में एक मूलभूत फर्क है, जो हमें समझ लेना चाहिए। हमें बच्चों को इतिहास, व्याकरण और गणित नहीं सिखाना है, हमें तो उन्हें जीवन सिखाना है—उन्हें कार्यक्षम बनाना है। शिवाजी ने कया व्याकरण पढ़ा था? क्या शंकराचार्य ने इतिहास की किताबें पढ़ी थीं? हमें बच्चों को पुरुषार्थी बनाना है। उसके पीछे और सब बातें धीरे-धीरे आ जायेंगी।

पाठ्य-पुस्तकें स्थानीय हों

पूर्व-बुनियादी में देहातों की दृष्टि से काम करना है। हर देहात की परिस्थिति अलग-अलग होती है। उस परिस्थिति का खयाल करके तालीम का विचार करना होगा। जिस देहात में नदी का किनारा होगा, उस देहात में बच्चों की तालीम एक ढंग की होगी; तो जिस देहात में पहाड़ होंगे, वहाँ वह दूसरे ढंग की होगी। जिस देहात के आसपास जंगल होगा, वहाँ की तालीम तीसरे ढंग की होगी। हर देहात का वातावरण देखकर अलग-अलग ढंग की तालीम की रचना करनी होगी। तालीम का बना-बनाया ढाँचा या बनी-बनायी पुस्तकें सब देहातों के लिए काम नहीं देंगी। आजकल तो सरे प्रान्त के लिए एक ही किताब सब स्कूलों में चलती है। ऐसी पुस्तक में हर देहात की जो विशेषता या भिन्नता होती है, उसका कुछ खयाल नहीं रहता। वह एक सर्वमान्य पुस्तक

होती है। इसलिए बच्चों को उसमें दिलचस्पी पैदा नहीं होती और उस गाँव के लिए वह खास काम की भी नहीं होती।

जिंदा इतिहास-भूगोल

किताबें तो हमारे स्कूलों के लिए भी चाहिए; लेकिन हमारी किताब हर देहात की परिस्थिति ध्यान में रखकर अलग-अलग प्रकार की होगी। उस-उस देहात का वातावरण उसमें रहेगा। सेवाग्राम के स्कूल में अगर इतिहास पढ़ाना होगा, तो वहाँ जितनी संस्थाएँ हैं, उनका इतिहास उस पुस्तक में होगा। सेवाग्राम गाँव कैसे बना, यह उसमें बताया गया होगा। गाँव के बूढ़े लोगों के अनुभव उसमें दिये होंगे। इस तरह से वह एक जिंदा इतिहास होगा। भूगोल भी सेवाग्राम के इर्द-गिर्द से शुरू होगा। जिस देहात में हम होंगे, वह सारी दुनिया का मध्य-बिन्दु है, क्योंकि हम वहाँ रहते हैं और उसके इर्द-गिर्द दुनिया पड़ी है—ऐसा समझकर हमारा भूगोल बनेगा।

हम नित्य-नया अनुभव लेते जायेंगे और प्रयोग करते जायेंगे। पिछले अनुभव पर जिस चीज को बनाया होगा, उसे नया अनुभव मिलने के कारण तोड़ दिया और दूसरी नयी चीज बनायी। इस तरह बनाते जाने और तोड़ते जाने का सिलसिला लगातार चलता रहेगा।

शिक्षक बच्चा बने, बच्चा बड़ा बने

मुझसे अगर कोई पूछेगा कि, बच्चों की तालीम का तत्त्व क्या है? तो थोड़े में मैं यही कहूँगा कि तालीम देनेवाले शिक्षकों को बच्चे बनना है और तालीम लेनेवाले बच्चों को बड़े बनना है। शिक्षक अगर बच्चा नहीं बन सकता, तो वह तालीम नहीं दे रहा है और बच्चा अगर बड़ा नहीं बनता, तो वह तालीम नहीं पा रहा है, यही समझना चाहिए।

प्रार्थना मातृभाषा में हो

अब बच्चों के साथ हम जो काम करेंगे, वह हमारे रोज के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला होना चाहिए। हर काम के पीछे जो विचार होगा, वह बच्चों को समझाना चाहिए। जैसे हम रोज प्रार्थना करते हैं, तो वह बच्चों की मातृभाषा में होनी चाहिए। कुरान अरबी में पढ़ेंगे, तो पुण्य लगेगा और मराठी में गाया कि कुरान खतम हो गया, ऐसा नहीं लगना चाहिए। यही बात वेद के

मंत्रों के बारे में और अन्य प्रार्थनाओं के बारे में भी लागू होती है। प्रार्थना जब बच्चों की मातृभाषा में होगी, तभी वे उसका अर्थ समझेंगे। जहाँ अर्थ का ज्ञान नहीं होता, वहाँ प्रार्थना का कोई खास मतलब नहीं रहता।

नयी तालीम अब सिद्ध वस्तु

वैसे तो नयी तालीम का विचार नया नहीं है, क्योंकि कोई भी सत्य अनुभव नया नहीं होता। वह तो सनातन होता है। उसके बीज भूतकाल में पड़े रहते हैं। लेकिन जब उसका कोई पहलू हमें अपने जमाने में आकर्षक प्रतीत हो, तो ऐसा आभास होता है कि हमें एक नया विचार मिल गया। हमारे लिए यह नया होता है। उसका नयापन यह है कि उससे हम प्रेरणा पाते हैं। नयी तालीम के विचार ने इतने साल तपस्या की और अब वह देश के सामने एक आवाहन के रूप में खड़ा है। इतने साल बीत जाने के बाद नयी तालीम इतनी सिद्ध वस्तु बन गयी है कि यह कहा जायेगा कि उसकी असलियत, उसकी पुष्टि और उसका अमृतत्व संशय से परे हो गया है।

बुनियादी तालीम सबके लिए है

अब इस तालीम को हमने नाम तो दिया है, बुनियादी तालीम। लेकिन बुनियादी का मतलब क्या है, यह हम समझ नहीं पाये हैं। बुनियादी का मतलब हम इतना ही समझते हैं कि बच्चों को आरम्भ में देने की तालीम। पर इतना ही उसका मतलब नहीं है। उसका मतलब यह है कि देश में शुरू से आखिर तक जो भी तालीम दी जायेगी, चाहे उसे निचली तालीम कहिए, बीच की तालीम कहिए या ऊँची तालीम कहिए, वह सारी-की-सारी तालीम इस बुनियाद पर खड़ी करनी होगी। यह नहीं हो सकता कि देहात के लोगों के लिए एक तरह की तालीम चले और शहरवालों के लिए दूसरी तरह की। यह नहीं हो सकता कि पहले चार साल यह तालीम चले तथा उसके बाद कोई और चीज चले, जिसका इसके साथ कोई ताल्लुक न हो। मतलब यह कि हमारे देश का सारा शिक्षण नयी तालीम की बुनियाद पर होगा, यह बात अगर मंजूर है, तभी यह तालीम 'बुनियादी तालीम' कहलाने लायक है। तालीम के प्रयोग में लगे कितने ही लोगों से जब यह पूछा जाता है कि "शहरों के लिए आपने क्या सोचा है?" तो वे कहते हैं—"भाई, यह तालीम शहरों के लिए

नहीं है, यह तो देहात के लिए है।” मैं कहता हूँ कि इससे अधिक गलत खयाल कोई हो ही नहीं सकता। यह तालीम सबके लिए है। शहर और गाँव का फर्क इसमें नहीं है।

शोषण बन्द कीजिए

आज जैसा शहर का वातावरण है, वैसा ही अगर हम रहने देना चाहते हैं, तो हिन्दुस्तान में शान्ति नहीं रह सकती। जिन ग्रामीणों के आधार पर शहर खड़े हैं, उनकी सेवा में उन्हें लग जाना चाहिए और इसी खयाल से अपने बच्चों को तालीम देनी चाहिए। यह नहीं हो सकता कि देश की सेवा की तालीम गाँववाले पायें और शहरवाले बच्चे देश को लूटने की तालीम पायें। इस देश में अब यह नहीं चल सकता। कयोंकि देश जाग्रत् हुआ है और जाग्रत् देश इस तरह का भेद हरगिज सहन नहीं करेगा।

नयी तालीम का विविध-दर्शन

एक भाई मेरे पास आये थे, यहाँ का काम देखने के लिए। बोले, “यहाँ नयी तालीम का प्रयोग कहाँ-कहाँ चल रहा है, मैं देखना चाहता हूँ।” मैंने कहा, भाई, जाओ सेवाग्राम और वहाँ तालीमी-संघ में जो चल रहा है, वह देखो। फिर जाओ महिलाश्रम में। वहाँ जो चल रहा है, वह देखो। फिर जाओ गोपुरी में, वहाँ जो कुछ है, वह देखो। फिर जाओ मगनवाड़ी में।” वे सब स्थान देखकर आये और बोले, “हमने हर जगह कुछ अलग-अलग ही चीज देखी। जो हमने सेवाग्राम में पाया, वह हमें महिलाश्रम में नहीं मिला। वहाँ कुछ और चीज चलती है, उधर गोपुरी में तो दूसरी ही चीज चल रही है। वहाँ तो कारखाने-ही-कारखाने लग गये हैं। काम-ही-काम चलता है। महिलाश्रम में तालीम तो दी जाती है और लड़कियाँ रसोई भी पकाती हैं, पाखाना भी साफ करती है, कपड़ा भी बुनती हैं। हर जगह अलग-अलग स्वरूप दिखायी पड़ा।” मैंने उनसे कहा कि “यह सारी नयी तालीम है और ये सब-के-सब नयी तालीम के प्रयोग हैं। नयी तालीम एक ‘तंत्र' नहीं, 'विचार' है।

बहुत लोग इस बुनियादी तालीम को आजकल एक पद्धति के तौर पर देख रहे हैं। शिक्षण की एक पद्धति, उसका एक टेकनिक और एक विशिष्ट तंत्र के रूप में वे सोचते हैं। जैसे कई

शिक्षण-पद्धतियाँ पहले हो चुकों, वैसे ही यह भी एक नयी शिक्षण-पद्धति आयी है। पर ऐसा सोचना गलत है। यह एक विचार है, जैसे ब्रह्मविचार एक अत्यन्त व्यापक विचार प्राचीन जमाने में हिन्दुस्तान को मिला था। उस एक ब्रह्म विचार में से अद्वैत उपासना भी निकली, द्वैत उपासना भी निकली, विशष्ट अद्वैत उपासना भी निकली और शुद्ध अद्वैत उपासना भी निकली। इस तरह की कई उपासनाएँ एक ब्रह्मविचार में से उत्पन्न हुईं। वैसे ही यह एक व्यापक शिक्षण-विचार है।

तालीम का जिम्मा

कहते हैं कि हिन्दुस्तान में जन-संख्या बढ़ रही है। इसमें शक नहीं कि यह एक गम्भीर बात है और सोचने की बात है। लेकिन मैं आपसे कहूँगा कि प्रजा को संख्या बढ़ रही है, इस बात का मुझे उतना डर नहीं है, जितना कि इस बात का डर है कि निर्वीर्य प्रजा बढ़ रही है। प्रजा अगर वीर्यवती, कर्मयोगी, दक्ष हो, तो जो संख्या पैदा होगी, उसका भार वहन करने के लिए यह वसुंधरा समर्थ है, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन जो निर्वीर्य और निस्तेज प्रजा बढ़ रही है, वह क्यों? इसलिए कि देश में संयम का वातावरण नहीं है। जो भी साहित्य लिखा जा रहा है, जो सिनेमा वगैरह चल रहे हैं, वे सब हिन्दुस्तान के सारे वातावरण को पूर्णतः निर्वीर्य बना रहे हैं। ऐसे वातावरण में हमारी तालीम पर यह जिम्मा आता है कि हमारे लड़के बचपन से ही संयमी बनें, वीर्यवान बनें, निग्रही बनें। **हस्तसंयतो, पादसंयतो, वाचासंयतो** ऐसा बुद्ध भगवान ने कहा था। हस्तकौशल तो हम देखें, लेकिन हस्तसंयम भी देखें। इन्द्रिय-कौशल के साथ इन्द्रिय-संयम की भी शक्ति होनी चाहिए। जहाँ संयम की शक्ति नहीं है, वहाँ जो कौशल होता है, वह मनुष्य को बरबाद करने के काम में आता है। उससे मनुष्य को लाभ नहीं होता। केवल शक्ति में लाभ नहीं है, केवल कौशल में लाभ नहीं है। लाभ है शक्ति का और कौशल का कल्याणकारी उपयोग करने में। लेकिन इस ओर हमारा ध्यान कम है। जहाँ बुनियादी तालीम का जिक्र होता है, 'वहाँ उद्योग के जरिये शिक्षण' —बस, इतना ही मंत्र जपते हैं। और मानते हैं कि इसी एक वाक्य से ही हमारी शिक्षण-पद्धति का पूरा वर्णन हो गया। पर यह गलत वर्णन है।

शैली से शील का महत्त्व अधिक

हमारी यह शिक्षण-पद्धति एक संयम-पद्धति है। अर्थात् वह संयम-प्रधान है, स्वच्छन्द-प्रधान नहीं है। बचपन से हमारे बच्चे अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को और अपनी बुद्धि को संयम में रखें, यह मुख्य दृष्टि होनी चाहिए। उनकी वाणी में सत्य-निष्ठा लानी होगी। वाणी से अपेक्षित विचार प्रकट हो, यानी सिर्फ वाणी की शैली ही नहीं देखनी है, बल्कि वाणी का शील देखना है। शील और शैली में जो फर्क है, उस तरफ मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ।

नयी तालीम स्त्रियों के हाथ में हो

एक बात मैं और कहूँगा। वातावरण संयमयुक्त रखने की यह जो जिम्मेवारी है, वह अगर ठीक ढंग से हमें निभानी है, तो जरूरी है कि बुनियादी तालीम का काम जितना हो सकता है, स्त्रियों को सौंपा जाये और उस काम के लिए स्त्रियाँ तैयार की जायें। एक बार मृदुलाबेन साराभाई से मैंने कहा—देखो, तुम जगह-जगह कस्तूरबा-केन्द्र खोलती हो और गाँव की स्त्रियों के सेवा की योजना बनाती हो। मेरा सुझाव है कि कस्तूरबा का काम और यह नयी तालीम का काम, सारा एक हो जाये। हिन्दुस्तान में जितनी भी स्त्रियों की संस्थाएँ हैं, उन सबसे हम सम्बन्ध रखें और स्त्रियों की सेवा के लिए स्त्रियों को बाहर लायें। स्त्रियों के हाथ में छोटे बच्चों की शिक्षा दे दें। उपनिषदों में कहा है—**मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्**—पहले माता से, बाद में पिता से और अन्त में आचार्य से—यह शिक्षण का क्रम होना चाहिए।

शिक्षण के काल्पनिक भेद

शिक्षण के विषय में जब-जब मैं सोचता हूँ, तो बहुत दफा मुझे ऐसा लगता है कि हमने नाहक उस विषय को जटिल बना दिया है। अगर हम मूल को पकड़ रखते हैं, तो सवाल हल हो जाता है। शाखाओं की बात सोचते हैं, तो शक्ति का क्षय होता है।

शिक्षण का मुख्य हेतु यही है कि सारी जनता को उद्योगशील और विचारशील बनाया जाये। लेकिन इस एक विषय के अनेक पहलू हम बनाते हैं। शहर का शिक्षण, गाँवों का शिक्षण, प्रौढ़ों का शिक्षण, बच्चों का शिक्षण और फिर बच्चों में भी शिशु-शिक्षण, बुनियादी शिक्षण, स्त्रियों का

शिक्षण, पुरुषों का शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण, बौद्धिक शिक्षण और इन सबके अलावा साक्षरता-प्रचार।

एकही साधे सब सधे

अब इतने सारे पहलू बनाकर हम अगर सोचने लगें, तो सोचते ही रहेंगे। ध्यान विभाजित करके, 'थोड़ा खर्च इस पर, थोड़ा खर्च उस पर', इस तरह किसी भी चीज को पूरा संतोष नहीं दे पाते। इसलिए जड़ को पकड़ना चाहिए और कोशिश ऐसी करनी चाहिए कि एक में सब कुछ सध जाये। मेरे खयाल से वह बुनियादी शिक्षण की जड़ है, जिसे विशेषज्ञों ने सात से चौदह साल तक का माना है। यह अवधि और भी बढ़ा सकते हैं। इधर वह छह साल से शुरू कर उधर पन्द्रह साल तक ले जा सकते हैं। यानी पूर्णता लाने के लिए मियाद जितनी बढ़ानी जरूरी हो, बढ़ा सकते हैं। उतने एक काम को सर्वांगसुन्दर बनाना चाहिए और वह शिक्षण सारे देश में लाजिमी होना चाहिए। इसमें उद्योग आता है, विचार-विकास आता है और साक्षरता भी आती है। इसमें यह सवाल भी नहीं उठता कि सीखी हुई विद्या टिकी कैसे रहे? क्योंकि वह एक अनुभवयुक्त ज्ञान होता है। इसलिए उसमें भूलने की तो गुंजाइश ही नहीं। बल्कि जैसे एक बीज बोने से असंख्य बीज पैदा होते हैं, वैसे उस विद्या की वृद्धि ही होती रहती है। जिस लड़के ने इस तरह विद्या पायी है, वह आगे जाकर अपना ज्ञान शतगुणित करेगा।

बहुत-सारी शाखाओं की बात अलग-अलग सोचते हैं, तो काम कुछ जल्दी कर लेते हैं, ऐसी बात भी नहीं है। अगर बुनियादी शिक्षण हाथ में लेते हैं, तो वही लड़के आगे चलकर प्रौढ़ नागरिक बनते हैं। वे ही अपने-अपने घरों में पूर्व-बुनियादी तालीम का आयोजन कर लेंगे, तब न तो शिशु-शिक्षण की चिन्ता रहेगी और न प्रौढ़-शिक्षण की।

बुनियादी तालीम एक समुद्र

बुनियादी तालीम एक समुद्र है। उसमें विचार की सब नदियों का समावेश हो जाता है। उसमें स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है। शहर और देहात का भी भेद नहीं रहता; क्योंकि दोनों को मूल शिक्षण वही चाहिए। आगे चलकर कुछ फर्क हो सकता है, लेकिन विरोधी दिशा तो हरगिज नहीं

हो सकती। यह है शिक्षण की जड़। लेकिन मुझे लगता है कि इस तरह जितनी तीव्रता और दूर-दृष्टि से देखना चाहिए, नहीं देखा जा रहा है और बहुत-सारा शाखाग्राही पाण्डित्य चल रहा है। उससे समस्याएँ बढ़ ही सकती हैं, हल नहीं की जा सकतीं।

नयी तालीम शेष शक्ति

बापू ने सब रचनात्मक कार्यक्रमों में चरखे को सूर्य के समान माना और बाकी के सारे कार्यक्रमों को ग्रहमाला की उपमा दी। मैं सोचता था कि उस रूपक में नयी तालीम का स्थान कहाँ है? नयी तालीम को एक ग्रह कहने की कल्पना मुझे मान्य नहीं हुई। सूर्य के साथ जिस कारण ग्रहमाला घूमती रहती है और जिस कारण सूर्य ग्रहमाला के साथ घूमता रहता है, वह कारण जिसे आकर्षण-शक्ति कहते हैं, वही हमारे रूपक में नयी तालीम हो सकती है। हमारे सब कार्यों के बीच परस्पर सम्बन्ध बनाये रखनेवाली आकर्षण-शक्ति के समान वह चीज है। इसी को हमने अपनी पौराणिक भाषा में शेषनाग कहा था। शेष का आधार सारी पृथ्वी और सृष्टि के लिए मानते हैं। कहने का भाव यह था कि सृष्टि का आधार बताने के लिए हम शब्द कहाँ से लायें? कारण शब्द भी सृष्टि के अन्तर्गत हैं। इसलिए कह दिया कि सृष्टि को शेष का आधार है। अर्थात् 'जो कुछ बचा हुआ है', उसका आधार सृष्टि को है। शेष का अर्थ ही है, बची हुई चीज। उसके सहस्र मुख माने गये हैं, क्योंकि यह शक्ति, जिससे दुनिया के सब पदार्थ परस्पर आकर्षित रहते हैं, हजारों दिशाओं में काम करती है। हमारे कामों में नयी तालीम ही शेषनाग है। यानी हमारे जो कार्यकर्ता हैं, वे सारे अपने-अपने उद्योग में प्रवीण होने के साथ-साथ अगर नयी तालीम की दृष्टि रखेंगे, तो वे सेवाकार्य में बहुत कारगर होंगे और वे हर जगह प्रवेश पा सकेंगे।

सर्वत्र प्रवेश का साधन

यह एक ऐसी फच्चर है, जिसे हम हर जगह डाल सकते हैं। इसके आधार पर हमारा काम हर जगह बढ़ सकता है। नयी तालीम के द्वारा हमारे दूसरे कामों का प्रवेश सब जगह हो सकता है। जो लोग हमारे दूसरे कार्यक्रमों को कबूल नहीं करते, वे भी नयी तालीम को कबूल कर लेते हैं। ऐसा सुलभ और सबको सहज ग्रहण हो सकने योग्य साधन है यह।

नयी तालीम द्वारा हमारे हर काम का सम्बन्ध अन्य सब कामों से और कुल कामों का सम्बन्ध हमारे जीवन से होना चाहिए। तब हमारा जीवन आनन्दमय होगा, उसमें सामंजस्य होगा और समाधान भी। नहीं तो जीवन एकांगी होगा, समाधान नहीं रहेगा।

विधायक और निषेधक मर्यादाएँ

मैं यह नहीं कहता कि हरएक को शिक्षक होना चाहिए या वह वैसा हो सकता है। क्योंकि उसके लिए एक खास योग्यता की आवश्यकता है। फिर भी उसके पीछे जो दृष्टि है, उसका ज्ञान सबको होना जरूरी है। वह दृष्टि इतनी ही है कि हमारे जीवन से सम्बन्धित जो ज्ञान है, उसे छोड़ना नहीं और उससे असम्बन्धित ज्ञान में पड़ना नहीं। ये विधायक और निषेधक मर्यादाएँ हमारे लिए हो जाती हैं। ये दो मर्यादाएँ, क्या छोड़ना नहीं और किसमें पड़ना नहीं, सध जायें, तो जो भी उद्योग हम करेंगे, उसी के द्वारा हम अपने जीवन को और काम को परिपूर्ण बना सकते हैं। अन्यथा या तो हम जड़ बन जाते हैं, यानी एक जगह स्थावर हो जाते हैं, या चारों ओर दौड़ते रहते हैं। लेकिन हमें न तो दौड़ना है और न जड़ ही बनना है। हमें तो निश्चित दिशा में निश्चित प्रवास करना है। यह नयी तालीम से बन सकता है।

कौन-सा ज्ञान दें?

नयी तालीम के कार्यक्रम में कौन-सा ज्ञान आता है और कौन-सा नहीं आता, इसका कोई बाकायदा विभाग नहीं है। वैसे तो सभी ज्ञान उसमें आ सकते हैं, लेकिन उसकी एक कसौटी है। दस दिन की भूख के लिए जैसे हम आज नहीं खाते, केवल आज की भूख के लिए खाते हैं, वैसे ही बालक के आज के जीवन में जिस ज्ञान की आवश्यकता उत्पन्न होती है, वह ज्ञान उसे आज दें। यह है ज्ञानार्जन का सूत्र। अन्यथा ज्ञान का परिग्रह होता है। उसका बोझ या तो बच्चा उठाता नहीं, पटक देता है, या उससे वह उठवाया जाये, तो उसकी बुद्धि-शक्ति पर बेजा बोझ पड़ता है और जीवन-विकास कुण्ठित होता है।

जिनका उत्तम आत्मविकास हुआ है, उन्होने ज्ञान और अज्ञान, दोनों का उपकार मानकर दोनों का ठीक संग्रह किया, तभी उन्हें आत्मदर्शन हुआ। यही है, नयी तालीम की दृष्टि।

शत-प्रतिशत ज्ञान

आज की शाला में तैंतीस प्रतिशत अंक मिलने पर पास करने की योजना क्यों बनायी गयी है? इसका कारण स्पष्ट है। उस योजना के बनानेवालों को मालूम है कि हम बच्चों के सिर पर ऐसा ज्ञान लाद रहे हैं, जिसकी आज उन्हें आवश्यकता नहीं। ऐसी हालत में शत-प्रतिशत की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? लेकिन नयी तालीम में मैं शत-प्रतिशत ज्ञान की अपेक्षा करूँगा।

शिक्षण के योग्य विभाग और विषय

भूगोल, इतिहास, गणित, रेखागणित इस तरह विषयों की गिनती ही करनी हो, तो असंख्य की जा सकती हैं। यह गिनती किसलिए? वाणी का विकास, मन का विकास, देह का विकास, बुद्धि का विकास, इन्द्रियों का विकास, ऐसे विभाग हो सकते हैं।

प्राचीन काल में हमारे विचारक पंचभूत मानते थे। आज जो मूल तत्त्वों का पता लगा है, वह उन पंचभूतों को काट नहीं सकता। वे पंचभूत दृश्य के पृथक्करण में से निकले हुए नहीं हैं, दर्शन के पृथक्करण में से निकले हैं। जब तक हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं, तब तक हमारा दर्शन पंचविध रहेगा। सृष्टि में पंचभूत ही कायम रहेंगे। तात्पर्य यह कि हमें नाना विषयों को या नाना ग्रंथों को सजाना नहीं है, बच्चों को सजाना है। अर्थात् उनके मन, बुद्धि आदि को सजाना है।

बच्चे खाते-पीते हैं, बीमार होते हैं। इसलिए खाने-पीने का शास्त्र, रोग-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र स्पष्ट ही उनके लिए आवश्यक हैं।

बच्चे गोशाला में काम करते हैं, दूध पीते हैं, तो उन्हें उस विद्या को जान लेने की इच्छा और आवश्यकता, दोनों हैं। भाषा उन्हें उत्तम आनी ही चाहिए। व्यावहारिक गणित की आवश्यकता कोई टाल नहीं सकता। एक-दूसरे के साथ कैसा बर्ताव करें, इसका ज्ञान न रखनेवालों की गिनती पशु में ही होगी। इसलिए नीति-विचार, धर्म-विचार छोड़ नहीं सकते। इतिहास के नाते किशोरलालभाई की जानकारी वर्धा के बच्चों को अवश्य रहनी चाहिए। कैसर या सीजर के जानकारी की उन्हें आवश्यकता नहीं है। गोपुरी का चर्मालय कैसे बना, वालुंजकरजी ने चमड़ा कैसे खींचा, साँप पकड़ने की कला भाऊ को कैसे हासिल हुई, मनोहरजी को महारोगियों की सेवा

की कल्पना कैसे आयी—इन सब बातों की जानकारी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य काल या अन्य स्थल का ताल्लुक नयी तालीम से कहीं नहीं आयेगा। वह भी आ सकता है, लेकिन उसका प्रसंग और उसकी आवश्यकता पैदा होगी तब।

नयी तालीम का त्रिविध ज्ञान

झूले से लेकर श्मशान तक का सभी ज्ञान नहीं देते रहना है। आज का आवश्यक ज्ञान दें और समय-समय पर जिस ज्ञान की आवश्यकता होगी, उसके संपादन करने की शक्ति हासिल करायें और अन्दर छिपा हुआ स्वयंभू ज्ञान बाहर निकालें, ऐसा तिहरा कार्यक्रम है—(१) प्रकृत ज्ञान, (२) ज्ञानशक्ति-संपादन और (३) आत्तज्ञान, ऐसे नाम हम इन्हें दें। यह सारी दृष्टि ही निराली है। आज की नीरस पद्धति से उसका मेल कैसे हो?

तुलना ही नहीं

ऐसी स्थिति पैदा हो जानी चाहिए कि सोलहवें साल में, यानी मौलिक पाठ्यक्रम के अन्त में तैयार हुए अपने बच्चे की सरकारी स्कूल से तुलना करने की आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

२. नयी तालीम में ज्ञान और उद्योग

गलत धारणाएँ

बहुत-से लोग समझते हैं कि लड़कों को थोड़ा-सा उद्योग दिया, कुछ चरखा काता, तो नयी तालीम हो गयी। कुछ लोग समझते हैं कि ज्ञान की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दिया, तो नयी तालीम हो गयी और कुछ लोग समझते हैं कि ज्ञान का काम के साथ जोड़ बैठा दिया, तो नयी तालीम हो गयी। फिर वह जोड़ सहजरूप से बैठता है या नहीं, इस तरफ ध्यान देने की भी जरूरत नहीं है। ये तीनों कल्पनाएँ गलत हैं।

नयी तालीम का विचार यह है कि इसमें ज्ञान और कर्म का 'भेद', ‘विरोध’ और ‘वाद' मिटता है। मैंने इन तीन शब्दों का इस्तेमाल इसलिए किया कि आज दुनिया में जितने तत्त्वज्ञान हैं, वे इन तीन विषयों के लिए होते हैं। कोई ज्ञान और कर्म का भेद मानते हैं, कोई उनमें विरोध मानते हैं। इस तरह के पक्ष तत्त्वज्ञान में बनते हैं।

ज्ञान और कर्म एकरूप

नयी तालीम का विश्वास है कि ज्ञान और कर्म, दोनों एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। इसलिए मालूम ही नहीं होता है कि यह ज्ञान-कार्य चल रहा है या कर्मयोग चल रहा है। एक दृष्टि से देखो तो ज्ञान-कार्य चल रहा है, ऐसा दीखता है; दूसरी दृष्टि से देखो तो कर्मयोग चल रहा है, ऐसा दीखता है। इस तरह का आभास जिन प्रयोगों में आयेगा, उसका नाम शिक्षण-प्रयोग। जब यह आभास होगा कि यहाँ केवल ज्ञान-कार्य चल रहा है, वह शिक्षण-प्रयोग ही नहीं है। जहाँ यह दीख रहा है कि यह कर्मयोग चल रहा है, वह शिक्षण का कार्यक्रम नहीं है। दोनों में से कौन चीज चल रही है, उसका पता ही न चले, इसका नाम है शिक्षण-प्रयोग। आजकल बुनियादी तालीम में एक बड़ा तमाशा चलता है! कहते हैं कि ज्ञान और कर्म का योग होना चाहिए, इसलिए तकली चलाते हैं और उसके साथ तकली के गाने गाते हैं। तकली के साथ तकली के गाने गाने से एकता नहीं होती। यह बड़ा सूक्ष्म विचार है। ज्ञान और कर्म में कहाँ तक विरोध, भेद और ऐक्य है? इसी विश्वास पर नयी तालीम खड़ी है कि ज्ञान और कर्म में अभेद है, कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से कर्म की प्रेरणा मिलती है और दोनों से जीवन सार्थक होता है। इस प्रकार की योजना इसमें है।

ज्ञान और उद्योग का समवाय

अब ज्ञान और काम का जोड़ बैठाने की बात लीजिए। हमने तो ‘समवाय' शब्द बनाया है। जैसे मिट्टी और घड़ा। ये दोनों एक-दूसरे में इतने ओतप्रोत हैं कि उनका न अलगाव ही बताया जा सकता और न अद्वैत ही। इस तरह जहाँ पर द्वैत और अद्वैत का निर्णय नहीं होता, उस सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। जिस शिक्षा-पद्धति में ज्ञान और उद्योग का समवाय होगा और हम बता नहीं सकेंगे कि इस समय ज्ञान चल रहा है या उद्योग, वही हमारी पद्धति होगी। ज्ञान की प्रक्रिया चलती है, तो कर्म की भी प्रक्रिया चलेगी और कर्म की प्रक्रिया चलती है, तो ज्ञान की भी प्रक्रिया चलेगी। कर्म और ज्ञान एक-दूसरे से इतने ओतप्रोत होंगे कि किसी भी तरह का जोड़ बैठाने का काम नहीं किया जायेगा। बाहर से ज्ञान लेने की बात नहीं रहेगी। उद्योग के जरिये ही ज्ञान का विकास किया जायेगा और ज्ञान के जरिये ही उद्योग का। यही हमारी पद्धति है। ज्ञान और कर्म

की सिलाई करके जो पद्धति बनायी जायेगी, वह हमारी नहीं होगी। हमारी पद्धति में तो ज्ञान और कर्म एक-दूसरे में ओतप्रोत रहेंगे।

कुछ लोगों का यह भी आक्षेप है कि इसमें लड़कों से कुछ काम कराया जाता है। यह जरा समझने की जरूरत है। हम लोगों ने तय किया है कि हम लाख प्रकार के व्यायाम करेंगे, लेकिन उत्पादक परिश्रम नहीं करेंगे। स्कूलों में लड़के दिनभर लिखते-पढ़ते रहेंगे, उन्हें बैठे-बैठे भूख नहीं लगेगी, इसलिए व्यायाम की योजना की जाती है। वे सारे लड़के इकट्ठे होते हैं और उठते-बैठते हैं। कोई किसान आकर देखे, तो कहेगा कि इन लोगों को क्या कुछ काम नहीं है? बेकार हैं क्या? तो कहा जाता है कि यह भूख लगने की योजना है। किसान कहता है कि भूख लगने की योजना तो खेत में हो सकती है। हाथ में कुदाल लेकर आ जायें, तो तुरन्त भूख लगेगी। लेकिन अगर हाथ में कुदाल लेकर परिश्रम करेंगे, तो वह 'मजदूरी' कहलायेगी और कुदाल लिये बिना परिश्रम करेंगे, तो वह ‘व्यायाम’ कहलायेगा। इस तरह भेद बढ़ जाता है।

आनन्द की योजना

हमारा विश्वास है कि हम चौबीस घण्टे ज्ञान प्राप्त करेंगे, चौबीस घण्टे काम करेंगे और चौबीस घण्टे आनन्द भोगेंगे। हमारा बहत्तर घण्टे का कार्यक्रम नहीं होगा, चौबीस घण्टे का ही कार्यक्रम होगा। इसलिए आनन्द भी श्रम से और ज्ञान से भिन्न नहीं रहेगा। अगर एक शब्द में कहना है, तो मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे शिक्षण का मंत्र है 'सच्चिदानन्द'। 'सत्' है कर्मयोग। उसके बिना जीवन टिकता ही नहीं। 'चित्’ है ज्ञानयोग, उसके बिना जीवन जड़ बनता है और ‘आनन्द' के बिना जीवन में कोई रस ही नहीं होगा। तो जिस शिक्षण में सत्, चित् और आनन्द, तीनों का योग होता है, वह सच्ची तालीम होगी। फिर चाहे उसको नयी तालीम नाम दिया जाये या पुरानी तालीम।

उद्योग में प्रवीणता

नयी तालीम के विद्यार्थियों को कुछ थोड़ा-सा उद्योग देने से काम नहीं चलेगा। नयी तालीम के लड़के तो उद्योग में इतने प्रवीण होंगे कि जैसे मछली पानी में तैरती है, उसी तरह वे काम

करेंगे। हमारे लड़कों में यह हिम्मत आनी चाहिए कि चार घण्टे उद्योग करके अपने पेट के लिए कमा लेंगे। नमूने के तौर पर थोड़ा-सा कातना-बुनना जान लिया, इतने से काम नहीं चलेगा। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि हमें उद्योग में प्रवीण होने की क्या जरूरत है, हम तो स्कूल में पढ़ानेवाले हैं? माँ छोटे बच्चे को सिखाती है कि खाना कैसे खाया जाता है। जब वे सीख जाते हैं, तो यह नहीं कहा जाता कि अब वे खाने की कला सीख गये, तो फिर उनको खाने की क्या जरूरत है? खाने का ज्ञान हुआ, इतने से काम पूरा नहीं होता। मनुष्य को हररोज खाना मिलना चाहिए। जैसे मनुष्य के लिए खाना नित्य की चीज है, उसी तरह नयी तालीम के शिक्षकों को और लड़कों को नित्य चार घण्टे शरीर-परिश्रम करना चाहिए। उनको उद्योग में इतना प्रवीण होना चाहिए कि गाँव के बढ़ई, किसान आदि उनके पास सीखने आयें। औजारों में सुधार करने की कला भी उनको हासिल होनी चाहिए। उनको खेती का आचार्य बनना चाहिए। आज ग्रामोद्योग टूट गये हैं, इसलिए नयी तालीम के जरिये ग्रामोद्योगों को फिर से खड़ा करना है।

बुनियादी चीजों का पूरा ज्ञान

नयी तालीम में पुस्तकों का महत्त्व नहीं है, इसलिए ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जाती। अक्सर माना जाता है कि इसमें तो जितना सहज ज्ञान मिलेगा, उतना ही बस है। लेकिन यह ख्याल गलत है। नयी तालीम में जीवन की सभी बुनियादी चीजों का पूरा ज्ञान होना चाहिए। लम्बा-चौड़ा इतिहास और निकम्मे राजाओं की नामावली याद रखने की कोई जरूरत नहीं है। उससे तो विद्यार्थियों के सिर पर नाहक बोझ पड़ता है। लेकिन जीवन के जो बुनियादी विचार हैं, जिनसे हमारा जीवन विकसित होता है, उनका ज्ञान जरूरी है। तत्त्वज्ञान, धर्म-विचार, नीति-विचार, इन सबकी जानकारी आवश्यक है। हमारे समाज की और दूसरे समाज की विशेषताएँ क्या हैं, इसका भी ज्ञान होना चाहिए विज्ञान के मूलभूत विचार लड़कों को मालूम होने चाहिए। उन्हें आरोग्यशास्त्र, आहारशास्त्र, स्वच्छता, रसोईशास्त्र आदि का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। इस तरह नयी तालीम में ज्ञान की कोई कमी नहीं होनी चाहिए। भाषा का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिए। अपने विचार ठीक ढंग से प्रकाशित करने की कला मालूम होनी चाहिए। अक्षर सुन्दर होने चाहिए,

साहित्य का ज्ञान होना चाहिए। इस तरह हमारी तालीम में ज्ञान की कमी नहीं होगी, लेकिन निकम्मा ज्ञान नहीं होगा।

मीडियम ऑफ नॉलेज (ज्ञान का माध्यम)

अक्सर मीडियम ऑफ इन्स्ट्रक्शन—पढ़ाई का माध्यम कया हो, यह सोचा जाता है। परन्तु 'मीडियम ऑफ नॉलेज' (ज्ञान का माध्यम) कया हो, इस पर सोचना चाहिए। मेरा मानना है कि 'मीडियम ऑफ नॉलेज' कर्म ही हो सकता है। बच्चे को माँ ज्ञान देती है तो कर्म के जरिये ही देती है, वह कोई किताब नहीं पढ़ाती। क्रिया का रूपान्तर शब्दों में करके बताती है। ज्ञान की प्रक्रिया में आदि में कर्म होता है, मध्य में कर्म होता है और अन्त में उसका परिणाम ज्ञान में होता है। नयी तालीम की यह प्रक्रिया ही सर्वसम्मत हो सकती है।

३. पद्धति-पंचक

मिट्टी और घड़े के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। वर्धा-शिक्षण-पद्धति को मैंने ‘समवाय-पद्धति' नाम दिया है, क्योंकि इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण का इस तरह का 'समवाय' गृहीत है।

बच्चों के सारे शिक्षण की रचना किसी एक मूल-उद्योग पर खड़ी की जाये। उद्योग से शिक्षण को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाये। इसका नाम है, 'समवाय-पद्धति'।

औद्योगिक शिक्षण का एक अलग चीज है। उसमें सिर्फ उद्योग सिखाया जाता है। वह मिट्टी का ढेर है। किताबी पढ़ाई अलग चीज है। उसमें सिर्फ ज्ञान दिया जाता है। वह घड़े का चित्र है। देख लीजिए, लेकिन पानी भरने के काम का वह नहीं होता।

केवल-पद्धति

प्रचलित शिक्षण-पद्धतियों में मानव के विविध अंगों में से केवल एक अंग—बुद्धि की ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकास के बदले विलास करनेवाला है। चूँकि इस पद्धति में केवल बुद्धिविलास की ओर, या उसके प्रोत्साहकों की भाषा में केवल शिक्षा की ओर, ध्यान दिया

गया है, इसलिए मैं उसे 'केवल-पद्धति' कहता हूँ। इस पद्धति के अनेक दोष छोड़ दिये जायें, तो भी शिक्षण-शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि उसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे उस ज्ञान को ठूँस-ठूँसकर भरना पड़ता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नहीं रहता, जीवन के साथ समरस नहीं हो पाता। इसके अलावा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढ़ती है।

परिशेष-पद्धति

दूसरी पद्धति है 'परिशेष-पद्धति'। इस पद्धति में किसी ग्रंथ का परिशिष्ट होता है, उसी तरह शिक्षा के परिशिष्टरूप में उद्योग को स्थान दिया जाता है। इस पद्धति में उद्योग के शामिल होने पर भी उसका महत्त्व पूँछ सरीखा ही माना जाता है। इसके अलावा, उद्योग एक मनोरंजन, खेल या अलंकार के रूप में अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने के लिए या प्रदर्शनभर के ही लिए उसका उपयोग किया जाता है।

समुच्चय-पद्धति

तीसरी पद्धति 'समुच्चय-पद्धति' है। इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण, दोनों को समान महत्त्व देने का प्रयत्न किया जाता है। यानी ज्ञान के लिए जितना समय दिया जाता है, उद्योग के लिए भी उतना ही। मिट्टी-पानी का अर्थ घड़ा नहीं है। दोनों को मिलाकर कुम्हार जब उसमें अपनी कला उँड़ेलता है, तब घड़ा तैयार होता है। समुच्चय-पद्धति में शिक्षण पानेवाले को संतोष नहीं होता। उसे ऐसा लगता है कि मेरा शिक्षण का समय व्यर्थ ही उद्योग में बीता जा रहा है। वह कभी लाचार होकर उद्योग करता है, कभी स्वार्थवशात् और कभी शिक्षण कहकर। चूँकि इस पद्धति में उद्योग शिक्षा के अंग के रूप में समाविष्ट नहीं किया जाता, इसलिए उसके प्रति उपजीविका के साधनमात्र की दृष्टि रहती है। इस दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा शिक्षण की अपेक्षा कम ही है। इसलिए उद्योग करते हुए भी विद्यार्थी को उसमें उतनी रुचि नहीं मालूम होती। इसके अलावा शिक्षा और उद्योग, इन दोनों का परस्पर मेल नहीं बैठता। शिक्षा में चल रहा होगा 'शाकुंतल' या अफ्रीका का भूगोल और उद्योग में उसे आवश्यकता होगी बढ़ईगीरी की, लकड़ी के भूगोल की जानकारी। इस कारण दोनों के विषय एक-दूसरे के पूरक नहीं हो पाते।

संयोजन-पद्धति

उपर्युक्त तीनों पद्धतियों से भिन्न 'संयोजन' नाम की एक पद्धति शिक्षण-शास्त्री जानते हैं। 'कर्म द्वारा ज्ञान' यह समवाय-पद्धति का सूत्र इसमें मान लिया है, लेकिन इस पद्धति में कर्म को गौण स्थान दिया है। कुछ ज्ञान देना है, तो उसके अनुकूल एक संयोजन लेकर पढ़ाया जाता है। लेकिन वह कृत्रिम-सा होता है।

समवाय-पद्धति

समवाय-पद्धति में कोई एक जीवनव्यापी और विविध अंगयुक्त मूल-उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग शिक्षा का सिर्फ एक साधन नहीं, बल्कि उसका अविभाज्य अंग होता है। उस उद्योग के द्वारा इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है—(१) बच्चे की सब तरह की शक्तियों का विकास करना, (२) बच्चे को जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना और (३) बच्चे को आजीविका का एक समर्थ साधन प्राप्त करा देना। इस अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति का एक छोटा-सा लेकिन महत्त्व का सबूत यह है कि बच्चों के काम में से पाठशाला के शिक्षण के खर्च का कुछ अंश निकले, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

इस तरह समवाय-पद्धति प्रचलित सारी शिक्षण-पद्धतियों से भिन्न और अब तक के अनुभवों की निष्कर्षरूप अन्तिम परिणति है।

इस पद्धति में जो मूलोद्योग चुना जाये, वह व्यापक और विविध अंगयुक्त होना चाहिए, यह ब्रात ऊपर कही ही गयी है। हिन्दुस्तान की आज की हालत देखते हुए ८० प्रतिशत पाठशालांओं में ऐसा जो मूलोद्योग शुरू किया जा सकता है, वह मेरी राय में कातने का ही हो सकता है। ७ साल की उम्र के बच्चों को दृष्टि में रखकर मैं यह कह रहा हूँ।

४. नयी तालीम के आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पहलू

नैतिक मूल्य का आर्थिक नाप नहीं

आज के समाज में शारीरिक परिश्रम और मानसिक परिश्रम की कीमत अलग-अलग मानी गयी है, जिसे नयी तालीम नहीं मानती है। नयी तालीम के अनुसार मनुष्य जो भी सेवा करता

हो—शारीरिक या मानसिक—वह एक नैतिक वस्तु है और उसे जो तनख्वाह दी जाती है, वह एक आर्थिक वस्तु है। नैतिक वस्तु की कीमत आर्थिक वस्तु में नहीं आँकी जा सकती। ऐसा सवाल पूछना ही गलत है कि एक मील के कितने घण्टे होते हैं। एक मील के गज पूछे जा सकते हैं, पर घण्टे नहीं; क्योंकि वे भिन्न चीजें हैं, जिनका परिवर्तन एक-दूसरे में नहीं हो सकता। नदी में डूबनेवाले को किसी ने बचाया। उस काम में दस मिनट लगे। वह काम शारीरिक था, बुद्धि का नहीं। इसलिए क्या उसे दस मिनट की मजदूरी दी जाये? उसे तो सौ रुपये दिये जायें, तो भी वह कबूल नहीं करेगा। कहेगा कि इसमें पैसा लेने की बात ही नहीं है। इसी तरह जिस किसी ने कोई भी काम किया, शारीरिक या मानसिक, वह अगर समाज के लिए मुफीद है, तो वह एक नैतिक वस्तु बन जाती है, जिसका आर्थिक मूल्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आर्थिक मूल्य का सम्बन्ध हर शख्स की भूख से है। जिसे दो रुपये की भूख है, उसे दो रुपये का खाने का हक है और उसे दो रुपये देना समाज का कर्तव्य है। फिर वह बढ़ई है या किसान है या शिक्षक, इससे उसका कोई ताल्लुक नहीं।

आर्थिक पहलू

सरकार नयी तालीम को कबूल तो कर रही है; परन्तु वह जो तालीम चलायेगी, उसमें तो दर्जे रहेंगे। यह सरकार का दोष नहीं, समाज का है। इन सब दर्जों को अपनानेवाली तालीम परिस्थिति के साथ समझौता कर लेगी। नयी तालीम का आर्थिक पहलू यह है कि शारीरिक परिश्रम और मानसिक परिश्रम, इस तरह के दर्जे टूटने चाहिए।

आध्यात्मिक पहलू

नयी तालीम का आध्यात्मिक पहलू यह है कि ज्ञान और कर्म दो चीजें नहीं, बल्कि एक ही चीज है। ज्ञान से कर्म श्रेष्ठ या कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ, कहना गलत है। ज्ञान और कर्म एक है, इस बुनियाद पर जो तालीम दी जायेगी, वह नयी तालीम है। उसमें पता ही नहीं चलता कि कोई परिश्रम हो रहा है। काम होता है, शिक्षण मिलता है और साथ-साथ स्वच्छ, सुन्दर हवा भी मिलती है। आजकल कारखानों में मजदूरों को बन्द जगह में आठ घण्टे काम करना पड़ता है, जहाँ उन्हें

न खुली हवा मिलती है, न आनन्द। उस काम का ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए फिर उन्हें सिनेमा आदि के जरिये आनन्द 'सप्लाई' करते हैं। उनके काम का आनन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। नयी तालीम में इस तरह काम का अलग घण्टा और आनन्द का अलग घण्टा नहीं रहेगा। नयी तालीम में तो सत्-चित्-आनन्द होगा—कर्म, ज्ञान और आनन्द एकरूप होगा। ज्ञान-प्राप्ति का एक स्वाभाविक तरीका यह है कि हम जो भी कार्य करते हैं, उसके साथ-साथ ज्ञान भी हासिल होता रहे। हम बीमार की सेवा करेंगे, तो साथ-साथ प्रयोग भी करेंगे, यानी सेवा और अध्ययन दोनों करेंगे, तो साथ-साथ प्रयोग भी करेंगे, यानी सेवा और अध्ययन दोनों करेंगे। कोई डॉक्टर शोध करना चाहता है, परन्तु रोगी की सेवा नहीं करना चाहता, तो कैसे चलेगा? जैसे शोध से आप काम को अलग नहीं कर सकते; वैसे आनन्द से भी काम को अलग नहीं कर सकते। काम और आनन्द को अलग-अलग किया जायेगा, तो आनन्द सदोष होगा और काम रूखा-सूखा बनेगा। मुझे बचपन की एक बात याद आती है। बादशाह का जन्मदिन हो, तो हमारे स्कूल को छुट्टी होती थी और बादशाह मरा, तो भी छुट्टी ! हम लड़कों को तो छुट्टी में आनन्द था, इसलिए हम तो बिल्कुल वेदांती बन गये थे ! हम समझते थे कि जन्म और मृत्यु मिथ्या हैं, छुट्टी सत्य है। हमारी समझ में नहीं आता था कि जो ‘छुट्टी' जन्म से होती है, वही मृत्यु से कैसे होती है? बच्चों को छुट्टी में आनन्द आता था। इसके मानी थे कि वे स्कूल को जेल समझते थे। हम तो चाहते हैं कि बच्चों को हफ्ते में सिर्फ एक ही दिन नहीं, बल्कि सातों दिन आनन्द मिलना चाहिए। जहाँ यह अनुभव आयेगा कि कर्म, ज्ञान और आनन्द, यानी सत्, चित्, आनन्द, तीनों मिलकर एक ही वस्तु है, वह नयी तालीम है।

सामाजिक पहलू

नयी तालीम का सामाजिक रूप यह है कि मनुष्यमात्र समान है। इसलिए भिन्न-भिन्न सामाजिक भेद, वर्ग-भेद आदि सब मिथ्या हैं। इस बात को हम कबूल करेंगे, तो आज के राष्ट्रवाद आदि सब भेद मिट जायेंगे। नयी तालीम के साथ ये सारे भेद नहीं रह सकते। नयी तालीम में हम इन्सान-इन्सान में कोई सामाजिक फर्क नहीं करते। आज का समाज का ढाँचा अनेक प्रकार के भेदों पर खड़ा है। इसलिए नयी तालीम से हिन्दुस्तान के सामाजिक क्षेत्र में बड़ी भारी उथल-पुथल

होनेवाली है। यहाँ पर सब बच्चे एक साथ खायेंगे, खेलेंगे और पढ़ेंगे। हम भिन्न-भिन्न धर्मों की खराबियाँ छोड़ेंगे और खूबियाँ लेंगे। कुछ लोग गलत समझे हैं कि 'सर्वधर्म-समन्वय' के मानी हैं, सब धर्मों की सब चीजों को अच्छा कहना। 'सेक्युलर एटिट्यूड' यानी 'भौतिक वृत्ति' के मानी यह समझे जाते हैं कि धर्म के बारे में कुछ नहीं बोलना चाहिए। लेकिन धर्म के नाम पर जो गलत चीजें चलती हैं, उन सबके खिलाफ नयी तालीम खड़ी है।

५. विद्रोह की दीक्षा

हम 'नयी तालीम' से एक खास तालीम का उल्लेख करते हैं। इसका मतलब क्या होता है? पुरानी कोई चीज जरूर गलत है, इस वास्ते हम एक अच्छी चीज दाखिल करना चाहते हैं। उसको 'अच्छी तालीम' कहने के बजाय हम 'नयी तालीम' कहते हैं। पुरानी तालीम यानी अति पुरानी तालीम नहीं, बल्कि वह तालीम, जो बीच के जमाने में अंग्रेजों का राज्य यहाँ आने के बाद शुरू हुई। वह जो तालीम चली, वास्तव में वह तालीम ही नहीं थी। क्योंकि किसी समाज को सामने रखकर वह नहीं बनायी गयी थी। जो तालीम समाज को ध्यान में न रखते हुए बनायी जाती है, वह किसी खास चीज के लिए उपयोगी हो सकती है, पर वह 'तालीम' नाम के लिए पात्र नहीं हो सकती। अंग्रेज जिस हालत में हिन्दुस्तान में आये और आगे उन्होंने उस हालत में फर्क करके जो नयी रचना बनायी, उस हालत में 'समाज' ही विद्यमान नहीं था। एक-एक गाँव में समाज टूट रहा था, उसके टुकड़े हो रहे थे, कुछ हो भी चुके थे। जहाँ छूत-अछूत आदि भेद भी मौजूद हों, वहाँ ग्राम-समाज बन ही नहीं सकता था। जहाँ अलग-अलग जातियाँ बनी हों, वहाँ एक समाज नहीं बन सकता। मनुष्यों में जहाँ ऊँच-नीचभाव माने गये हों वहाँ भी एक समाज नहीं बन सकता। भिन्न-भिन्न जातियों में बँटा हुआ समूह हो सकता है, समाज नहीं। समूह और समाज में फर्क है। जहाँ समाज ही नहीं है, वहाँ तालीम हो ही नहीं सकती यानी जिसे हम 'लोक-शिक्षण' कहते हैं, वह। चाहे किसी व्याकरण के स्कूल में व्याकरण सिखाया जाये, यह अलग बात है। पर जिसे हम 'लोक-शिक्षण' कहते हैं, और जिसमें हम अपने जीवन के अनेक विषयों का समावेश करते हैं, जीवन-शिक्षण भी जिसको नाम दे सकते हैं, वह वहीं हो सकता है, जहाँ एकरस समाज होता है।

भेद और छेद मिटाने होंगे

ऐसा एकरस समाज इन दो-तीन सौ सालों में हिन्दुस्तान में रहा नहीं। इस वास्ते जो भी सच्ची तालीम हम शुरू करते हैं, वह 'नयी' ही गिनी जायेगी। यह मैंने इसलिए कहा कि नयी तालीम के उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी है कि जिस गाँव में नयी तालीम शुरू होगी, उस गाँव को एकरस बनाना। ग्रामों में आज जितने प्रकार हो सकते हैं, उतने सब प्रकार के भेद हैं। अर्थात् गरीबी-अमीरी है, मालिक-मजदूर हैं, ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर हैं, हरिजन-हरिजनेतर हैं। जितने सेक्शन, क्रास-सेक्शन (आड़े और खड़े खाने) आप खड़े कर सकते हैं, उतने भेद और छेद विद्यमान हैं और इन सबको मिटाना नयी तालीम का मकसद होगा।

विषमता का राज्य नहीं हो सकता

हम लड़कों को समझायेंगे कि हरएक का वेतन या मजदूरी का उसकी योग्यता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आपके वेतन का, आपकी मजदूरी का, आपको भूख कितनी लगती है, आपकी आवश्यकता कितनी है, इसके साथ सम्बन्ध है और चूँकि आवश्यकताओं में बहुत ज्यादा फर्क नहीं होता इसलिए मनुष्यों के वेतन में, मजदूरी में, बहुत ज्यादा फर्क नहीं होना चाहिए।

विषमता मिटाना

इन लड़कों को सिखाया जायेगा कि कुछ-न-कुछ शरीर-परिश्रम किये बिना या खेत में काम किये बिना खाना बिल्कुल गलत है। अब अगर ऐसा हो कि कई जातियाँ हाथों से काम करना ही अधर्म मानती हों, तो उनका इस तालीम के साथ कैसे बनेगा? उनका इसके साथ विरोध आयेगा। सबको जमीन मिलनी चाहिए और सबको जमीन पर काश्त करने का हक है, यह लड़कों को समझाया जायेगा। गाँव में कुछ मालिक हैं, कुछ बेजमीन हैं, यह भी गलत है। इसका मतलब यह है कि आज के समाज की जो-जो व्यवस्था है, वह सब गलत है, यह कहने का मौका नयी तालीम में आता है।

इसका मतलब होता है कि नयी तालीम के शिक्षकों को गाँव की विषमता मिटाने के कार्यक्रम को अपनी तालीम का एक हिस्सा मानना पड़ेगा। दुनिया के देशों का इतिहास है कि उन देशों में

जो भी राज्यक्रान्तियाँ हुईं, वे शिक्षकों के जरिये हुईं। इसलिए ग्राम में आर्थिक-सामाजिक समता स्थापित करना, अर्थात् जो आज की हालत है, उसमें बदल करना, जिसे हम क्रान्ति कहते हैं वह करना, यह नयी तालीम का प्रयोजन हो जाता है, उसका अंग बन जाता है। इसलिए हमने कहा था कि ग्रामोद्योग, जमीन का समान बँटवारा, जाति-भेद, पंथ इत्यादि मिटाना और जीवन के जरिये लड़कों को शिक्षण देना, ऐसा नयी तालीम का चतुर्विध मिला-जुला कार्यक्रम है। ये चार विभाग कल्पना के लिए, समझने-समझाने के लिए अलग किये जा सकते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष कार्य में अलग नहीं किये जा सकते।

राज्य-शासन का छेद करनेवाली तालीम

कल काकासाहब ने कहा था कि विनोबा का काम तो राज्य-शासन तोड़ने का होगा और उसके लिए नयी तालीम का साधन काम में आयेगा एक अजीब भाषा में वह चीज आप लोगों के सामने उन्होंने रखी, लेकिन उसमें नयी तालीम का यथार्थ वर्णन है। नयी तालीम का काम शासन को खतम करना है और उसी में समाज का भला है। क्रिया के जरिये हम ज्ञान देना चाहते हैं, इतने से नयी तालीम नहीं बनती है। यह नयी तालीम इसलिए कहलाती है कि वह बिल्कुल ही नये समाज की स्थापना करना चाहती है। एक दफा आपका समाज बनने के बाद भी नयी तालीम में कई प्रकार के अनुभव और सुधार होते चले जायेंगे। फिर जब आगे सुधार होंगे, तब वह अच्छी तालीम कहलायेगी। इस तरह की तालीम की अच्छाई धीरे-धीरे बढ़ती जायेगी और सुधार की प्रक्रिया जारी रहेगी। हम कहना यह चाहते हैं कि पुरानी कोई तालीम थी और उसमें सुधार करके यह तालीम बनी है, ऐसा खयाल मत कीजिए। यह नयी समाज-रचना करनेवाली तालीम है और सुधार के लिए इसमें अनन्त काल तक गुंजाइश है। इस वास्ते नयी तालीम की स्कूल का समाज हमारे भावी ग्राम-समाज का नमूना होगा। दस-पाँच उत्तम शिक्षक। उनके परिवार के और दस-बीस लोग। ६०-७० विद्यार्थी। कुल मिलाकर एक सौ मनुष्यों का समुदाय। उनको हमने काम करने के लिए औजार दे दिये हैं, उत्पादन के लिए जमीन दे दी हैं, जितनी पुस्तकें चाहिए उतनी दे दी हैं, साधन-सामग्री सब दे दी है। और फिर उन पर यह भार डाला जाता है कि तुम लोग विद्या भी दिया

करो और अपने सब लोगों की आजीविका भी चलाया करो। अगर वे कहें कि हमको जीवन चलाना है, हम शिक्षण नहीं दे सकेंगे, तो फिर वे नयी तालीम का 'क-ख' भी नहीं जानते।

'साक्षात्कारी' शिक्षण

हम अभी तेलंगाना में घूमते थे। वहाँ एक जगह एक किसान को शेर से मुकाबला करने का मौका आया। उसके हाथ में सिर्फ एक लाठी थी। वह बिल्कुल ही मामूली लाठी थी। उस लाठी के आधार से उसने उस शेर को खतम किया, निर्भयतापूर्वक उसके सिर पर प्रहार किया। उसका खून उसकी लाठी में लगा हुआ था। उसने हमको लाठी दिखायी। हमने उसका चेहरा भी देखा। तो हमने सोचा कि अगर वहाँ कोई विद्वान होता तो उसकी सब विद्या खतम हो जाती। लेकिन इस किसान की विद्या ऐसी थी कि शेर का मुकाबला कर सकती थी। हम कहना चाहते हैं कि यद्यपि हम बहुत विद्वान हैं, तो भी उस विद्या की बहुत कीमत नहीं है, यह समझने की अक्ल हममें आयी है। हम कबूल करते हैं कि आज हमको हमारी विद्वत्ता के कारण नाहक बहुत प्रतिष्ठा मिलती है, क्योंकि आज के समाज ने उस विद्वत्ता को प्रतिष्ठा दे रखी है। हम यह नहीं कहते कि विद्वत्ता की कोई कीमत नहीं है। पर बिल्कुल 'आउट ऑफ प्रपोर्शन' (बेहिसाब) उसको कीमत दे दें तो काम नहीं चलेगा। हमारी आज की विद्या का एक परिणाम यह है कि हम अपनी आँखों से देखते नहीं, दूसरे की आँखों से देखते हैं। हम दूसरे देशों में जाने की हिम्मत नहीं करते, अपनी आँखों से वहाँ का ज्ञान हासिल करने की हिम्मत नहीं करते और दूसरे देशों का वर्णन करनेवाली एकआध अंग्रेजी किताब पढ़ लेते और घर बैठे हमको ज्ञान हुआ, ऐसा मान लेते हैं। इसका मतलब दूसरे की आँखों से हम देखते हैं। और इस तरह जो कुछ ज्ञान हम हासिल करते हैं उसके बल पर विद्वान कहे जाते हैं! इस तरह की जो विद्या है, उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, परोक्ष ज्ञान है। ज्ञान तो उसी को कहेंगे कि जहाँ साक्षात्कार है, जहाँ साक्षात् अनुभव है। ऐसी विद्वत्ता हममें नहीं है। यानी जिसको अनुभव कहा जाता है, ऐसी विद्या हमारे पास नहीं है। इस हालत में हमारी विद्या हमको तेजस्वी नहीं बनाती, वीर्यवान् नहीं बनाती। इस दृष्टि से हमको नयी तालीम की ओर देखना चाहिए और नयी तालीम का सारा इन्तजाम समग्र दृष्टि से करना चाहिए।

नयी तालीम प्रगति क्यों नहीं करती?

गांधीजी कहते थे कि नयी तालीम को स्वावलम्बी होना चाहिए। पर आज तो ऐसी शिकायत है कि नयी तालीम महँगी हो रही है।

इसका कारण यह है कि हम मूल्य-परिवर्तन की बात तो करते हैं, पर आज की नयी तालीम में वह दिखायी नहीं देता। जिस तरह शिक्षा-विभाग में अन्यत्र वेतन का मान कम-ज्यादा है, वैसे ही नयी तालीम की संस्थाओं में भी है। वही नौकरी की दृष्टि, आगे की वृद्धि का विचार आदि इसमें भी चलता है।

सरकार बनानेवाले शिक्षक

आज तालीम का ऊपरी ढाँचा तो पुराना ही है। असली बुनियादी तालीम की बुनियाद पर ही ऊपर का ढाँचा खड़ा होना चाहिए। किन्तु आज वैसी बात नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ कि निर्णायक पद या 'कुंजी की जगह' (की पोजिशन) तो सरकार नहीं, मतदाता है। इसलिए आज के शिक्षक जनता में जाकर मतदाताओं का विचार बदलेंगे, तो उनके हाथ में निर्णायक शक्ति आयेगी। फिर 'कुल सरकार कैसी बनानी है' यह बात भी उनके हाथ में होगी। इस तरह के शिक्षक खुद सरकार नहीं बनेंगे, बल्कि सरकार बनानेवाले होंगे। वे नौकरी नहीं करेंगे, बल्कि नौकरी करनेवालों पर नियंत्रण रखेंगे। यह शक्ति नयी तालीम के शिक्षकों में तब आयेगी, जब मूल्य-परिवर्तन अमल में आयेगा।

शिक्षक को ही शिक्षा में श्रद्धा नहीं

हमारी भूदान-यात्रा के दरमियान जहाँ-जहाँ बेसिक स्कूल हैं, हम वहाँ जाकर वहाँ का काम देख लिया करते हैं। वहाँ मैं शिक्षकों से सवाल पूछता कि "आपके लड़के कहाँ पढ़ते हैं?'', तो वे जवाब देते, "गया या पटना जैसे शहर में।" जहाँ बाप, गुरु और अच्छी पद्धति—तीनों एकत्र हैं, वहाँ वे लड़कों को अपने पास रखकर तालीम क्यों नहीं देते? जाहिर है कि उन्हें नयी तालीम में विश्वास नहीं है। बुनियादी तालीम के शिक्षक की पत्नी अपने बच्चों को लेकर शहर में रहती है।

माँ बच्चों को इतना तो जरूर सिखाती है कि “बेटा, तू दुनिया में और चाहे जो करना, पर अपने बाप जैसा बेवकूफ मत बनना।”

स्कूल की बनी चीजों का उपयोग

बेसिक स्कूल में खादी पैदा होती है, पर वहाँ के लड़कों के बदन पर खादी दिखायी नहीं देती। यानी वहाँ जो पैदा होता है, वह पहना नहीं जाता। यह तो होटल जैसी बात हुई, जहाँ पर दूसरों को खिलाने के लिए रसोई बनती है।

स्कूल में जो पैदा होता है, उसका वहीं उपयोग कर लेना चाहिए। वहाँ पर जो तरकारी पैदा होती है, उसका उत्पादन की दृष्टि से हिसाब लगाने के बजाय उसे वहाँ के लड़कों और शिक्षकों में बाँट देना चाहिए। इसी तरह वहाँ जो खादी पैदा होगी, वह लड़कों को देनी चाहिए। आपको सिर्फ इतना देखना है कि उत्पादन ठीक होता है या नहीं? स्कूल की पैदा की हुई चीजें वहीं के छात्रों को दे देने से कुछ खर्च बढ़ेगा, लेकिन आरम्भ में उसे बढ़ने दो। आखिर सरकार की भी तालीम पर कुछ खर्च करने की जिम्मेवारी है या नहीं?

अधूरे-लँगड़े प्रयोग

फिर मैं शिक्षकों से पूछता हूँ कि “यहाँ पर कुछ उद्योग का भी काम होता है। मान लो कि आप तीन घण्टे मजदूरी करेंगे और तीन घण्टे पढ़ायेंगे, तो आप तीन घण्टों में जितनी मजदूरी कमायेंगे, उतना ही हम आपको अध्यापन के तीन खण्टों के लिए देंगे। क्या यह आपको मंजूर है?”, तो वे कहते हैं, “नहीं।” इसका मतलब यह है कि उन उद्योगों पर वे निर्भर नहीं रह सकते। हमें कताई, बुनाई आदि उद्योगों का स्तर ऊपर उठाना है। उसके लिए हमें अपना जीवन-स्तर नीचे लाना पड़ेगा। किन्तु हम आज उसके लिए तैयार नहीं हैं। तब फिर लड़कों से क्यों कहते हैं कि उद्योग करो?

फिर मैं पूछता हूँ कि “आज आपको सरकार समान वेतन नहीं देती, तो भी आप स्वयं समान वेतन क्यों नहीं कर लेते? परिवार में तो ऐसा ही होता है।” लेकिन इस बात को भी वे कबूल नहीं करते।

इसका मतलब क्या है? नयी तालीम का एक भी मूल्य आज नयी तालीम की शालाओं में दीखता नहीं है। तब फिर उसका और क्या नतीजा होगा?

बिना गुरुपत्नी के गुरुकुल कैसा?

नयी तालीम के ट्रेनिंग केन्द्र में मैंने देखा कि शिक्षकों के साथ उनकी पत्नी नहीं रहती। लेकिन गुरुपत्नी के बिना कैसे चलेगा? उसे भी ट्रेनिंग देनी चाहिए और उसके बाद उसे पति के साथ काम करना चाहिए। उपनिषद में एक कहानी है। उपकोसल नाम का लड़का गुरु के घर रहता था। एक दिन उसने खाना नहीं खाया। वह गुरु से डरता था, इसलिए गुरु के पास जाकर कुछ कहने की उसमें हिम्मत नहीं थी। तब गुरुपत्नी ने उससे पूछा कि, “तुमने खाना क्यों नहीं खाया?”, तो लड़के ने जवाब दिया, “आदमी को अनेक कामनाएँ रहती हैं। जब उनकी पूर्ति नहीं होती, तब उसे भोजन की इच्छा नहीं होती।” तब गुरुपत्नी ने गुरु से कहा कि “उस लड़के को कुछ ज्ञान की इच्छा है। इसलिए उसे ज्ञान दो।” इस तरह गुरुपत्नी गुरु के पास पहुँचानेवाला एक वसीला (मध्यस्थ) है। इसलिए शिक्षकों के साथ उनकी पत्नी का रहना बहुत जरूरी है। मैं तो कहता हूँ कि गुरुपत्नी को भी तनख्वाह दो, वह भी लड़कों को पढ़ायेगी। रसोई के जरिये अच्छा ज्ञान दिया जाता है। आज आप शिक्षक को १०० रुपये तनख्वाह देते हैं, तो उसके बजाय उसे ८० रुपये दीजिए और उसकी पत्नी को ४० रुपये दीजिए।

देहातियों का विरोध

आजकल नयी तालीम का विरोध इसलिए हो रहा है कि नयी तालीम के स्कूल गाँव में ही खोले जाते हैं। इससे ग्रामीणों को लगता है कि यह तालीम हमारे लिए 'सरकार की विशेष कृपा' है। मद्रास में राजाजी की शिक्षा-योजना का जो विरोध हुआ, उसका कारण भी यही था कि वह देहातों के लिए लागू की गयी थी, शहरों के लिए नहीं। उधर तो ब्राह्मण और ब्राह्मणेतरों का झगड़ा चल रहा है। अक्सर ब्राह्मण शहर में रहते हैं, उन्हें भिन्न प्रकार की विद्या प्राप्त होती है। तो वहाँ के ब्राह्मणेतरों ने सहज ही कहा कि “ब्राह्मणों को अच्छी तालीम मिल रही है और हमें इस नयी तालीम के जरिये अनपढ़ ही रखा जाता है।”

शिक्षक के हाथ में क्रान्ति का झण्डा

अगर हम कहें कि, ऊपर से सारी विषमता हट जायेगी, तब नयी तालीम सफल होगी, तो नयी तालीम की बुनियाद ही कटेगी। हम तो नयी तालीम से ही विषमता को काटेंगे। सरकार विषमता को दूर नहीं कर सकती। समाज में यह जो विषमता है, उसका प्रतिबिम्ब सरकार में दिखायी देता है। तो जब समाज बदलेगा और उसमें समता स्थापित होगी, तब सरकार को भी उसके अनुसार बदलना पड़ेगा। मैं चाहता हूँ कि शिक्षकों के हाथों में क्रान्ति का झण्डा हो। हमें शिक्षकों की एक सेना खड़ी करनी है और फिर जैसे सेना के आधार पर सेनापति रक्तहीन बगावत करते हैं और उसके सामने वहाँ की संसद की भी कुछ नहीं चलती, उसी तरह हमें भी करना है। लेकिन अहिंसा के तरीके से। यह क्रान्ति करने की शक्ति इन शिक्षकों में है।

६. मूलोद्योग की शिक्षण-दृष्टि

व्यायामोपयोगी उद्योग

'समवाय-पद्धति' उद्योग द्वारा ज्ञान देना चाहती है। इसलिए जहाँ तक सम्भव होगा, वह व्यायाम भी उसी में से निकालेगी। मतलब यह कि उद्योग करते समय बच्चों के शरीर का उचित विकास होता है या नहीं, इस ओर शिक्षक को ध्यान देना चाहिए। तेजी से साथ ५-७ मिनट तक लगातार किये जानेवाले व्यायामों की अपेक्षा उद्योग में यदि ठीक ध्यान रखा जाये, तो देर तक और धीरे-धीरे जो व्यायाम होता है, उसका महत्त्व शरीर-शास्त्र की दृष्टि से कम नहीं है।

किन्तु उचित ध्यान दिये बिना उत्तम व्यायाम दे सकनेवाले लाभदायी उद्योग भी कष्टप्रद होते देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, **पृष्ठेव तष्टयामयी** अर्थात् बढ़ई की पीठ में दर्द होता है और वह टेढ़ी हो जाती है। ऋग्वेद की यह शिकायत हम इन दस हजार वर्षों में भी दूर नहीं कर सके हैं। हमारे देश में ज्यादातर बढ़इयों की पीठें धनुषाकार दिखायी पड़ती हैं और वे सामान्यतः दीर्घायु भी कम होते हैं। वैसे तो बढ़ईगीरी को शरीर के लिए लाभदायक समझना चाहिए, पर दिनभर पीठ झुकाकर काम करने की आदत हमें यह लाभ नहीं उठाने देती। बढ़ई के बहुत-से काम खड़े-खड़े किये जा सकते हैं, इस ओर हम लोगों ने ध्यान नहीं दिया।

काम के साथ कवायद

कुछ देर बैठकर काम करने के बाद खड़े होकर काम करना चाहिए। समयानुसार बैठने के ढंग भी बदले जायें। दोनों हाथों से अदल-बदलकर काम करना चाहिए। कुछ देर कमरे में काम करने के बाद खुली हवा में कसरत, बगीचा आदि के लिए कुछ समय दिया जाये। कुछ देर निकट देखने का काम, तो कुछ देर दूर देखने का काम रहे, कुछ देर संगीत गायन और कुछ देर केवल मौन। सारांश यह कि इस प्रकार उद्योग को बिना कुछ हानि पहुँचाये, हम काम में विभिन्नता ला सकते हैं, और लानी चाहिए। उदाहरणार्थ, अगर बच्चों ने तीस मिनट तक बैठकर तकली पर काता है, तो अटेरन पर सूत लपेटने में पाँच दस मिनट लगेंगे। यह काम खड़े होकर किया जाये।

कताई के पाठ्यक्रम में दी हुई सूचनाओं में एक यह भी है कि कवायद के द्वारा उद्योग सिखाया जाये। वह सूचना यद्यपि प्रथम वर्ष के लिए दी गयी है, तो भी मामूली तौर पर वह सभी उद्योगों पर लागू होती है। उस सूचना के मूल में व्यायाम कराने का उद्देश्य है।

शिक्षक को खास तौर पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उद्योग की किसी भी क्रिया में या अन्य विषयों की पढ़ाई के समय विद्यार्थियों की शरीरस्थिति बिल्कुल ठीक रहे।

सातत्ययोग का अभ्यास

बहुत छोटे बच्चों के आसन थोड़ी-थोड़ी देर बाद बदलवाते रहना, जिस प्रकार उद्योग का एक पहलू है, उसी प्रकार सातत्य से अर्थात् जमकर एक ही आसन पर या एक ही शरीरस्थिति में काम करने का अभ्यास या धुन विद्यार्थियों में उत्पन्न करना उद्योग का दूसरा पहलू है। इसे 'सातत्य-योग' कहते हैं। इसका अभ्यास विद्यार्थियों में उत्तरोत्तर बढ़ना चाहिए। यदि यह मान लें कि तकली कातते समय बहुत छोटे बच्चों का हाथ १५-१५ मिनट पर बदलना है, तो 'सातत्ययोग' के अभ्यास के लिए सप्ताह में एक दिन या सम्भव हो, तो रोज ३०-४० मिनट एक ही हाथ से या एक ही आसन से कताई करायी जाये।

सातत्य के बिना कर्म-योग सिद्ध नहीं होता। आजकल हमारे शिक्षित लोगों में श्रम-सातत्य का, अर्थात् लगातार मेहनत करने की ताकत का, प्राय: अभाव दिखायी पड़ता है। यह दोष हमें

दूर करना चाहिए। उद्योग की अन्तिम परीक्षा कुछ हफ्तों तक रोज आठ घण्टे काम करने की है। हमें विद्यार्थियों को धीरे-धीरे इस लक्ष्य की ओर ले जाना चाहिए। जिस प्रकार नदी पर्वत से खेलती-कूदती निकलती है, परन्तु अन्त में समुद्र के पास स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार उद्योग-शिक्षण का आरम्भ विविधता के साथ हो, पर अन्त में उसे सातत्य पर पहुँचना चाहिए

कचरे का उपयोग

उद्योग में कचरा कम-से-कम हो और जो हो, उसका भी उपयोग किया जाये, यह एक विशेष ध्यान देने की बात समझनी चाहिए। इस संसार में हम सबसे दरिद्र हैं, परन्तु इस विषय में हम उतने ही उदासीन और अपव्ययी (उड़ाऊ) भी हैं। हम सोन-खाद (मैले की खाद) जैसी अमूल्य खाद को लापरवाही के साथ फेंक देते हैं और उससे रोग फैलाते हैं। मरे हुए जानवरों के बारे में भी करीब-करीब यही हाल है। हम नीबू खाते हैं, पर उसका मूल्यवान छिलका फेंक देते हैं। इस तरह हमारे अपव्ययों के असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में हमें सभी पहलुओं से गहरा ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ, कपास साफ करते समय पीछे पड़ी ढोंढ़ी को निकालकर उसके बिनौले व्यर्थ न फेंके, धुनाईचटाई के नीचे जमा होनेवाली रूई को मोटा सूत कातने के या दूसरे किसी काम में लायें। चरखा सिखाते समय शुरू में जो सूत टूटता है, उससे आलपीन खोंसने की गद्दियाँ (पिन-कुशन्स) बना लें।

सौन्दर्य-भावना

अक्सर लोग सवाल उठाते हैं कि छोटे बच्चे सुन्दर और सुव्यवस्थित माल कैसे तैयार कर सकेंगे? किन्तु यदि उचित ध्यान दिया जाये, तो इस भय की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। अनुभव से यह पता चलता है कि बच्चों के हाथ से निकला सूत उत्तम और साफ हो सकता है। बच्चों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है, इसलिए वे सौन्दर्य का भी अनुकरण कर सकते हैं। बच्चे इस बात के लिए कभी राजी नहीं होते कि उनके पिता की थाली में पूरा लड्डू हो और उनकी अपनी थाली में लड्डू का टुकड़ाभर हो। वे चाहते हैं कि उनको भी पूरा ही लड्डू मिले, भले ही वह छोटा हो। व्यावहारिक मनुष्य के उपयोगितावाद को ग्रहण करना बच्चों के लिए जितना कठिन है,

सौन्दर्य को ग्रहण करना उतना कठिन नहीं। जो सुन्दर नहीं, उसका शिक्षण में कुछ भी मूल्य नहीं होना चाहिए।

पूनियाँ निश्चित लम्बाई की होनी चाहिए। यह बात बच्चों को जितनी जँचेगी, उतनी सयानों को नहीं जँचेगी। सयाने या बड़े तो यही कहेंगे कि अगर लम्बाई कुछ कम-ज्यादा हुई भी, तो क्या बिगड़ता है? निश्चित लम्बाई रखने के लिए विशेष ध्यान देना होगा, समय भी ज्यादा लगेगा, लेकिन उसके मुकाबले में लाभ क्या होगा? ऐसे लोगों से हार मानकर ही शायद धर्मशास्त्रकारों ने यह कहा होगा, "अरे भाई, समान पूनियों से स्वर्ग मिलता है।" छोटे बच्चों के शिक्षण में मिथ्या उपयोगितावाद को स्थान नहीं मिलना चाहिए। काम कम हो तो चल सकता है; पर हो वह सुन्दर। अर्थात् सौन्दर्य के कारण काम कम हो तो हर्ज नहीं; किन्तु यदि गति की मंदता के कारण काम कम हुआ, तो वह ठीक नहीं होगा, यह स्पष्ट है।

उद्योग में सामूहिक भावना

विद्यार्थियों में सामूहिक रूप से एक साथ मिल-जुलकर काम करने की भावना उत्पन्न न हुई, तो हमारे शिक्षकों ने कुछ नहीं किया। यह सामूहिक भावना हम लोगों में प्राय: बहुत कम है। बड़े-बड़े संकटों के अवसरों को छोड़ हम अपने घर के बाहर दृष्टि तक नहीं दौड़ाते।

उद्योग के द्वारा सामूहिक भावना उत्पन्न करना उद्योग का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाना चाहिए। कोई विद्यार्थी धुनने में असमर्थ हो, तो दूसरे विद्यार्थी को प्रसन्नता से उसका काम करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह खुद अपने लिए जितनी अच्छी धुनाई करता, उससे ज्यादा अच्छी धुनाई दूसरों के लिए करने की वृत्ति उसमें होनी चाहिए। अपना-अपना कचरा हरएक उठा ले, परन्तु एकआध ने न उठाया हो, तो दूसरों को चाहिए कि वे उस कचरे को उठाने का भार अपने ऊपर समझें।

'मुझे अपनी गति के बढ़ने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए', बल्कि 'मेरी सारी कक्षा की औसत गति उत्तम हो', यह भाव हरएक विद्यार्थी के मन में उठना चाहिए। इसके लिए व्यक्तिगत

हिसाब के साथ-साथ सामूहिक हिसाब रखकर उसकी ओर सब विद्यार्थियों का ध्यान खींचना चाहिए।

चरखे की माला बनाना हरएक को आना चाहिए और सबको अपनी-अपनी माला तैयार करनी चाहिए। किन्तु यदि सारी कक्षा के लिए या दूसरे विद्यार्थियों के लिए माला तैयार करने का काम मिले, तो उसे बहुत खुशी से और सावधानी के साथ करना चाहिए।

हरएक विद्यार्थी के सूत की मजबूती की जाँच के लिए हरएक का सूत अलग-अलग बुनवाया जाये। साथ ही बीच-बीच में सारी कक्षा के सूत का कपड़ा बुनवाकर पाठशाला के संग्रहालय में रखा जाये। 'यह हमारी कक्षा के सूत का कपड़ा है'—प्रेम की और सामूहिकता की ऐसी वृत्ति छात्रों में उत्पन्न की जाये और सब विद्यार्थी यह समझें कि उस कपड़े के थान के गुण-दोष उन सभी के गुण-दोष हैं।

'तू अभी तक कातने में प्रगति नहीं करता, ध्यान नहीं देता, बाकी सब विद्यार्थी आगे बढ़ रहे हैं, तुझे शर्म क्यों नहीं आती?' शिक्षक को इस तरह की झिड़कियाँ कभी नहीं देनी चाहिए। उसे तो विद्यार्थी से यह कहना चाहिए कि 'तू अभी तक सूत-कताई की ओर ध्यान नहीं देता, इससे तेरी कक्षा की प्रगति कैसे होगी? कक्षा की प्रगति के लिए तो कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को भरसक प्रयत्न करना चाहिए।'

इसी तरह अनेक उपायों द्वारा विद्यार्थियों में सामूहिक बन्धु-भावना उत्पन्न की जानी चाहिए।

साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया

उद्योग की विभिन्न क्रियाओं, साधनों या बातों के सम्बन्ध में ज्ञान देते समय हम उद्योग की सीमा में ही रहें, किन्तु उसकी सीमा में हम बन्द न हो जायें। जिस प्रकार पर्वत पर बैठकर हम चारों ओर की दुनिया देखते हैं, उसी प्रकार उद्योग में पैर जमाकर उसके द्वारा हमें अपने चारों ओर के विश्व का निरीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार उद्योग द्वारा विश्वनिरीक्षण की पद्धति को साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया कहते हैं। इसकी सहायता से मनुष्य उद्योग में रहता तो है, पर उसमें बन्दी नहीं हो जाता।

मान लीजिए कि विद्यार्थियों को यह बात समझानी है कि तकली या चरखा सीधी गति से घुमाना चाहिए। अत: सीधी गति किसे कहते हैं, यह बात उन्हें तकली या चरखा प्रत्यक्ष घुमाकर और उसके घूमने की दिशा की ओर ध्यान आकृष्ट करके बतलानी होगी। किन्तु ऐसा करते समय सीधी और उलटी गतियों के अनेक दृष्टान्त यानी 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' के दृष्टान्त बच्चों के सामने रखने चाहिए। उदाहरणार्थ,

साधर्म्य के उदाहरण

(१) घड़ी की सुइयाँ कैसे घूमती हैं? (२) कुएँ में बालटी डालते समय गिर्री या रहँट कैसे घूमता है? (३) पेंच को कसते समय वह कैसे घूमता है? (४) ताला लगाते समय ताली कैसे घूमती है? (५) आरती कैसे उतारते हैं? (६) मन्दिर की प्रदक्षिणा कैसे करते हैं? (७) तेली का कोल्हू कैसे घूमता है? (८) लट्टू कैसे घुमाते हैं?

वैधर्म्य के उदाहरण

(१) कुएँ से पानी खींचते समय। (२) पेंच खोलते समय। (३) ताला खोलते समय। (४) चक्की से आटा पीसते समय। (५) सप्तर्षि या ध्रुवमत्स्य देखते समय आदि।

ये सब बातें विद्यार्थियों को प्रत्यक्ष रूप से बतलानी चाहिए। इसमें कितना भी समय क्यों न लगे कोई हर्ज नहीं।

साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया या उपयोग वैज्ञानिक एक अभिप्राय से और कवि दूसरे अभिप्राय से किया करते हैं। हमें दोनों अभिप्रायों से उसका उपयोग करना चाहिए, अर्थात् उद्योग पर प्रकाश डालकर ज्ञान को खरा बनाने के लिए और ब्रह्माण्ड की सैर के आनन्द की अनुभूति के लिए।

वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति

किसी मनुष्य को सूत कातना तो अच्छी तरह आता है, लेकिन कातने की क्रिया वह जिस प्रकार करता है, उसे वह भाषा द्वारा प्रकट नहीं कर पाता। तो, उसके लिए यह कहा जा सकता है कि उसने पूरे तौर से कातने की प्रक्रिया नहीं समझी। इसे बोलने की शक्ति की कमी नहीं समझा जा सकता। बल्कि इसका अर्थ यह है कि हाथ से किया जानेवाला काम जिन बहुत-सी सूक्ष्म

क्रियाओं के मिलने से हुआ है, उनका स्वरूप दिमाग में नहीं जमा। या यों कहिए कि काम करना तो आ गया, लेकिन उस काम का विश्लेषण करना नहीं आया।

हमारे देश के प्राय: सभी कारीगर इसी श्रेणी के हैं। यदि उनसे कहा जाये कि हमें काम सिखा दो, तो वे कहेंगे, "भाई, जो कुछ हम करते हैं, उसे देखते जाओ।" वे रन्दा मारकर दिखायेंगे और कहेंगे : "इस तरह रन्दा मारो।" उनके 'इस तरह' से आपको जो कुछ समझना हो, समझ लीजिए।

हमें यह हालत बदलनी है। हाथ और बुद्धि, दोनों को मिलानेवाली है— वाणी। इसलिए उद्योग की क्रियाएँ और वाणी द्वारा उन्हें व्यक्त करने की शक्ति, दोनों विद्याएँ जब तक विद्यार्थी को न आ जायें, तब तक यह नहीं समझना चाहिए कि उसे उद्योग आ गया।

वाणी का अर्थ है, 'निश्चित और स्पष्ट वाणी।' उदाहरणार्थ, पेन्सिल को लम्बाई में खड़ी करने पर बहुत-से लोग उसे 'सीधी' कहते हैं। दूसरे रूप में खड़ी करने पर उसे 'टेढ़ी' कहते हैं। वास्तव में पहली खड़ी है, दूसरी तिरछी है, पर दोनों हालतों में पेन्सिल सीधी है। हाल में ही किसी शिक्षा-विभाग की ओर से प्रकाशित एक पुस्तक में शिक्षकों को सूचना दी गयी थी कि "अमुक श्रेणी के बच्चों को जोड़ सिखलाने में संख्याएँ पचास से ऊपर न हों।" परन्तु कहना यह था कि जोड़ के लिए ऐसी संख्याएँ ली जायें, जिनका योगफल पचास से अधिक न हो। इस प्रकार कहा कुछ जाये और अर्थ कुछ निकले, उसे मैं वाणी नहीं कहता।

यह बात मातृभाषा के क्षेत्र की है। इसलिए मातृभाषा की कक्षा में इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। किन्तु मेरे विचार से तो यह बात उद्योग के ही अन्तर्गत आ जाती है और सिर्फ उद्योग का शिक्षण देनेवाली पाठशालाओं में भी हम इसे छोड़ नहीं सकते।

शास्त्रीय बुद्धि

उद्योग द्वारा विद्यार्थियों में शास्त्रीय बुद्धि का विकास होता रहना चाहिए। शास्त्रीय बुद्धि में निम्नलिखित बातों का समावेश होता है—

(१) पृथक्करण—किसी बात का या वस्तु का विश्लेषण करना। अर्थात् उसके विभिन्न भागों को अलग-अलग करना।

(२) एकीकरण— पृथक्करण का उलटा। अर्थात् किसी बात या वस्तु के विभिन्न भागों का संयोजन करना।

(३) वर्गीकरण—भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित करना।

(४) अनुक्रम—सिलसिलेवार जमाना।

(५) साहचर्य—कौन-सी बात या वस्तु दूसरी किस बात या वस्तु से मिलती है, यह देखना।

(६) कार्य-कारणभाव—कार्य से परिणाम पर पहुँचना और परिणाम को देखकर उसके कारण का पता लगाना।

(७) इन्द्रियप्रामाण्य—इन्द्रियों के ज्ञान से वस्तुओं का अनुमान लगाना।

(८) इन्द्रियभ्रम—इन्द्रियों के भ्रम में न पड़ना। अर्थात् ऊपरी रूप को देखकर भुलावे में न पड़ना।

(९) महत्त्वमापन अथवा तारतम्य—वस्तुओं के आकार-प्रकार की तुलना करना।

(१०) संशय—सन्देह का निवारण करना।

(११) निश्चय—निश्चित परिणाम पर पहुँचना।

अगर इन सबके उदाहरण दिये जायें, तो विषय बहुत बढ़ जायेगा। संक्षेप में, खास बात यह है कि उद्योग के द्वारा बुद्धि में अन्वेषण (छानबीन या खोज) की शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए। अमुक बात इस प्रकार से करनी है या नहीं करनी है, केवल इस तरह के विधि-निषेध के ज्ञान से उद्योग में वास्तविकता और सजीवता नहीं आ सकती। ऐसा नहीं होना चाहिए। कोई बात क्यों करनी चाहिए और क्यों नहीं करनी चाहिए, इसका कारण जाने बिना, केवल आँख मूँदकर विधि-निषेध का पालन करने से उद्योग में प्रगति नहीं हो सकती।

कोई विधि अथवा निषेध करते समय उसका कारण उसी समय बतलाना जरूरी नहीं है। कारण की मीमांसा आवश्यकतानुसार आगे-पीछे या साथ-साथ कर सकते हैं, पर वह हो अवश्य, इतना ही मुझे कहना है। सिखाने की पद्धति ऐसी हो कि विद्यार्थियों के दिल में प्रश्न उठते जायें

और वे स्वयं उन्हें शिक्षकों के सामने रखते जायें। अवसर देखकर शिक्षक स्वयं भी प्रश्न करें और विद्यार्थी उनके सम्बन्ध में चर्चा करें।

जिन प्रश्नों को मामूली तौर पर कोई न पूछे, ऐसे प्रश्न भी उपस्थित किये जायें। उदाहरणार्थ, चरखे का चक्र चौखूँटा क्यों न हो? इस तरह का प्रश्न मामूली तौर पर कोई नहीं पूछता। अगर किसी ने पूछा भी, तो लोग उसे मूर्ख समझेंगे। किन्तु हम तो उसे चतुर समझेंगे। इतना ही नहीं बल्कि हम स्वयं ऐसा प्रश्न उपस्थित करेंगे और उसका शास्त्रीय उत्तर तर्क द्वारा निकलवायेंगे।

गाँव की गन्दगी को दूर करना आदि सार्वजनिक कार्य तो शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों को मिलकर यथावसर करने ही हैं, परन्तु पाठशाला को बुहारना, पाठशाला का आँगन साफ करना, उसे गोबर से लीपना आदि कार्य भी विद्यार्थियों के साथ शिक्षक करें, ऐसा नियम होना चाहिए। तुच्छ समझा जानेवाला कोई भी काम केवल विद्यार्थियों को नहीं सौंपना चाहिए, बल्कि शिक्षक को उसे स्वयं करना चाहिए और बच्चों से कराना चाहिए। इस प्रकार किये बिना बच्चों में परिश्रम-निष्ठा उत्पन्न नहीं होगी।

स्वराज्य आन्दोलन के राष्ट्रीय झण्डे पर बना चरखा शारीरिक परिश्रम का अर्थात् अहिंसा का चिह्न है, इसका एहसास पाठशाला के औद्योगिक वातावरण के जरिये होना चाहिए।

क्या मछली मारना मूलोद्योग है?

प्रश्न पूछा गया है कि मुर्गीपालन, मछली पकड़ना ये मूलोद्योग के रूप में ले सकते हैं क्या? मैं जब मछली पकड़ने के धन्धे के बारे में सोचता हूँ, तो इस उद्योग द्वारा बच्चों को विद्या देने को मैं अपने-आपको तैयार नहीं पाता। क्योंकि तब मुझे बच्चों को यह सिखाना होगा कि उसके लिए इस तरह से एक हुक बनाओ। फिर यह भी बताना होगा कि उसमें किस तरह से मांस लगाओ। आमिष इसलिए कि मछली उसे खाने के लिए आकृष्ट होकर आये। अर्थात् यह उसे ठगने की बात है। मछली को तो यह बताना है कि हम तुम्हें कुछ खिला रहे हैं। वह बेचारी खाने के लिए हुक पकड़ती है और हम फौरन उसे पकड़कर अपने कब्जे में ले लेते हैं। इसमें सब तरह से असत्य भी आया और हिंसा भी। तब मेरे लिए यह बहुत कठिन काम हो जायेगा और बच्चों को इस तरह से

तालीम देना मुझसे नहीं बनेगा। मैं बच्चों को किस तरह समझाऊँगा कि इस तरह फुसलाना और ठगना भी मानवीय सत्य में आता है? यानी फिर मानवीय सत्य और अन्य सत्य, इस तरह का एक भेद हमें करना पड़ेगा। हिंसा को तो खैर एक दफा मैं कबूल भी कर लूँ, पर असत्य कबूल करना मेरे लिए असह्य है। अब कोई ऐसी राह बता सकता है कि जिससे उन मछलियों को ठगने की भी जरूरत न पड़े और ज्यादा तकलीफ भी न हो और वे हमारे हाथ में आ जायें। फिर भी बच्चों के शिक्षण में ऐसी चीज रखना मैं उचित नहीं मानूँगा। इन प्राणियों में भावनाओं का स्पष्ट ज्ञान मुझे दिखायी पड़ता है। मैं खाने के लिए कुछ चीज देता हूँ, तो मछली फौरन प्रेम से खाने के लिए दौड़ आती है। डराता हूँ, तो भाग जाती है। मतलब यह कि वह मेरे प्रेम को समझती है और क्रोध को भी। तो इस तरह की भावना जहाँ मैं स्पष्ट देखता हूँ, वहाँ उनकी हत्या करने की बात मैं किस तरह बच्चों को समझा सकूँगा, यह मेरी समझ में नहीं आता।

अहिंसाधिष्ठित मुलोद्योग

किसी ने मुझसे पूछा कि 'समवाय क्या चीज है?' मैंने कहा—“समवाय का अर्थ तो होता है, ज्ञान और कर्म का सम्मिलिन।'' तो उन्होंने कहा कि “यही अगर है, तो हम अणु-बम के कारखाने में विद्यार्थियों को लगा सकते हैं। उसमें कर्म भी हुआ और उसके जरिये उन्हें ज्ञान भी दिया जायेगा; ज्ञान और कर्म का भेद मिटा दिया जायेगा, तो 'समवाय-पद्धति' होगी। क्या आप इसे कबूल करेंगे?” मैंने कहा, “कबूल नहीं करूँगा। समवाय में ज्ञान और कर्म का अभेद आता है, लेकिन वह तो आपका अणु-बम का कारखाना है, उसमें मैं लड़के को नहीं लगाऊँगा; क्योंकि उसमें हमारा सर्वोदय का सिद्धान्त बाधित होता है। ऐसा उद्योग नयी तालीम में नहीं चलेगा।” तो उन्होंने कहा कि तो आप समवाय का अर्थ यह करो कि जहाँ ज्ञान और कर्म का भेद मिट जता है और जहाँ साध्य और साधन शुद्ध होता है।'' यह सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई और वह बात मैंने स्वीकार कर ली। हमारे समवाय में साधन और साध्य, दोनों की शुद्धि का विवेक रहना चाहिए।

कुछ लोग पूछते हैं कि “आप जो छोटे-छोटे औजार हाथ में लेते हो, वैसे औजारों से पैदावार क्या होगी?” मैं उनसे कहता हूँ कि “हिन्दुस्तान की हालत क्या है, यह तो देखो ! हमारे यहाँ की गरीबी देखो और फिर सवाल पूछो। हमारा यह सारा प्रयास गरीबों के लिए ही है। गाँवों में इतनी

गरीबी है कि गाँववाले अपने लड़के हमारे यहाँ पढ़ने के लिए नहीं भेजते। लड़के घर पर रहेंगे, तो कुठुम्ब का कुछ भार हलका करेंगे, स्कूल में तो कुछ कमाई होती नहीं। इस हालत में हमें ऐसी पद्धति से काम लेना चाहिए, जिससे वे अपने घर में काम भी कर सकें और स्कूल भी जा सकें।"

हमारे स्कूल द्वारा गरीबों की सेवा हो, यह दृष्टि हम अपने सामने रखें, तो फिर पाँच घण्टे पढ़ायें या छह घण्टे? एक दफा पढ़ायें या दो दफा? ऐसे सभी प्रश्नों का उत्तर अपने-आप मिल जायेगा। जिस पद्धति से गरीबों की सेवा हो सकेगी, वही पद्धति नयी तालीम की पाठशाला में जारी होगी। ऐसी पद्धति की पाठशालाएँ चालू की जायेंगी, तभी वे व्यापक पैमाने पर खोली जा सकेंगी।

७. विषय कैसे पढ़ाया जाये?

ज्ञान प्रासंगिक हो

सामाजिक अध्ययन के बारे में यह धारणा-सी बनी दीखती है कि सभी विषय उद्योग द्वारा सिखाये जायें। पर वह धारणा ठीक नहीं। जैसे चाबी से ताला खोला जाता है, ठीक वैसे ही उद्योग द्वारा जीवन को खोलना है।

मान लीजिए, बारिश का दिन है। तो कक्षा में बच्चों से पहले यही पूछिए कि कया आप लोग आज शौच, मुख-मार्जन आदि से निबट आये हैं? यह प्रश्न आज ही क्यों? इसलिए कि वर्षा के कारण बच्चे शौच जाने में आलस करते हैं?

बच्चों को खिड़की-दरवाजों के बारे में जानकारी करानी है, तो मैं उनसे पूछूँगा, "खिड़कियों का क्या उपयोग है?" बच्चे कहेंगे, "उनसे उजाला और हवा भीतर आयेगी।" फिर मैं पूछँगा, "छप्पर में खिड़कियाँ बना देने से हवा और रोशनी मिलेगी, तो क्या उससे काम चल सकेगा?" वे कहेंगे, "नहीं, बाहरी सृष्टि भी दिखायी पड़नी चाहिए।" फिर मैं पूछूँगा, "मान लो, वैसी खिड़कियाँ भी बना दीं। पर उनसे बाहर-भीतर जाना-आना नहीं हो सकेगा, तो क्या उनसे काम चलेगा?" वे कहेंगे, "नहीं, बाहर-भीतर आने-जाने की व्यवस्था भी चाहिए। उसके लिए दरवाजा चाहिए।" इस तरह खिड़कियों और दरवाजों का उपयोग जब उनके ध्यान में आ जायेगा, तो मैं उनसे पूछूँगा,

“बताओ तो, अपने शरीर में ऐसे खिड़की-दरवाजे कौन-कौन से हैं?” आँख, कान, मुँह, नाक आदि को संस्कृत में ‘द्वार’ कहा गया है। गीता में कहा है, **सर्वद्वाराणि संयम्य**—सभी दरवाजों का नियमन कर, सभी खिड़की-दरवाजों पर पहरा रखना चाहिए। **नवद्वारे पुरे देही**—नौ दरवाजों के नगर में यह आत्मा निवास करता है। मानव को आँखों पर से खिड़की रखने की कल्पना सूझी होगी। पर मनुष्य की आँखें तो बहुत छोटी होती हैं। गाय की आँखें बड़ी होती हैं। इसीलिए मनुष्य गाय की आँखों की तरह खिड़कियाँ बनाने लगा। संस्कृत में खिड़कियों को ‘गवाक्ष' कहते हैं। गवाक्ष माने गाय की आँख। उसी तरह की खिड़की अंकित कर दिखाओ, ऐसा मैं लड़कों से कहूँगा। ऐसी आँख बनायी, तो वह चित्रकला हो गयी। उसके बाद मैं बताऊँगा कि लोगों ने उसमें किस-किस तरह बदल किया। यह हो गया इतिहास। अब इस तरह की खिड़कियाँ क्या आज कहीं मिलेंगी? यह बतलाने के लिए मैं उन्हें 'लॅपलैण्ड' की ओर ले जाऊँगा और उसी प्रसंग में वहाँ के निवासियों के जीवन की तथा अन्य जानकारी कराऊँगा। सारांश, इस तरह प्रासंगिकरूप से दूर देश के लोगों के जीवन की जानकारी देनी चाहिए।

हमारे देश जैसा ही प्राचीन और अत्यन्त घनी आबादीवाला तथा बहुत जोती गयी जमीनवाला देश चीन है। पर चीन इतना उपजाऊ क्यों है? जमीन का उपजाऊपन बनाये रखने के लिए क्या करना चाहिए? यह बताते हुए मैं बच्चों को खाद की जानकारी कराऊँगा। सोन-खाद का उपयोग कैसे किया जाये, यह बात चीनियों से विशेषरूप से सीखने की है। चीन में सोन-खाद का काफी उपयोग किया जाता है। उससे वहाँ की जमीन इतने साल जोती जाने पर भी उपजाऊ बनी हुई है। यह बात मैं उन्हें समझाऊँगा।

एक अमेरिकन ने 'चार हजार साल के किसान' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने बताया है कि “हम अमेरिकन लोग उड़ाऊ हैं। हर आदमी के पीछे १५-२० एकड़ जमीन है। हमारी जमीन अभी केवल चार सौ साल से जोती गयी है। इतना होते हुए भी उपजाऊपन के लिए हम तरह-तरह की रासायनिक खाद डालते हैं और जमीन को बिगाड़ते हैं। सोन-खाद जैसी उत्कृष्ट खाद हम व्यर्थ ही बरबाद करते हैं।” शिक्षकों को वह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

अगर किसी दिन जोर की वर्षा हो, तो बच्चों को छुट्टी दे देनी चाहिए। उस वर्षा में बच्चे खेलेंगे-कूदेंगे, मौज उड़ायेंगे। उनके साथ ही शिक्षक भी उन्हें खेलायें और उन्हें बतायें कि वर्षा परमात्मा की कृपा है। हमारे यहाँ बारिश होने पर छुट्टी होती है, पर इंग्लैण्ड में धूप होने पर। ऐसा क्यों? इसलिए कि वहाँ सदा ही 'दुर्दिन'—बादलों से घिरा दिन—होता है। इसी कारण सूरज निकलने पर छुट्टियाँ दी जाती हैं। इस तरह मैं बच्चों को इंग्लैण्ड के जलवायु की जानकारी दूँगा।

पढ़ना-लिखना

कंठस्थ करना

कुछ लोग समझते हैं कि बुनियादी पाठशाला में पढ़ना-लिखना बिल्कुल सिखाया ही नहीं जाता। मैं तो अपने छात्रों को शुरू में ही उपनिषद पढ़ाऊँगा। **सत्यं वद, धर्मं चर**—यह सब सिखाऊँगा। मैंने सुना है कि संस्कृत की पुस्तकों में मेज-कुरसी की और बाजार आदि की कहानियाँ होती हैं। यह सर्वथा निरर्थक है। बच्चों को पहले ही दिन से उपनिषद की कहानियाँ और उत्तम-उत्तम श्लोक कंठस्थ करना सिखाना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि कंठस्थ कराना गलत है। लेकिन रस्किन को पाँच साल की उम्र में ही सारी 'बाइबिल' कंठस्थ हो गयी थी और उसी से उसका सारा जीवन बना है। लेकिन आज स्कूल में कौए और चिड़ियों की कहानियाँ कंठस्थ कराते हैं।

विद्यार्थियों को उत्तम अर्थ-ज्ञान से युक्त कम-से-कम दस हजार श्लोक तो कंठस्थ रहने ही चाहिए। आजकल सारा ज्ञान पुस्तकों में ही रह जाता है, कंठ में नहीं आता। हमारी माँ हमसे कहा करती थी कि 'परस्वाधीन जिणें आणि पुस्तकी विद्या नाहीं कामाची, नाहीं कामाची, नाहीं कामाची।' यानी पराधीन जीवन और पुस्तकी विद्या समय पर काम नहीं देती। इसलिए विद्या कंठगत होनी चाहिए।

प्रसंग के अनुसार पाठ

बच्चों को प्रसंग के अनुसार पढ़ाना चाहिए। यदि बच्चा आलस्य करे, तो उसे उत्साह का श्लोक सिखाना चाहिए। यदि वह डरता है, तो उसे निडरता का श्लोक सिखाना चाहिए। इस तरह

मौके पर सिखाना चाहिए, बेमौके नहीं। मान लीजिए, एक लड़का धीरे-धीरे कातता है, उसकी गति कम है, लेकिन उसका सूत टूटता नहीं और दूसरा जल्दी-जल्दी कातता है, पर उसका सूत बार-बार टूटता है। उस समय लड़के को कछुआ और खरगोश की कहानी सिखानी चाहिए, जिससे उसे अखण्डता का ज्ञान हो।

प्रत्यक्ष जीवन द्वारा ज्ञान

जो लोग पुस्तकों के जरिये ज्ञान देना आसान समझते हैं, वे गलत समझते हैं। मिसाल लीजिए, बच्चों को गणित सिखाना है। दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। हम तो कहते हैं कि दो और तीन मिलते ही नहीं, दो तो दो ही रहते हैं और तीन-तीन ही रहते हैं। किन्तु यह कहा जाये कि दो आम और तीन आम मिलकर पाँच आम होते हैं, तो यह बात समझने में बिल्कुल आसान है।

'प्रत्यक्ष कार्य के जरिये ज्ञान देना बहुत कठिन है'—ऐसा लोग कहते हैं, पर आज जिस पद्धति से ज्ञान दिया जा रहा है, वह कितना कठिन है? सृष्टि और मनुष्य के बीच परदा खड़ा करके यह ज्ञान दिया जाता है। 'अश्व' यानी घोड़ा बताया जाता है। लेकिन घोड़ा यदि देखा ही नहीं, तो क्या समझ में आयेगा? आप बच्चों को पदार्थ नहीं बताते, सिर्फ पर्याय-पद बताते हैं। जो सिर्फ 'पद' ही देखते हैं, उनका ज्ञान भ्रांत ज्ञान होता है।

किताबों द्वारा अट्ठारह-बीस साल सीखकर आप प्रवीण बनते हैं, तो आपको लगता है कि यह तरीका आसान है। किन्तु वह आसान नहीं है। नयी तालीम किताबों का बहिष्कार नहीं करती, बल्कि वह उनका ठीक और समुचित उपयोग करती है। कोई बीमार पड़ता है, तो उसका कारण जानने की हमारी इच्छा रहती है। बीमारी को हम ज्ञान का साधन मानते हैं। इस तरह कोई मरता है, कोई जन्म लेता है, कोई बीमार होता है, कोई अच्छा होता है, तो ये सारे ज्ञान के साधन बन जाते हैं। जिसके लिए चारों ओर ज्ञान-ही-ज्ञान भरा पड़ा है, उसके लिए अज्ञान कहाँ रहेगा? इस तरह रसोई बनाना, तरकारी काटना आदि कामों के द्वारा भी ज्ञान दिया जा सकता है। तरकारी काटने के समय किस तरह बैठना, किस तरह आसन लगाना—इसका ज्ञान दिया जायेगा। फिर

रसोई बनाते समय चूल्हा कैसा बनाया जाये, जिससे लकड़ी कम जले और धुआँ पैदा न हो—इसका ज्ञान दिया जा सकता है। कितने समय तक खाना, क्या खाना—इसका भी ज्ञान खाते समय दिया जा सकता है। इस तरह हर बात में ज्ञान भरा पड़ा है। लेकिन ज्ञान के जो इतने जरिये थे, वे तो आज के स्कूलों में बन्द हैं। परन्तु नयी तालीम के लिए ट्रेनिंग की जरूरत नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब आज के तरीके में बी. ए. होने के बाद बी. टी. की जरूरत पड़ती है, तो फिर इस तरीके में भी ट्रेनिंग की जरूरत है, पर वह खेतों में प्रत्यक्ष उद्योग करते हुए मिल सकती है।

इतिहास-भूगोल की एकता

सामाजिक शिक्षा में इतिहास-भूगोल, नागरिक-शास्त्र आदि पढ़ाते हैं। इतिहास और भूगोल सिखाने का अर्थ है, बच्चों को काल और देश का परिचय देना। काल और देश, दोनों इतने एकरूप हैं कि किसी भी भाषा में कालवाचक शब्द का स्थलवाचक के लिए भी प्रयोग किया जाता है। ‘इस प्रश्न का उत्तर आपको पीछे दूँगा'। यहाँ 'पीछे’ शब्द 'कालवाचक' है; पर ‘वह उसके पीछे चलने लगा’, यहाँ ‘पीछे’ शब्द ‘स्थलवाचक’ है।

जब हम कहते हैं कि इतिहास-भूगोल पढ़ाया जाये, तो उसका यही अर्थ है कि प्राचीन काल और दूरदेश के लोगों की जानकारी करायी जाये। यह जानकारी अगर निकट के ही लोगों की हो, पर पुराने जमाने की हो, तो 'इतिहास' बन जाती है और आज के ही जमाने के, पर दूरदेश के लोगों के बारे में हो, तो ‘भूगोल' बन जाती है।

साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान

एक पक्ष यह कहता है कि छोटे बच्चों को दूरदेश और प्राचीन काल के लोगों की जानकारी करायी जाये। दूसरा पक्ष कहता है कि आज के जमाने से शुरू कर क्रमश: बच्चों को पुराने जमाने की ओर ले जायें।

उपर्युक्त दोनों मत परस्पर विरुद्ध-से मालूम पड़ते हैं, पर वास्तव में वैसे नहीं हैं। एक कहता है, अतिप्राचीन बतायें, तो दूसरा कहता है, अतिअर्वाचीन बतायें। पर कोई भी यह नहीं कहता कि

बीच का बतायें। और वह ठीक भी है। ज्ञान के लिए तुलना अत्यावश्यक वस्तु है और तुलना के लिए या तो आसपास का ठीक पड़ता है या बिल्कुल दूर का। दूर का और पास का, दोनों को समझना ही 'साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान' कहा जाता है। गांधीजी के अहिंसा की जैसे समाजसत्तावाद से तुलना की जा सकती है, वैसे ही दूसरी दिशा से उसकी तुलना साम्राज्यवाद से की जा सकती है।

किन्तु यह साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान कभी अप्रासंगिक न दिया जाये। शिक्षक उठे और 'लॅपलैण्ड' की जानकारी कराने लगे, तो वह चल नहीं सकता। प्रसंग उपस्थित कर और उसे पहचान करके ही वह जानकारी दे। ऐसे प्रसंग लाना कोई कठिन बात नहीं।

८. चरखे का विधिवत् अभ्यास

सूत कातने के उद्योग के राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करके अनेक लोगों को यह बात पसन्द आयी है कि स्कूलों में चरखा सिखाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए स्कूलों में सूतकताई का अभ्यास कराया जाता है। पर चरखे का अभ्यास विधिवत् होना चाहिए। निश्चित समय पर जैसे-तैसे बैठकर सूत कात लेना ही बस नहीं है। कर्म यदि विधिवत् सम्पन्न किया जाता है, तभी उसका उपयोग होता है, अन्यथा उसका कुछ भी फल हाथ नहीं लगता। कर्म की ऐसी ही विचित्र गति है। स्कूल में चरखे का शिक्षण-दृष्टि से अध्ययन होना चाहिए। उस अध्ययन में निम्नलिखित मुख्य बातें आवश्यक हैं—

(१) धन्धे का ज्ञान : अर्थात् बिनौला निकालना, धुनना, पूनी बनाना, कातना। इन सब विषयों में अधिक-से-अधिक गति से उत्तम काम करना आना चाहिए। (इन चारों बातों का समावेश कातने में करना चाहिए।)

(२) कला का ज्ञान : अधिक-से-अधिंक महीन सूत कातना, केवल हाथ से सूत कातना, तकुए पर सूत कातना, सब तंतु समानान्तर हों, इस प्रकार से धुनना, पूनी न बनाकर कातना आदि।

(३) उपांग का ज्ञान : रेचा, धुनकी, चरखा, तकुए को ठीक करने के लिए बढ़ईगीरी, लोहारी आदि के जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उतना जानना।

(४) यंत्रशास्त्र का ज्ञान : रेचा, धुनकी और चरखे के मुद्दे समझने भर का यंत्रशास्त्र का ज्ञान। घर्षण का क्या अर्थ है, उसे कैसे रोका जाये, चक्र और तकुए का कया सम्बन्ध है, तकुआ क्यों हिलता है आदि।

(५) चरखे के अर्थशास्त्र का ज्ञान : ग्राम-रचना, सम्पत्ति का विभाजन, बेकारी का प्रश्न, विदेशी वस्त्र क्रा बहिष्कार, कपास की दुनिया में भारत का स्थान, स्वावलम्बन, स्वराज्य. आदि अनेक दृष्टि से कातने के उपयोग की खोज।

(६) कताई के इतिहास का ज्ञान : कताई की कला का उद्गम और विकास कैसे हुआ, हिन्दुस्तान में यह कला किस प्रकार लुप्तप्राय हो गयी आदि।

(७) धर्म-दृष्टि से ज्ञान : हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों की कातने के विषय में वृत्ति, स्वदेशी धर्म, अविरोधमय जीवन, सादगी, गरीबों के लिए आस्था, श्रम की मान्यता, अस्पृश्यता-निवारण, स्त्रियों की मर्यादा आदि।

ये कुछ मुद्दे हैं। इन सब विषयों का पूरा ज्ञान होना चाहिए। कताई का एक ओर खेती से और दूसरी ओर बुनाई से सम्बन्ध है। इसलिए कताई के ज्ञान में खेती (कपास की उत्पत्ति आदि) तथा बुनाई के सामान्य ज्ञान का भी समावेश होना चाहिए।

९. एकड़ का कोष्ठक

पाठशालाओं में छात्रों को गणित के लिए कोष्ठक सिखलाने पड़ते हैं। बचपन में गुरुजी ने रटाई और छड़ी इन दो औजारों के बल पर हमारे गले भी ये कोष्ठक उतारे, पर उनमें से बहुत-से अन्तर में भिदे नहीं। इसका एक कारण तो यह था कि ये दोनों औजार और दूसरे कुछ कोष्टक प्राय: निरुपयोगी थे। वास्तव में कोष्ठक जीवनोपयोगी हों, तो जीना चाहनेवालों को वे पसन्द आयेंगे ही। उन्हें सिखाना भी ऐसे ढंग से चाहिए कि वे पसन्द ही आयें। इस बारे में दिग्दर्शन के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ।

‘एकड़' शब्द की व्याख्या

जीवन का प्रमुख आधार खेती है और वह एकड़ से नापी जाती है। इसलिए बच्चों को एकड़ का कोष्ठक सिखलाना आवश्यक है। वह कैसे सिखाया जाये? ‘एकड़ यानी जमीन नापने की इकाई।' हिन्दुस्तान में प्रति व्यक्ति औसत एक एकड़ जमीन पड़ती है। इसलिए आज की स्थिति में हिन्दुस्तान में एक आदमी की मालिकी की जमीन 'एकड़' है। इस तरह दुहरी युक्ति से 'एक' शब्द से ‘एकड़' शब्द की व्याख्या करनी चाहिए, जिससे वह शब्द बच्चों को सहज ही हृदयंगम हो जाये।

एकड़ का अर्थ ४८४० वर्गगज बताया जाता है। यह विचित्र आँकड़ा कैसे याद रहे? उसके लिए दो महत्तम अवयव किये जायें। वे होंगे १२१ x ४०, इस १२१ वर्गगज को ‘कट्ठा’ नाम देकर ४० कट्ठे का एक एकड़, इस तरह कोष्ठक बनाया गया है। पर हम गज की भाषा छोड़ फुट की भाषा अपनायें और कट्ठों के भी और छोटे भाग बनायें। कट्ठा यानी १२१ वर्गगज जमीन अर्थात् ११ गज x ११ गज का जमीन का एक चौरस टुकड़ा। उसके ११ फुट लम्बे और ११ फुट चौड़े, ऐसे ९ टुकड़े किये जा सकेंगे। ये १२१ वर्गफुट के छोटे टुकड़े कट्ठे में ९ यानी एकड़ में ३६० होंगे।

११ फुट x ११ फुट = १ घण्टा

मोटे तौर पर साल के ३६० दिन होते हैं। अगर हम रोज १२१ वर्गफुट जमीन खोदने का निश्चय करें, तो एक साल में १ एकड़ जमीन खोदी जायेगी। अभी हम भूल जायें कि बरसात के दिन जमीन खोदने में आड़े आयेंगे। इतनी जमीन रोज खोदनी ही हो, तो रोज कितना समय लगेगा? आदमी की सामर्थ्य, जमीन के प्रकार, ऋतुमान और औजारों की योग्यता के अनुसार इस प्रश्न का भिन्न-भिन्न उत्तर होगा। पर अनुभव आया कि इस काम में ४० से ८० मिनट लगेंगे। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि एक घण्टा लगता है। चूँकि एक घण्टे में यह जमीन खोदी जाती है, इसलिए लक्षणावृत्ति से इस जमीन को हम ‘घण्टा' कहेंगे। 'घण्टा' यानी ११ फुट x ११ फुट जमीन—यह ध्यान में रखना कठिन नहीं। 'एक पर एक ग्यारह’ यह सूत्र बच्चों को मालूम ही है। ११ फुट लम्बी लकड़ी बनायेंगे और उससे औरस-चौरस जगह रेखांकित कर अपने इस घण्टे का बच्चों को प्रत्यक्ष दर्शन करा देंगे। अब ऐसे ३६० घण्टे मिलकर १ एकड़ इस तरह सीधा-सादा

कोष्ठक तैयार हो गया। (यहाँ घण्टे का अर्थ ११ फुट x ११ फुट की सम चौरस जमीन न होकर १२१ वर्गफुट जमीन, इतना ही है—यह बात बच्चों के ध्यान में ला देनी चाहिए। १२१ वर्गफुट जमीन अनेक प्रकार की हो सकती है। हमने स्मरण रखने की सुविधा के लिए उसे ११ फुट x ११ फुट लिया है।) अगर हमें खेती के लिए बच्चों को जमीन बाँट देनी हो, तो उसे घण्टों के नाप से बाँटेंगे। किसी को 'एक घण्टा जमीन, तो किसी को दो घण्टा जमीन' देंगे। इससे बच्चों के लिए अपनी-अपनी फसल पर से प्रति एकड़ फसल का हिसाब लगाना सुलभ हो जायेगा।

१०. रेखन की सामग्री

'ड्रॉइंग' उर्फ 'रेखन' मूलोद्योगी पाठ्यक्रम का एक विषय है और उसे स्थान भी महत्त्व का दिया गया है। कारण, उद्योग से उसका दृढ़ सम्बन्ध है। किन्तु जब उस रेखन के लिए लगनेवाले साधनों की नामावली पेश हुई, तो मैं घबड़ा उठा। रंग की बट्टियाँ, ब्रश, रेखन-कागज आदि प्रत्येक छात्र के लिए लगनेवाला क्षयरोगी सामान कौन खरीदे? विद्यार्थी खरीदें, तो गाँवों के गरीब छात्रों के लिए वह सम्भव नहीं और सरकार खरीदे, तो योजना महँगी पड़ेगी। तब क्या किया जाये?

अन्ततः मुझे स्पष्ट कहना पड़ा कि इस तरह का सामान कोई भी न खरीदे—न सरकार खरीदे और न छात्र ही। तब प्रश्न हुआ कि रेखन के पाठ्यक्रम की योजना पूरी कैसे की जाये?

कर्मयोगी रेखन

यह बात अच्छी तरह समझ लेने की है। चित्रकला दो प्रकार की है, एक सौन्दर्य की और दूसरी उद्योग की। अथवा अधिक परिष्कृत भाषा में कहा जाये, तो एक भक्तियोग की और दूसरी कर्मयोग की। पाठ्यक्रम में दोनों का समावेश किया गया है। पर उसमें भी मेरी दृष्टि से तारतम्य रखना है। जीवन में और शिक्षण में कर्मयोग प्रधान है, यह भुलाया नहीं जा सकता। भक्ति उस कर्मयोग की शोभा है और ज्ञान उसकी प्रभा। साधारणत: मूलोद्योग की यही विचारसरणी है और रेखन के लिए भी वह उसी तरह लागू होती है।

कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी आदि सभी उद्योग और लेखनादि कलाएँ जिस रेखन की मदद चाहती हैं, वह मुख्यतया कर्मयोगी रेखन है। इसमें विभिन्न आलेख तैयार करना, नक्शे पर से अमुक गुने आकार का नक्शा तैयार करना, किसी नवीन मोढ़िये को देखने पर उसे प्रत्यक्ष या

स्मृति के आधार पर रेखांकित करना या उससे सम्बद्ध कोई कल्पना सूझे, तो उसे चित्र में अंकित करना आदि लिखित, रेखांकित, दृष्ट, स्मृत और कल्पित सभी रेखनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

पटिया-पेन्सिल प्रमुख साधन

इस कर्मयोगी रेखन के लिए विशेष साधन नहीं चाहिए। बहुत-सा तो साधारण पटिया-पेन्सिल से भी हो सकता है। कुछ के लिए कागज लगेगा, तो उसका कम-से-कम उपयोग किया जाये। जिसे 'ड्रॉइंग पेपर', रेखन का कागज कहते हैं, उसकी प्राय: कतई आवश्यकता नहीं। रबड़ का उपयोग करने जैसा गंदा कोई काम नहीं। उसे पूर्णतः वर्जित मानना चाहिए। पहले पटिया पर हाथ पूरा जमा करके ही बहुत आवश्यक होने पर कागज हाथ में लिया जाये। रूलदार कागज आलेख के लिए और अन्य ड्रॉइंग पेपर चित्रकला के लिए लगता है। उन्हें भी सीधा बना-बनाया न खरीदा जाये, बल्कि छात्र ही उन्हें रूलदार बना लें। यह भी रेखन-कला का एक अंग ही समझा जाये। ऐसी दृष्टि रखने से उद्योग, कला, ज्ञान, आनन्द और स्वावलम्बन एक साथ सध जाता है और साधनों के जंगल में नहीं पड़ना पड़ता।

सौन्दर्य का रेखन

परन्तु कर्मयोगी रेखन मुख्य मान लेने पर भी उसी सिलसिले में सौन्दर्य का रेखन भी आवश्यक है। कर्मयोग की शोभा के लिए उसकी आवश्यकता है। उसके लिए तरह-तरह के साधन लगेंगे ही। फिर उनके लिए क्या किया जाये? यह प्रश्न शेष ही रहता है। उसी के उत्तर के लिए यह लेख लिखा गया है और उसी पर हम आगे विचार करेंगे। बीच में थोड़ा तारतम्य देख लिया।

रंगपंचमी का दृष्टान्त

दूसरे गाँवों की तरह हमारे पवनार में भी रंगपंचमी मनायी गयी। हमारे परिश्रमालय के बच्चों ने भी गाँव की रीति के अनुसार उसमें भाग लिया। बाजार से रंग खरीदकर एक-दूसरे के कपड़े खराब किये। बाद में साबुन लगाकर— वह साबुन भी बाजार से ही खरीदा था—उन कपड़ों को धोना पड़ा। फिर भी वह रंग मिटता ही न था। गाँव के अन्य लोगों के लिए कपड़े धोने की झंझट ही नहीं थी। कारण, परिश्रमालय के बच्चों को प्राप्त स्वच्छता की दृष्टि उन्हें प्राप्त न थी। मैंने उन बच्चों से कहा, “रंग खेलने में समय बिताने के बारे में मैं कुछ नहीं कहता। पर रंग और साबुन में

पैसा बहाकर क्या किया? इतना करके भी कया पाया? सच्चा आनन्द तो मिला ही नहीं। केवल 'मुफ्त का चंदन घिस मेरे लल्लू' वाला हाल किया। उसके बजाय काम समाप्त होने पर शाम को नदी के किनारे-किनारे दो मील चले जाते, तो मानो तुम्हीं लोगों के लिए फूले हुए पलाश के पेड़ तुम्हें दिखायी पड़ते। तुम लोग उन फूलों से रंग बना सकते थे और वह रंग बने-बनाये बुकनी के रंग से कहीं अधिक सौम्य एवं आह्लाददायक होता और उसे साफ करने में भी इतनी अड़चन न पड़ती। अब तुम्हीं बताओ कि मेरा बताया हुआ यह उद्योग अधिक आनन्ददायक होता या तुम लोगों ने किया सो?" बच्चों ने एक मत से मेरे सुझाव को अच्छा बताया।

आनन्द-प्राप्ति और आनन्द-शुद्धि

रंगपंचमी की इस कहानी में सौन्दर्य-चित्रण के प्रश्न का उत्तर मिलेगा। छात्रों के चारों ओर प्रकृति खड़ी है। उस प्रकृति के साथ एकरूप हो उसके द्वारा आनन्द-प्राप्ति और आनन्द-शुद्धि साध लेना ही सौन्दर्य-रेखन का उद्देश्य है। छात्रों के आसपास की जो प्रकृति उनके इस सौन्दर्य-चित्रण के लिए विषयों की पूर्ति करेगी, वह अगर उनके साधनों को पूर्ति में समर्थ न हुई, तो ईश्वर की कला कया रही? बच्चों के पेट में भूख लगते ही माता के स्तनों में दूध भर देने की उसकी योजना हमारे ध्यान में क्यों नहीं आती? आसपास के पेड़ हमारे लिए अच्छे ब्रश और उत्तम रंगों की पूर्ति कर सकते हैं। साथ ही चित्रण का विषय भी उनमें भरा हुआ है। प्रकृति तो कामधेनु-सी है। वह दूध तो देती ही है, उसे पीने के लिए कटोरी भी देती है। केवल माँगने की ही देर है।

'आनन्द-प्राप्ति' और 'आनन्द-शुद्धि' यह दुहरा उद्देश्य ध्यान में रखने योग्य है। आनन्द तो प्राणिमात्र को उपलब्ध है। किंबहुना वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। मुख्य प्रश्न तो उस आनन्द को विशुद्ध बनाने का है।

बचपन की दिव्य दीवाली

मेरा बचपन कोंकण के पहाड़ों से घिरे एक गाँव में बीता। मुझे याद आता है कि उस गाँव में हम लोग दीवाली में दीपक कैसे जलाते थे। उसके लिए जंगल में जाकर कोरांटी के गोल फल बीन लाते और उन्हें बीच से काटकर भीतर का गूदा निकाल फेंकते, तो सुन्दर परई (दिअली) बन

जाती। उस पर दियरियों के विराजमान होने पर उनमें कोंकण का शुद्ध स्वदेशी नारियल का तेल भरा जाता। कोंकण में रूई दुर्लभ होने पर देव-कपास हम लोगों की बत्तियों का काम पूरा कर देती। इस तरह हम लोगों के दीपक तैयार होते। फिर वे चतुष्कोण, त्रिकोण और वर्तुलाकार सुन्दर पंक्तियों में सजा दिये जाते। बस, हो गयी हम लोगों की दीवाली! दीवाली यानी चार महीनों की बरसात के बाद पहली निरभ्र अमावस्या। अपने दिव्य वैभव के साथ पूर्ण प्रकट हुई रजनीदेवी! चन्द्र के साम्राज्य को मिटाकर, परस्पर सहकारिता से सौन्दर्यनिर्माणार्थ सजी हुई छोटी-बड़ी स्वायत्त तारिकाएँ और उनकी वे आकृतियाँ! अगर हम लोगों ने अपने मन इन दीपकों से सजाये होते, तो अमा का स्वराज्य और भी अधिक रंगत लाता। पर यह कल्पना उस समय नहीं सूझी, इसलिए उतनी कमी रह ही गयी।

धुएँ के अंबारवाली दीवाली

यह चालीस साल पहले का पुराना ग्रामीण संस्मरण है। अब दूसरा नया सुधरा हुआ ग्रामीण दीवाली का संस्मरण सुनिए। खादी-कार्य देखने के लिए मैं एक बार सावली गया था। दीपावली का दिन था। सावली के बच्चों ने जस्ते के पतरे से बनी मिट्टी के तेल की बिना काँच की चिमनियों को पंक्तिबद्ध रखकर दीवाली मनायी। मिल की चिमनी से या सिगरेट फूँकनेवालों के मुँह से जिस तरह धुएँ के अंबार निकलते हैं, उसी तरह उनसे धुएँ के अंबार निकलते रहे। बेचारे बच्चों को दीवाली का आनन्द मिल ही गया! इसमें उनका क्या दोष? अंग्रेजी सुधार की कीमिया क्या मामूली है? कहावत है, 'देव की करनी, नारियल में पानी। अंग्रेजों की करनी, बम्बे में पानी।'

सच्चा समन्वय

पर शिक्षक कहते हैं, "आनन्द-शुद्धि की यह मीमांसा तो ठीक है, पर आपके कथनानुसार कूँचे तैयार करना तथा फूलों और पत्तों से रंग बनाने का मतलब यह होगा कि काम और भी बढ़ जायेगा। फिर बाकी के ज्ञान की व्यवस्था कैसे होगी?" पर यह आक्षेप समवाय-पद्धति का ठीक-ठीक स्वरूप न समझने के कारण ही किया जाता है। यह प्रश्न ठीक वैसा ही है, जैसे कोई कहे कि

'अन्न काफी पैदा हो जाये, तो भूख का क्या होगा?' यह प्रश्न इतना सरल है कि उत्तर देने की भी जरूरत नहीं और इतना कठिन भी है कि उसके लिए प्रत्यक्ष वैसी पाठशाला चलानी पड़ेगी।

यहाँ मूलोद्योग के पाठ्यक्रम के दो उद्देश्य—'उद्योग-सिद्धि' और 'आनन्द-शुद्धि' बतलाना अभीष्ट था, जो साधनों के विचार के सिलसिले में बता दिया।

११. चित्रकला की दृष्टि

संगीत और चित्रकला के उद्देश्य

कुछ दिन पूर्व बालकोबा ने मुझसे पूछा था कि "संगीत और चित्रकला के उद्देश्य क्या हैं?" मैंने उसे उत्तर दिया कि "इस दुनिया में भगवान के नाम और रूप, ये ही दो गुण प्रकट हुए हैं, बाकी ईश्वर तो अव्यक्त ही है। संगीत द्वारा उसका नाम गाया जाये और चित्रकला द्वारा उसका रूप चित्रित किया जाये।"

हर व्यवहार में सुन्दरता

हमारे शिक्षण के पाठ्यक्रम में पहली कक्षा से ही चित्रकला को स्थान दिया गया है। हम लोग उद्योग द्वारा शिक्षण देने की जो बात सोचते हैं, उसमें बिना चित्रकला के काम चल ही नहीं सकता। पर चित्रकला और चित्रकला की दृष्टि में अन्तर है। चित्रकला की दृष्टि जिसे प्राप्त है, वह व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में बढेगा व्यवहार नहीं करेगा। छात्रों में चित्रकला की ऐसी दृष्टि आनी चाहिए। चित्रकला से बच्चों की सिर्फ उँगलियों में सिफत आना ही काफी नहीं, उनके नेत्रों को भी चित्रकला में दक्ष रहना चाहिए। छात्र तनकर बैठे हैं या नहीं, कवायद में सामानान्तर खड़े हैं या नहीं, खाने के लिए सीधे पंक्तिबद्ध बैठे हैं या नहीं, इन सब बातों में भी चित्रकला है।

नीबू काटने में कला

नीबू कैसे काटा जाये, यह भी चित्रकला का विषय है। नीबू बराबर आड़ा काटना चाहिए। कारण उससे बीज और रस सरलता से निकाला जा सकता है। इसी तरह संतरे कैसे खाये जायें? उसके छिलकों की बराबर दो कटोरियाँ बनायें, जिसमें संतरा खाने के बाद शेष सीठी डाली जा सके। पपीता खड़ा न काटकर आड़ा काटना चाहिए, जिससे उसकी भी दो कटोरियाँ बन जायें।

केला भी पूरा नहीं, थोड़ा-थोड़ा छीलकर खाना चाहिए। अगर सारा छिलका निकाल डालें, तो हाथ गंदे हो जायेंगे। ऐसे और भी उदाहरण दे सकते हैं। व्यवस्थितता और सौन्दर्य-दृष्टि चित्रकला का विषय है।

रंग : भावनाओं के द्योतक

इन दिनों कुछ लोग सिर पर काली टोपी लगाये दीख पड़े हैं। किन्तु हिन्दुस्तान के लोग तो यों ही काले होते हैं। उनका चेहरा काला, बाल काले और टोपी भी काली—यानी मनुष्य बिल्कुल कौए जैसा बन जाता है। सौन्दर्य प्रकट करने के लिए तरह-तरह के रंगों का मिश्रण अपेक्षित होता है। विभिन्न रंगों से विभिन्न प्रकार की भावनाएँ प्रकट होती हैं।

शुभ्र सफेद रंग पवित्रता का द्योतक है और लाल-गुलाबी रंग प्रेमदर्शक। वह गुलाबी उषा परमेश्वर का प्रेम ही है। सुबह की उषा प्रभात में बच्चों को जगानेवाली माँ का प्यारा और उद्बोधक स्वरूप है। किसी भी कवि या चित्रकार का काम उषा-दर्शन के बिना चल ही नहीं सकता।

आकाश-दर्शन

और वह आकाश-दर्शन! चित्रकला भला उसे कैसे भुला सकेगी। रात्रि में वह गुरु, वह शुक्र कितना चमकीला दीखता है! उन्हें देखकर मन में कितनी पवित्र भावनाएँ उठती हैं! 'शुक्र' शब्द भी शुचि से बना हुआ है। इन तारों के आगे मोती आदि भी, जिन्हें हम साँस रोककर समुद्र में डुबकियाँ लगाकर निकालते हैं, तुच्छ मालूम पड़ते हैं। तुलसीदासजी ने रामराज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि रामराज्य में समुद्र स्वयं ही किनारे पर मोती फेंक जाता था। पर मुझे लगता है, उन्हें एक और चौपाई लिखनी चाहिए थी कि किनारे पर मिले हुए उन मोतियों को बच्चे खेलने के लिए ले जाते थे और खेलते-खेलते उन्हें फिर से समुद्र में फेंक देते थे। इससे मोतियों का उचित मूल्य दिखाया गया होता। आज सुन्दर चमकीला मोती हो, तो हम उसका मूल्य पैसों में आँकने लगते हैं। पैसे से सौन्दर्य की तुलना निरा गँवारूपन है।

चित्रकला में प्रकृति का दर्शन अनिवार्य है। मनुस्मृति में कहा है कि सुबह उठने के बाद मुँह-आँखें धोये बगैर नक्षत्रों का दर्शन न करें। नक्षत्रों का इतना पावन सौन्दर्य ऐसी अमंगल आँखों से कैसे देखा जाये।

आकाश की नकल

रंगवल्ली (रंगोली) की कल्पना भी मनुष्य ने नक्षत्रों पर से निकाली है। रंगवल्ली बनाने का नियम यह है कि पहले बिंदी-बिंदी बनायी जाये, फिर उन्हें एक-दूसरे से जोड़कर अभीष्ट आकार दिया जाये। स्पष्ट है कि यह कल्पना आकाश के तारों पर से ही निकली है। हम उसमें कल्पना से आकार भर देते हैं। और दीवाली का भी उद्देश्य क्या है? आकाश की चित्रकला को नीचे जमीन पर अंकित करना ही तो है! दीवाली यानी आकाश धुल जाने के बाद की अमावस्या। 'कोजागरी' या शरद्पूर्णिमा है आसमान के धुल जाने के बाद की पहली पूर्णिमा। ये दोनों उत्सव मनाने का उद्देश्य आकाश-दर्शन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराना ही है। इसलिए अगर दीपावली में दीपक लगाने हों, तो नक्षत्रों के आकार के छोटे-बड़े, तरह-तरह की छटा दिखानेवाले दीपक लगाने चाहिए।

व्यावर्तक चित्रकला

किसी भी वस्तु के सामान्य और विशेष धर्म चित्रकला द्वारा प्रकट होने चाहिए। सामान्य-विशेष के पेट में ही गौण और मुख्य का भेद भी आ जाता है। मनुष्य का चेहरा ऐसा भाग है कि केवल उतना ही चित्रित किया जाये, तो आदमी पहचाना जा सकेगा। अगर हाथी दिखाना हो, तो केवल सूँड चित्रित कर देने से भी काम चल जाता है। इसी को शास्त्र में 'व्यावर्तक व्याख्या' कहते हैं। व्यावर्तक का अर्थ है, 'दूसरी वस्तुओं से उस वस्तु को अलग करनेवाला।' उन्होंने बैल की व्याख्या की है—**विषाण ककुभ्याम्**—सींग और डिल्लावाला। अब आप दुनिया में चाहे जितने जीव ढूँढ़ लें, सींग और डिल्लायुक्त प्राणी सिवा बैल के दूसरा कोई नहीं दीखेगा।

स्मृति के आधार पर चित्रकला

दूसरी बात है, 'मेमरी ड्रॉइंग' की। यदि कोई चीज कहीं देख लें, तो बाद में उसे ठीक चित्रित करना आना चाहिए। देखे हुए यंत्र, देखी हुई इमारत का या मिली हुई चीज का चित्र खींचना आना चाहिए।

सृष्टि में कहीं-कहीं दृष्टिभ्रम होता है, उसे भी चित्र में ठीक-ठीक प्रकट कर दिखाना चाहिए। रेलवे लाइनों का चित्र बनाना हो, तो सिर्फ सीधी और समानान्तर लम्बी-लम्बी दो पटरियाँ बना देने

से काम नहीं चलेगा। हमें वे जैसी दीखती हैं, उसी तरह चित्रित करना चाहिए कि आगे चलकर दोनों पास-पास आकर मिली हुई जान पड़ती हैं। इसी तरह दो नक्षत्रों के बीच उनके उगते समय अधिक अन्तर दीख पड़ता है और सिर पर आने पर वह अन्तर कम हो जाता है। सूर्य की भी यही बात है। वह उगते समय बड़ा दीखता है और फिर छोटा होने लगता है। अस्त के समय पुनः बड़ा दीखता है। ये जो सब चमत्कार सृष्टि में दिखायी पड़ते हैं, वे सब चित्र में प्रकट होने चाहिए।

सांकेतिक चित्रकला

छात्रों को सांकेतिक चित्रकला भी आनी चाहिए। मान लीजिए हम लोग किसी बगीचे में गये, तो वहाँ सभी पेड़ व्यवस्थितरूप से बाकायदा लगाये दीखते हैं। उनकी शाखाएँ आदि छँटी होती हैं। उन्हें देखकर हमें आनन्द होता है। उसी तरह जंगल में जायें, तो वहाँ तरह-तरह के ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े बेतरतीब वृक्षादिकों की शोभा, वहाँ की निसर्ग रमणीयता देखकर भी आनन्द होता है। प्रश्न होता है कि यह कैसे? व्यवस्थित उद्यान की शोभा देखकर आनन्द और निरंकुश वनश्री देखकर भी आनन्द! आखिर दोनों से आनन्द क्यों? इसका कारण यह है कि उद्यान में ईश्वर की व्यवस्थिता का गुण प्रकट हुआ है और वन में ईश्वर की स्वच्छन्दता का गुण प्रकट हुआ है। चित्रकार की दृष्टि में यह बात आनी चाहिए।

न्याय-देवता का चित्र

पाश्चात्यों ने न्याय-देवता का सांकेतिक चित्र दिखाया है कि एक अंधी स्त्री तराजू की डाँडी पकड़ी हुई है। अब यदि कोई पूछे कि क्यों जी, कया न्याय-देवता को अंधी के ही रूप में होना चाहिए? न्यायाधीश को स्त्री ही क्यों बनाया? पुरुष बनाने से क्या काम नहीं चल सकता था? और तराजू की डाँडी यदि पहले से ही सीधी पकड़ी हुई दिखायी गयी, तो न्यायाधीश की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? न्याय-देवता को अंधी के रूप में दिखाने का संकेत यह है कि अंधा आदमी छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं देखता। वह निष्पक्ष रहेगा। अत: यहाँ अन्धेपन का अर्थ है, पक्षपातशून्यता। न्याय-देवता को स्त्री-रूप देने का संकेत यह है कि स्त्रियाँ स्वभावत: दयालु होती हैं। इसलिए न्याय देते समय भी दयालुता रहनी चाहिए। तराजू की डाँडी सीधी पकड़ने का संकेत

यह है कि न्याय में चोखापन होना चाहिए। इस तरह इस सांकेतिक चित्र में न्याय के आवश्यक तीन मुद्दे (१) निष्पक्षता (२) दयालुता और (३) खरापन दिखाये गये हैं।

दत्तात्रेय के तीन मुख

दत्तात्रेय के तीन मुख हैं। तीनों मुखों को एक-सा दिखाने की चाल है। किन्तु उनमें बीच का मुख सात्त्विक यानी बिल्कुल साफ-सुथरा, सुन्दर, स्वच्छ; दूसरा तामस यानी मैला-कुचैला, नींद से भरा और तीसरा उत्साह, आवेश और पराक्रम से पूर्ण रजोगुणयुक्त होना चाहिए। तभी वह उनका सच्चा चित्र बनेगा और इन तीन मुखों से तीन गुणों का संकेत प्रकट होगा। हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा में सांकेतिक चित्रकला भरी पड़ी है।

पूर्णकलश

कहीं उत्सव-समारोह हो, तो स्वागत के लिए मिट्टी का घड़ा जल से पूरा भरकर रखा जाता है। उसे पूर्णकुंभ कहते हैं। वह किसलिए? इसीलिए कि स्वागत के लिए हृदय प्रेम से परिपूर्ण है, इस बात का उसमें संकेत है। घड़ा या तो मिट्टी का हो या सोने का, पर अन्य किसी धातु का नहीं। मिट्टी का हो तो वैराग्य प्रकट होता है। सोने के घड़े से वैभव व्यक्त होता है। यानी स्वागत में हमारा वैराग्य या वैभव प्रकट हो ऐसा उसमें संकेत है।

भावना के निरदर्शक संकेत

अंग्रेज लोग किसी के आने पर टोपी उतारते हैं और हमारे यहाँ के लोग टोपी लगा लेते हैं। आखिर ऐसा अन्तर क्यों? उनका देश ठण्डा है, इसलिए वहाँ टोपी उतारने से अतिथि के लिए कुछ-न-कुछ कष्ट सहने की अपनी तैयारी दिखाना है। हमारा देश गरम है। यहाँ टोपी लगाकर हम अतिथि के लिए कष्ट सहने की तैयारी दिखाते हैं। तुलसीदासजी ने भरत-राम-मिलन के प्रसंग में बताया है कि उस समय राम धनुष-बाण आदि बिना लिये हुए वैसे ही उठकर खड़े हो गये—**कहुं पट कहुं निषंग धनु तीरा**—कहकर इस वर्णन में राम की भरत से मिलने की आतुरता का दर्शन कराया गया है।

सुषम और विषम चीजों का चित्रण

दुनिया में कुछ चीजें सुषम तो कुछ विषम होती हैं। उन्हें ठीक से दिखाना भी चित्रकला का एक अंग है। सुषम की ओर मध्यभाग से ध्यान देते हुए देखना पड़ता है। लपेटा दोनों बाजुओं से समान है यानी दोनों बाजुओं से सुषम है, चौरस चारों बाजुओं से सुषम है। वर्तुल सब ओर से सुषम है, कारण सभी बाजुओं से उसके समान भाग किये जा सकते हैं। आजकल बच्चों को सुषम चित्र बनाना सिखाना होता है, तो उसका आधा भाग निकाल कर देते हैं और दूसरा आधा उनसे बनवा लेते हैं। साधारणत: दाहिना भांग देखकर बायाँ उनसे बनवाते हैं। पर इसके विपरीत बायाँ देखकर दाहिना भी बनवा लेना चाहिए। जिस तरह हम बच्चों को दाहिने हाथ से चित्र बनाना सिखलाते हैं, उसी तरह बायें हाथ से भी चित्र बनाना सिखाना चाहिए।

१२. गुण-विकास ही शिक्षण

नयी और पुरानी शिक्षण-पद्धति

कहा जाता है कि पुरानी शिक्षण-पद्धति ज्ञान-प्रधान है और हम लोगों की नयी तालीम कर्म-प्रधान है। पर यह विश्लेषण गलत है। पुरानी शिक्षण-पद्धति को ज्ञान-प्रधान कहना भूल है और नयी शिक्षण-पद्धति को कर्म-प्रधान कहना भी भूल है। कुछ लोग ऐसा कहेंगे कि पुरानी शिक्षण-पद्धति पुस्तक-प्रधान थी और नयी तालीम उद्योग-प्रधान है। पर यह व्याख्या भी पूर्ण नहीं है। हमारा लक्ष्य काम के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का निर्माण करना नहीं है और न यही लक्ष्य है कि हम ज्ञान-युक्त कारीगर तैयार करें। हमें मानव का पूर्ण गुण-विकास अपेक्षित है। जो शिक्षक और विद्यार्थी इसमें हिस्सा लेंगे, उन दोनों का पूर्ण विकास होना चाहिए। अगर वे 'केवल ज्ञान’ या 'केवल कर्म-कुशलता' या दोनों प्राप्त करें, तो भी वह शिक्षण एकांगी ही होगा। कारण, कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति अनेक गुणों में से केवल दो गुण हैं, जबकि शिक्षा से हमें सभी गुणों का विकास अपेक्षित है।

अंतरिम विकास

कहा जाता है कि हम लोग बच्चों को सूत कातना सिखाते हैं और उसके द्वारा ज्ञान देते हैं। पर हम लोगों का केवल इतना ही काम नहीं है। हमें तो इसके द्वारा यह देखना होता है कि इससे

उनका आन्तरिक विकास हुआ या नहीं? उनका आलस्य चला गया या नहीं? उनमें उद्योगशीलता आयी या नहीं? वे सब प्रकार से निर्भय बने या नहीं? वे सत्यवादी, संयमी और सेवाभावी बने या नहीं? ये सब बातें हमें देखनी होती हैं।

परीक्षा की खराब पद्धति

पुरानी शिक्षण-पद्धति का सबसे बुरा चित्र मेरे सामने परीक्षा के समय का आ खड़ा होता है। जब हम लोगों की परीक्षा होती है, तो हम लोगों की देखरेख के लिए निरीक्षक रखे जाते हैं। वे इसलिए नियुक्त होते हैं कि कहीं विद्यार्थी चोरी से एक-दूसरे की नकल न करें। मुझे यह देखकर दु:ख होता है कि अगर हम लोगों के बारे में आरम्भ से ही यह धारणा रखी जाये कि हम चोरी कर सकते हैं, तो फिर विद्यार्थी की दृष्टि से हम पहले ही फेल हो गये! अब हम लोगों की परीक्षा लेने के लिए बचा ही क्या?

जागरूकता आवश्यक

अगर आरम्भ से ही पूरी सावधानी न बरती जाये, तो गुण-विकास की ओर ध्यान न देने का, पुरानी शिक्षा-पद्धति का दोष इस नयी तालीम में भी आ सकता है। इतनी गुंडियाँ कतवा लेनी हैं, केवल इतना ही हम न देखें। हमें तो यह देखना चाहिए कि बच्चों की आत्मशक्ति प्रकट हो रही है या नहीं।

विनय से गुण-विकास

संस्कृत में शिक्षण को 'विनय' कहते हैं। कारण कि विनय गुणों का प्रवेश-द्वार है। उसके द्वारा अन्य गुणों का विकास होता है। जो विनीत है, नम्र है, विनयशील है, वह जहाँ कहीं गुण मिलेगा, ज्ञान मिलेगा, अच्छी बात दीख पड़ेगी, तत्काल उसे ग्रहण कर लेगा। यह गुण-ग्राहकता विनय का मुख्य लक्षण है। इसीलिए पूर्वजों ने हम लोगों का ध्यान विनय पर केन्द्रित किया था।

मेरा सत्यस्वरूप

मैं देह नहीं, देह से अलग हूँ, मेरा सत्यस्वरूप सुन्दर और परिशुद्ध है, वह अशुद्ध नहीं होता। गलतियाँ तो देह के द्वारा होती हैं। मेरा शरीर अस्वच्छ होता है, पर मैं अस्वच्छ नहीं होता। देह से

भिन्न आत्मा का भान ही शिक्षण है। जहाँ यह भान नहीं होता, वह हमारी शिक्षण-व्यवस्था नहीं, वह शिक्षण संस्था भी नहीं।

अगर कोई बच्चा अस्वच्छ दिखायी देगा, तो मैं उससे यह नहीं कहूँगा कि तू गंदा है। मैं उससे यही कहूँगा कि “तू तो स्वच्छ है, पर तेरे शरीर पर कुछ गंदगी लग गयी है। उसे तू साफ कर डाल।”

मन का सुधार

हमें अपने मन को घड़ी की तरह बना लेना चाहिए, जिसे कभी भी हाथ में लेकर देखा जा सके और यदि उसमें कभी कोई भूल दीख पड़े तो हमें उसे दुरुस्त करना आना चाहिए। मैं वही हूँ, जो न तो कभी बिगड़ता है और न कभी अस्वच्छ ही होता है। बिगड़नेवाले और अस्वच्छ होनेवाले शरीर को तो मैं दुरुस्त करनेवाला और स्वच्छ करनेवाला हूँ। जब हममें यह विचार स्थिर हो जायेगा, तभी हमें सच्ची शिक्षण-दृष्टि प्राप्त होगी।

गुण-विकास के अंग

१. बिना कारण न डरें। भय लगे, तो भगवान का नाम लें। भगवान के नाम के सामने भय टिक ही नहीं सकता।

२. अपने हाथों होनेवाली गलतियाँ रोज-की-रोज सुधारी जायें। बीते कल की गलतियाँ आज न हों और आज की गलतियाँ आगामी कल न हों, इसका ध्यान रखें।

३. विचार ठीक से समझ लें। ‘समझ में आये हुए विचारों को अमल में लाये बगैर नहीं रहूँगा', इस बात का पक्का निश्चय कर लें।

४. अपनी शक्ति के अनुसार, आवश्यकता पड़ने पर, दूसरों की मदद करते रहें। यह बात कभी न भूलें कि हमें बहुतों से ऐसी मदद मिली है।

५. हर बात में अगुवा न बनें। अपने-आपको रोक रखें।

६. कोई-न-कोई उत्पादक-श्रम किये बगैर भोजन न करें।

७. प्रतिदिन कुछ समय नियमितरूप से अध्ययन करें।

८. अपने शरीर से गुरुजनों की सेवा करें।

९. सीधे बैठें, सीधा बोलें और सीधा विचार करें।

१०. किसी से मार-पीट न करें। किसी का जी न दुखायें।

११. सचाई का बर्ताव करें। सदा सच बोलें।

१२. क्रोध कभी न आने दें। क्रोध आना दुर्बलता का लक्षण है।

१३. हर बात में अपना फायदा न देखें। ध्यान रहे कि संसार हमारे भोग के लिए नहीं है। हम संसार की सेवा के लिए हैं।

१४. गड़बड़, धाँधली और उतावली न करें।

१५. दूसरे का दोष न देखें, गुण ही ग्रहण करें।

१६. दूसरों के दुख से दुखी हों। दूसरों का दु:ख दूर करने के लिए व्याकुल रहें।

१७. किसी तरह का स्वाद न लगने दें। पेटूपन न करें। थोड़े में ही तृप्ति मानें।

१८. उद्धतपन न करें। सबसे मिल-जुलकर रहें। मृदु भाषण करें।

१९. बुरा काम करने में लाज लगे। मर्यादा का उल्लंघन न करें।

२०. हाथ, पैर, आँख आदि अवयवों की अकारण हलचल न करें।

२१. ताकत के जोर से कोई दबाना चाहे, तो न दबें।

२२. कमजोर आदमी कोई गलती करे, तो उसे क्षमा कर दें।

२३. शरीर को कुछ कष्ट हो, तो व्याकुल न हों, धैर्य रखें।

२४. स्वच्छता का ध्यान रखें।

२५. किसी से मत्सर न करें। स्वयं ऊपर चढ़ने के लिए दूसरे को नीचे न गिरायें।

२६. मैं बड़ा हूँ, यह न मानें। इसी में सच्चा बड़प्पन है।

छोटे बच्चों के शिक्षण के लिए गीता की दैवी सम्पत्ति के लक्षणों का यह सीधा-सादा और प्राथमिक अर्थ मैंने दिया है। व्यापक अर्थ 'ज्ञानेश्वरी' में बताया गया है।

शिक्षा और उद्योग

पाठशालाओं में गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की जो शिक्षा दी जाती है, उसमें सुधार कर उद्योग का भी समावेश किया जाये, यही हम लोग कहते हैं। जीवन में गणित आदि का उपयोग है, इस बारे में कोई सन्देह ही नहीं। उद्योग की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। फिर भी इतने से काम नहीं चलता। शिक्षण में मुख्य दृष्टि गुण-विकास की होनी चाहिए। उसी के लिए उद्योग तथा अन्य विषयों की योजना की जाये।

गुण-विकास

बिना उद्योग के गुण-विकास नहीं होता और न गुणों की परख ही होती है। इसलिए उद्योग सिखलाया जाना चाहिए। उससे बालक स्वावलम्बी होता है, यह भी एक गुण ही है। विचार ठीक से प्रकट करते न बने, तो सत्य-रक्षा भी ठीक से नहीं होती। इसलिए भाषा की शिक्षा भी गुण-विकास के अन्तर्गत आ जाती है। पर इन सबका शिक्षण की दृष्टि से स्वतंत्र मूल्य नहीं है।

५. विद्यार्थी

कहा जाता है कि विनोबा एक शिक्षक हैं। यह कहना गलत नहीं। पर मैं एक विद्यार्थी हूँ, यह कहना अधिक ठीक होगा। मेरे जेल के साथी मेरे विद्यार्थीपन के गवाह हैं। अध्ययन के लिए मुझे बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मैंने अपने जीवन का अधिकांश समय प्रत्यक्ष काम में ही बिताया है। तभी तो मेरी बुद्धि हमेशा ताजी होने का मुझे अनुभव होता है।

बुद्धि ताजी कैसे रहे?

खुली हवा में कुछ-न-कुछ शरीर श्रम करते रहने को ही मैं बुद्धि ताजी रहने का मुख्य कारण मानता हूँ। इससे, तपी-तपायी भूमि बारिश के लिए जैसी तैयार रहती है, बुद्धि भी ज्ञान-ग्रहण के लिए वैसी ही तैयार रहती है। शारीरिक श्रम से तपी बुद्धि ज्ञान ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहती है और वह ज्ञान को फलद्रूप बनाती है। हमें विद्यार्थियों में ज्ञान भरना नहीं है, हमें उनमें ज्ञान की पिपासा उत्पन्न करनी है। ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति पैदा करनी है।

विद्यार्थी स्वयं ही सीखता है। उपनिषद में वर्णन आता है कि विद्यार्थी को गायें दी जाती हैं और वह उन्हें चराते-चराते ही शिक्षा प्राप्त करता है। उसे कभी कोई बैल ज्ञान देता है, कभी कोई चिड़िया, तो कभी कोई पेड़।

भूलने की महिमा

उपनिषद में ज्ञान के साथ-साथ अज्ञान की भी महिमा गायी गयी है। मनुष्य को ज्ञान भी चाहिए और अज्ञान भी। केवल ज्ञान या केवल अज्ञान अन्धकार में ले जाता है। उपयुक्त ज्ञान और उपयुक्त अज्ञान के संयोग में ही अमृतत्व भरा हुआ है। वैसा देखा जाये, तो संसार में ज्ञान इतना भरा पड़ा है कि उस सारे को अपने मस्तिष्क में ठूँसने का यत्न करने से मानव पागल हो जायेगा। इसलिए स्मरण के साथ-साथ विस्मरण की भी उतनी ही आवश्यकता है। विद्यार्थी रटी हुई चीज ज्यों-की-त्यों सुना दे, तो मुझे वह पसन्द नहीं आता। उसे मैं रेकॉर्डर कहता हूँ। वह तो यन्त्र हो गया। मैं उसे चेतन नहीं कहता। वह यदि चेतन होता, तो कुछ छोड़ देता, कुछ जोड़ देता।

स्वावलम्बन का अर्थ

आजकल विद्यालयों में जो तालीम दी जाती है, उसमें लड़कों को कुछ-न-कुछ जानकारी दी जाती है, परन्तु स्वतंत्र ज्ञान-प्राप्ति कैसे करनी चाहिए, यह बात नहीं सिखायी जाती।

बहुत-से लोग कहते हैं कि तालीम में स्वावलम्बन का बहुत महत्त्व है। मेरे मन में इसका बहुत गहरा अर्थ है। तालीम में कुछ उद्योग, शरीरश्रम सिखाना चाहिए, ताकि बच्चा स्वावलम्बी बने, इतना ही मेरा अर्थ नहीं है। शरीरश्रम तो करना ही चाहिए, हरएक को अपने हाथ से काम करने का ज्ञान देना ही चाहिए। अगर सभी लोग हाथों से कुछ-न-कुछ परिश्रम करने लग जायेंगे, तो देश में वर्गभेद नहीं रहेगा और देश सुखी होगा, उत्पादन भी बढ़ेगा और आरोग्य भी बढ़ेगा। इस तरह उद्योग से बहुत लाभ होंगे। इसलिए कम-से-कम उस अर्थ में तो तालीम में स्वावलम्बन का माद्दा होना ही चाहिए। यह बात सब लोग समझते हैं, परन्तु मेरा अर्थ उतना ही नहीं है।

प्रज्ञा स्वयंभू बने

मैं मानता हूँ कि तालीम में ऐसा तरीका अख्तियार करना चाहिए, जिससे कि लड़कों की प्रज्ञा स्वयंभू बने और वे स्वतंत्र विचारक बनें। अगर विद्या में यह मुख्य दृष्टि रही, तो विद्या का सारा स्वरूप ही बदल जायेगा। आजकल विद्यालयों में अनेक भाषाएँ और अनेक विषय सिखाये जाते हैं। हर बात में विद्यार्थी को वर्षों तक शिक्षक के मदद की आवश्यकता महसूस होती है। परन्तु विद्यार्थियों को इस तरह तालीम मिलनी चाहिए, जिससे कि विद्यार्थी आगे चलकर स्वयं ही ज्ञान प्राप्त कर सके। दुनिया में अनन्त ज्ञान है। यद्यपि जीवन के लिए उस अनन्त ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, तो भी पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। लेकिन जीवनोपयोगी ज्ञान किसी स्कूल में हासिल हो सकता है, यह विचार गलत है। जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान तो जीवन से ही हासिल होता है। विद्यार्थियों में वह ज्ञान हासिल करने की शक्ति जाग्रत् करना ही विद्यालयों का काम है।

युनिवर्सिटी में रहकर विद्यार्थी कुछ ज्ञान कमाते हैं और समझते हैं कि यह ज्ञान अपने भावी जीवन में लाभ पहुँचायेगा। वास्तव में जहाँ युनिवर्सिटी का ज्ञान खतम होता है वहाँ विद्या का

आरम्भ होता है। युनिवर्सिटी का अध्ययन पूरा करने का अर्थ इतना ही है कि अब आप अपने प्रयत्न से विद्या प्राप्त कर सकते हैं। आप निजाधार बनें, निराधार नहीं रहें।

स्वावलम्बन ही मुक्ति

लड़के के माता-पिता उससे स्कूल की विद्या पूरी करने का आग्रह इसलिए करते हैं कि उसे विद्या पाकर नौकरी मिल सकती है और उसका जीवन अच्छी तरह चल सकता है। विद्या की तरफ इस दृष्टि से देखना बिल्कुल गलत है। विद्या जीवन की एक मौलिक वस्तु है। कहा गया है कि विद्या तो मुक्ति के लिए है। इसी मुक्ति को आजकल हम स्वावलम्बन कहते हैं। अन्य आलम्बनों से, अन्य सारे आधारों से मुक्ति को ही स्वावलम्बन कहा जा सकेगा। जिसको सच्ची विद्या हासिल होती है, वह सच्चे अर्थ में मुक्त और स्वतंत्र होता है। इसलिए शरीर के वास्ते कुछ तालीम मिलनी चाहिए और उसके लिए कुछ उद्योग सिखाये जाने चाहिए। यह तो स्वावलम्बन का कम-से-कम अंग है। नये ज्ञान की प्राप्ति की शक्ति हासिल होना, उसका एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश है।

विकारवशता में स्वावलम्बन नहीं

मुक्ति के लिए और एक तीसरी बात जरूरी है, जो शिक्षण का ही एक अंग है। जैसे मुक्ति के लिए पराधीनता उचित नहीं है, वैसे ही मुक्ति के लिए विकारवशता भी उचित नहीं है। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों का गुलाम है और विकारों को काबू में नहीं रख सकता, वह स्वावलम्बी या मुक्त नहीं है। इसके लिए विद्या में संयम, व्रत, सेवा आदि का समावेश करना होगा।

स्वावलम्बन के तीन अर्थ

इस तरह स्वावलम्बन के तीन अर्थ हैं। अपने उदर-निर्वाह के लिए दूसरों पर आधार रखना न पड़े, यह उसका पहला अर्थ है। उसका दूसरा अर्थ यह है कि ज्ञान प्राप्त करने की स्वतंत्र शक्ति जाग्रत् हो और उसका तीसरा अर्थ यह है कि मनुष्य में अपने-आप पर काबू रखने की शक्ति आनी चाहिए, इन्द्रियों को और मन को वश करने की शक्ति आनी चाहिए। शरीर और मन की पराधीनता गलत है। शरीर पेट के वास्ते पराधीन बनता है। इसलिए मनुष्य को अपनी आजीविका सम्पादन करने का ज्ञान उद्योग के द्वारा मिलना चाहिए। अगर मुनष्य की बुद्धि चिन्तन और विचार

करने में स्वतंत्र नहीं है, तो मनुष्य पराधीन बनता है। इसलिए उसे स्वतंत्र चिन्तन की शक्ति हासिल होनी चाहिए। मन और इन्द्रियों की गुलामी मिटाने की बात भी विद्या से हासिल होनी चाहिए।

माता-पिता अपने लड़कों की विद्या के बारे में सोचते समय ये तीन विचार सामने रखेंगे, तो उन्हें बहुत समाधान होगा। माता-पिता को इसी बात से समाधान मिलता है कि उनके बच्चे सुखी और समर्थ हों और लोगों में उनकी इज्जत हो। केवल लड़कों को नौकरी मिल गयी और उनकी शादी वगैरह का इन्तजाम हो गया, तो सारी व्यवस्था हो गयी, यह मानना ठीक नहीं है।

चिन्तन-स्वातंत्र्य की आवश्यकता

विद्यार्थियों का पहला कर्तव्य है कि वे अपना दिमाग अत्यन्त स्वतंत्र रखें। परिपूर्ण स्वातंत्र्य का अगर किसी को अधिकार है, तो वह सबसे ज्यादा विद्यार्थियों को है। बिना श्रद्धा के विद्या नहीं मिलती। इसलिए श्रद्धा रखनी ही चाहिए, पर श्रद्धा के साथ-साथ बौद्धिक स्वातंत्र्य की भी उतनी ही आवश्यकता है। बहुत लोगों को लगता है कि श्रद्धा और बुद्धि अलग है, पर यह गलत विचार है। जैसे कान और आँख अलग-अलग शक्तियाँ हैं और दोनों का आपस में विरोध नहीं है, उसी तरह श्रद्धा और बुद्धि की बात है। अगर श्रद्धा नहीं है, तो विद्या की प्राप्ति असम्भव है। माता बच्चे को चाँद दिखाती है और कहती है—“देखो बेटा, यह चाँद है।” अगर बच्चे की माता में श्रद्धा न रही और उसे शंका हुई कि माता जो दिखा रही है, वह चाँद है या नहीं, कौन जाने? तो उसे ज्ञान नहीं होगा। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धा एक बुनियादी चीज है। ज्ञान का आरम्भ ही श्रद्धा से होता है। लेकिन ज्ञान की परिसमाप्ति बुद्धि में है। श्रद्धा से ज्ञान का आरम्भ होता है और समाप्ति स्वतंत्र-चिन्तन से होती है। इसलिए विद्यार्थियों को चिन्तन-स्वातंत्र्य का अपना अधिकार कभी नहीं खोना चाहिए। जो शिक्षक विद्यार्थियों पर जबरदस्ती करता है, वह शिक्षक नहीं है। शिक्षक तो वह होगा, जो यह कहेगा कि मेरी बात जँचे तो मानो और अगर न जँचे तो हरगिज न मानो। इस तरह जो बुद्धि-स्वातंत्र्य देगा, वही सच्चा शिक्षक है। क्योंकि बुद्धि-स्वातंत्र्य ही सच्चा स्वातंत्र्य है। उसके लिए बेहतर शब्द 'चिन्तन-स्वातंत्र्य' होगा। हमें अपने चिन्तन-स्वातंत्र्य पर प्रहार नहीं होने देना चाहिए और अपनी स्वतंत्रता का हक सुरक्षित रखना चाहिए। विद्यार्थियों का यह अधिकार दुनिया में छीना जा रहा है, इसलिए मैं विद्यार्थियों को आगाह कर देना चाहता हूँ। इन

दिनों डिसिप्लिन—अनुशासन के नाम पर विद्यार्थियों के दिमागों को यंत्रों में ढालने की कोशिश हो रही है। मैं अनुशासन में विश्वास करता हूँ और यह भी जानता हूँ कि अनुशासन के बिना काम नहीं बनेगा। घर में आग लगी है और अनुशासन न हो, तो केवल गड़बड़ ही होगी। चंद लोग अनुशासन के साथ आग बुझाने जायेंगे, तो जितना जल्दी और अच्छी तरह काम होगा, उतना बहुत-से लोग जायेंगे और उनमें अनुशासन न हो, तो नहीं होगा। लेकिन आज अनुशासन के नाम पर सब जगह यंत्रीकरण हो रहा है और विद्यार्थियों के दिमागों पर बहुत बड़ा प्रहार हो रहा है।

इसके लिए शिक्षा का विभाग शासन से मुक्त होना चाहिए। लेकिन विद्यार्थी यह बात समझे नहीं हैं। आज तो वे यूनियन बनाते हैं। हमें बड़ा आश्चर्य होता है। यूनियन तो भेड़ों का होता है, शेरों का नहीं। विद्यार्थियों को भेड़ नहीं, शेर बनना चाहिए। यदि कोई विचार जँचता है, तो उसे स्वीकार करें; नहीं तो उसे कबूल नहीं करना चाहिए। अपने देश में लाखों स्कूल चलने चाहिए, पाठशालाएँ चलनी चाहिए और किसी भी विद्यार्थी को किसी भी यूनियन में दाखिल नहीं होना चाहिए। यह कहना चाहिए कि नागरिक हो जाने के बाद स्वातंत्र्य कम करने की जरूरत पड़ेगी, तो मैं किसी यूनियन में दाखिल हो जाऊँगा, लेकिन आज मैं विद्यार्थी हूँ। इसलिए सौ फीसदी स्वातंत्र्य रखने का मुझे अधिकार है। यह ठीक है कि राजनीति का मैं चिन्तन करूँगा, विचार करूँगा। लेकिन अपना मत पक्का नहीं बनाऊँगा। विचार बदल सकता हूँ। जब मैं यूनियन में दाखिल होऊँगा, तो यह अपना अधिकार खोऊँगा। इस तरह आपको कहना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि आपस में सहयोग नहीं होना चाहिए। सेवा के लिए सहयोग की जरूरत है। पर यूनियन ढाँचे में ढालनेवाला होता है। देश की आजादी के लिए यह एक बड़ा खतरा है।

आज तक हर हुकूमत (स्टेट) की यह कोशिश रही है कि बने-बनाये विचार विद्यार्थियों के दिमाग में ठूँस दिये जायें, फिर चाहे वह स्टेट सोशलिस्ट (समाजवादी) हो, कम्युनिस्ट (साम्यवादी) हो, कम्यूनिलिस्ट (साम्प्रदायिकता-वादी) हो या और भी कोई इष्ट या अनिष्ट हो। लेकिन यह तरीका गलत है। गुरु को तो अपने उस शिष्य पर अभिमान होना चाहिए, जो सोच-समझकर विचारपूर्वक गुरु की बात को मानने से इन्कार कर देता है। आजकल तो जो उठता है अपनी ही बात मनवाना चाहता है। मानो ये लोग विद्यार्थियों का यंत्रीकरण ही करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को ऐसे किसी

यंत्र का पुर्जा नहीं बनना चाहिए। आपको संत बनना है, पंथ नहीं बनना है। संत वह है जो सत्य का उपासक होता है और पंथ वह है जो किसी बने-बनाये रास्ते पर जड़वत् चलता है।

अपने पर काबू

विद्यार्थियों का दूसरा कर्तव्य है कि वे अपने पर काबू पायें। स्वतंत्रता का अधिकार वही अपने हाथ में रख सकेगा, जो अपने ऊपर काबू पा सकेगा। जो संकल्प मैं करूँगा, उस पर मैं जरूर अमल करूँगा, ऐसी निष्ठा होनी चाहिए। विद्यार्थियों का ऐसा निश्चय होना चाहिए कि मैं अगर सत्य संकल्प करता हूँ, तो दुनिया में कोई ऐसी ताकत नहीं, जो उस संकल्प को तोड़ सकती है। इस वास्ते देह, मन, बुद्धि पर काबू होना चाहिए। यदि मैं सुबह चार बजे उठने का निश्चय करूँगा, तो इन्द्रियों की क्या मजाल है कि उस निश्चय से वे मुझे परावृत्त करें। इस तरह यदि अपने ऊपर काबू नहीं होगा, तो दुनिया में विद्यार्थी टिक नहीं सकेगा। इसलिए विद्यार्थियों को विद्याभ्यास के साथ यह बात भी व्रत के तौर पर तय करनी है कि मुझे अपने ऊपर काबू पाना है। नहीं तो विद्या वीर्यहीन बनेगी। अपने-आपको काबू में रखने की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है।

आपने स्थितप्रज्ञ के श्लोक सुने हैं। स्थितप्रज्ञ कौन है? जिसकी प्रज्ञा में निर्णय-शक्ति है। आज दुनिया में बहुत बड़े-बड़े सवाल उठते हैं। छोटे सवाल अब नहीं रहे। सारी दुनिया नजदीक आ गयी है, इसलिए बहुत बड़े व्यापक पैमाने पर सोचना पड़ता है। निर्णय भी व्यापक बुद्धि से और शीघ्र लेना पड़ता है। पहले इतने बड़े सवाल पैदा नहीं हुआ करते थे और लोगों को दुनिया का इतना ज्ञान भी नहीं था। अपने देश में सबसे बड़ी लड़ाई पानीपत की हुई थी, परन्तु चीन और जापानवालों को वर्षों तक उसका पता नहीं था। लेकिन आज दुनिया के किसी कोने में भी छोटी-सी घटना होती है, तो फौरन सारी दुनिया पर उसका असर होता है। यूरोप और अमेरिका की घटनाओं का हिन्दुस्तान के बाजार पर फौरन असर होता है। इस तरह बड़े-बड़े सवाल आज पेश होते हैं। इसलिए शीघ्र निर्णय करने की आवश्यकता है। अत: इस जमाने में सबसे बड़ी शक्ति है, निर्णय-शक्ति। उसी को प्रज्ञा कहते हैं। जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गयी, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। विद्यार्थियों को स्थितप्रज्ञ बनना चाहिए। उसका तरीका यह है कि अपने मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि पर काबू पाने की कोशिश की जाये। विद्यार्थियों को अपनी संकल्प-शक्ति दृढ़ करने की प्रतिज्ञा

करनी चाहिए। अगर हम कोई निर्णय करते हैं और वह टूट जाये, तो हमारी ताकत टूट जाती है। इसलिए मैं जो भी निश्चय करूँगा, वह टलेगा नहीं, चाहे प्राण चले जायें, ऐसी स्थिति होनी चाहिए। इस तरह निश्चय-शक्ति के लिए इन्द्रियों पर काबू पाना बहुत जरूरी है।

विद्यार्थी अवस्था में आपको संयम की महान् विद्या सीख लेनी है। जब आप संयम की शक्ति का संग्रह कर लेंगे तो एकाग्रता भी, जो जीवन की एक महान् शक्ति है, पा लेंगे। मैं इन्द्र हूँ। ये इन्द्रियाँ मेरी शक्तियाँ हैं। उन पर मेरा काबू होना चाहिए।

बारिश का सारा पानी अलग-अलग दिशाओं में जहाँ-तहाँ बह जाये तो नदी नहीं बनेगी। नदी बनने के लिए नियत दिशा चाहिए। संयम की शक्ति इस दृष्टान्त से समझ लीजिए।

निरन्तर सेवा-परायणता

विद्यार्थियों का तीसरा कर्तव्य है कि वे निरन्तर सेवा-परायण रहें। बिना सेवा के ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। महाभारत में एक प्रसंग है। अर्जुन, भगवान कृष्ण और धर्मराज साथ बैठे हैं। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गाण्डीव की निन्दा करेगा, उसे मैं मारूँगा। धर्मराज ने अर्जुन का उत्साह बढ़ाने के लिए गाण्डीव की निन्दा करते हुए कहा कि तू और तेरा गाण्डीव इतना बलवान है, फिर भी हमें इतनी तकलीफ हो रही है और हमारे शत्रु खतम नहीं हो रहे हैं। अर्जुन बड़ा धर्मनिष्ठ था और उसको अपने भाई से बहुत प्रेम था। वह अपनी खुद की निन्दा सह लेता, परन्तु गाण्डीव की निन्दा नहीं सह सका, इसलिए कृष्ण के सामने ही उसने धर्मराज पर प्रहार करने के लिए हाथ उठाया। कृष्ण ने उसका हाथ खींचते हुए उससे कहा कि तू कैसा मूर्ख है? तुझे ज्ञान नहीं है। तूने वृद्धों की सेवा नहीं की है, तो तुझे ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? महाभारत में अन्यत्र यक्ष प्रश्न की कहानी है। उसमें एक प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? तो जवाब मिला कि **ज्ञानं वृद्धोपसेवया**—वृद्धों की सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है। वृद्धों के पास अनुभव होता है और जो सेवापरायण होते हैं, उनके सामने वृद्धों का दिल खुल ज़ाता है और वे अपना सारसर्वस्व दे देते हैं। इसलिए विद्यार्थियों को सेवापरायण होना चाहिए। वृद्धों की, माता-पिता की, दीन-दुखियों की,

समाज की सेवा करनी चाहिए। यह नहीं समझना चाहिए कि हम सेवा करते रहेंगे, तो अध्ययन कैसे होगा? लेकिन यह विश्वास होना चाहिए कि सेवा से ही ज्ञान प्राप्त होता है।

विश्व-नागरिकत्व

विद्यार्थियों का चौथा कर्तव्य है कि उन्हें सर्व-सावधान होना चाहिए। दुनिया में समाज की जो हलचलें चलती हैं, उन सबका अध्ययन करना चाहिए। भिन्न-भिन्न वाद निर्माण होते हैं, उन सब वादों का तटस्थ बुद्धि से अध्ययन करना चाहिए। विद्यार्थियों को सर्वव्यापक होना चाहिए। विद्यार्थियों की बुद्धि संकुचित नहीं होनी चाहिए। विद्यार्थी को यह नहीं मानना चाहिए कि मैं तेलगुभाषी हूँ या मैं हिन्दुस्तान का हूँ। उसे तो यही महसूस होना चाहिए कि मैं तो द्रष्टा हूँ और यह सब दृश्य है। उससे मैं अलग हूँ, भिन्न हूँ। धर्म के, भाषा के जो वाद चलते हैं, उन सबसे मैं अलग हूँ और तटस्थ बुद्धि से उनका अध्ययन करनेवाला हूँ। विद्यार्थियों को ऐसी व्यापक बुद्धि जरूर सधेगी। लेकिन इन दिनों हम उलटा ही देखते हैं। भाषावार प्रान्त-रचना के विषय पर कितने झगड़े हुए? उसमें हृदय की संकीर्णता प्रकट हुई। उस तरह की संकीर्णता नहीं रहनी चाहिए। विद्यार्थियों को व्यापक बुद्धि से सोचना चाहिए और यह कहना चाहिए कि हम विश्व-नागरिक हैं। हम सारी दुनिया में विश्व-नागरिकता की स्थापना करनेवाले हैं। यह भी नहीं कहना चाहिए कि हम भारतीय हैं। भारतीय तो वे हैं, जो आज के नागरिक हैं; लेकिन हम विद्यार्थी भारतीयता से भी ऊपर उठे हुए हैं। हम विश्व-मानव हैं, हम विद्या के उपासक हैं, तटस्थ बुद्धि से सोचनेवाले हैं और हम संकुचित, पांथिक नहीं बन सकते।

आज की नीरस शिक्षा

सोचने की बात है कि उत्तम विचार के लिए विद्यार्थी कम तैयार होते हैं या शिक्षक? हमारा अनुभव है कि शिक्षक ही पीछे हटते हैं। आज जो तालीम चलती है, उसमें जो विद्यार्थी छुट्टी नहीं चाहेगा, वह मूरख होगा। मेरा अपना बचपन का अनुभव है कि स्कूल में जितनी छुट्टियाँ मिलती थीं, उतने से मेरा निभता नहीं था। पहले क्लास में हाजिरी ली जाती थी। इसलिए उसमें मैं हाजिर रहता था और फिर घूमने निकल जाता था। अगर मैं वहाँ पर पूरी तालीम पाता, तो आज भूदान-

यज्ञ के काम में न निकलता। वह शिक्षण मुझे इतना नीरस मालूम होता था कि आखिर एक दिन मैंने कॉलेज छोड़ ही दिया। हमारा शिक्षण का ढंग ठीक हो, तो बच्चे शिक्षक के पीछे पागल बन जाते हैं। बच्चों को 'हीरो-वरशिप’ (वीरपूजा) की आदत होती है और शिक्षक उनका 'हीरो' बन सकता है। इसलिए माता-पिता के लिए जो इज्जत होती है, उससे बहुत ज्यादा इज्जत गुरु के लिए होनी चाहिए। लेकिन गुरु भी वैसे होने चाहिए।

आज तो हमने संस्कृत को भी नीरस बना दिया है। संस्कृत जैसे सुन्दर विषय को असुन्दर बनाना एक विशेष कला ही है। आजकल बच्चों के सामने पहले व्याकरण के रूप खड़े किये जाते हैं, तो वह सारी सेना देखकर वे घबड़ा जाते हैं। उन्हें तो सुन्दर पद्य सिखाने चाहिए। तब आनन्द आयेगा। आज की वस्तुस्थिति ऐसी है कि तालीम का ढंग ही गलत है। उस हालत में बच्चों को छुट्टी मिलती है, इसीलिए वे जिन्दा रहते हैं और आप उन्हें जो पढ़ाते हैं, उसमें से सिर्फ ३३ फीसदी ही याद रखने की अपेक्षा करते हैं और ६७ फीसदी भूलने की इजाजत देते हैं, भूलने की अपेक्षा करते हैं। यह भी उन पर बड़ा उपकार है।

सुख या विद्या?

आज जो शिक्षा दी जा रही है, उस कारण विद्यार्थी सुविधा-प्रिय हो गये हैं। कठिनाइयों से बचना चाहते हैं। उनके माँ-बाप भी अपने बच्चों को उसी विद्यालय में रखना चाहते हैं, जहाँ ज्यादा-से-ज्यादा सुविधाएँ होती हैं। महाभारत में कहा है—**सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।** (सुखार्थी को विद्या कहाँ और विद्यार्थी को सुख कहाँ?)। अगर आप सुख चाहते हैं तो विद्या कहाँ से मिलेगी? और अगर विद्या चाहते हैं तो सुख कहाँ से मिलेगा? लेकिन आप तो दोनों चाहते हैं। इस प्रकार विद्या हासिल नहीं होती। इसके लिए ब्राह्ममुहूर्त की मधुर बेला में उठना पड़ेगा, व्यायाम करना पड़ेगा, शरीर को संयम से रखना पड़ेगा, इन्द्रियों पर, अपनी बुद्धि पर काबू पाना पड़ेगा, तब विद्या हासिल होगी।

बालक ऐसा शिक्षण पायें कि शिक्षित होने पर समर्थ बन, दुनिया की सेवा करने के लिए आगे आ सकें और उन्होंने जितना लिया है, उससे दस गुना वे दूसरों को दे सकें। जैसे एक सेर

बीज खेत में बोने पर वह पचीस सेर बनकर निकलता है, वैसे ही छात्रों की चित्त-भूमि में बोया गया विचार-बीज दस-बीस गुना बनना चाहिए।

जोश और होश दोनों सँभालें

उपनिषद में युवा के लक्षण गिनाये गये हैं—चारित्र्यवान, शीलवान, उत्तम अध्ययनशील, दृढ़ निश्चयी और बलिष्ठ। हृदय में आशा और हाथ में बल हो, ऐसे जवान से काम होता है। केवल यौवन होगा तो अनर्थ होगा। धन-सम्पत्ति, सत्ता और अविवेक भी अनर्थ हैं। ये चारों यदि एक साथ इकट्ठा हो जायें तो कहना ही क्या? इसलिए मैं हमेशा कहता हूँ कि युवकों में उत्साह तो होता ही है, उन्हें धैर्य की आवश्यकता है। जोश और होश दोनों चाहिए। गीता में सात्त्विक कर्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि उसमें धृति और उत्साह दोनों होंगे। कुछ लोग ‘तरुण उत्साही मंडल' बनाते हैं तो हम कहते हैं कि 'तरुण धृति मंडल' और ‘वृद्ध उत्साही मंडल' बनाना चाहिए। तरुण, वृद्धों को समझने को कोशिश करें। हमें यदि भूमिति में आगे बढ़ना है तो पहले यूक्लिड के सिद्धान्त समझ लेने पड़ेंगे। फिर आगे संशोधन होगा। वृद्धों के अनुभव का पूरा लाभ उठाकर आगे बढ़ना चाहिए।

जिस राष्ट्र को अपने विद्यार्थियों को उत्साहित करने की जरूरत पड़ती है, वह राष्ट्र तो खत्म ही हुआ समझिए। तरुणों को धृति की आवश्यकता है। उसी से उत्साह टिकता है और कारगर होता है। धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है। आपको कर्मयोगी बनना है।

कर्मयोगी बनने के लिए विद्यार्थियों को कुछ-न-कुछ निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। निर्माण के बिना नि:संशय ज्ञान भी नहीं होता। प्रयोग से प्राप्त ज्ञान ही नि:संशय ज्ञान होता है। मैं विद्यार्थियों से पूछता हूँ, आप लोग रोटी बनाना जानते हैं? वे कहते हैं, “नहीं, हम तो सिर्फ खाना जानते हैं। रोटी पकाना तो लड़कियों का काम है।” रोटी पकाना अगर लड़कियों का काम है तो रोटी खाना भी लड़कियों का ही काम रहने दीजिए। अपने लिए ‘ज्ञानामृतं भोजन’ रख लीजिए। जिन लोगों ने लड़कियों और लड़कों के कार्यों को इस तरह विभाजित किया, उन्होंने दोनों को गुलाम बनाने का तरीका ढूँढ़ निकाला है और ज्ञान को पुरुषार्थहीन बनाया है।

श्रीकृष्ण बचपन में हाथों से काम करते थे, मेहनत-मजदूरी करते थे। इसीलिए गीता में इतनी स्वतंत्र प्रतिभा का दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है। तेजस्वी विद्या हासिल करनी है। जिस विद्या में कर्तृत्व-शक्ति नहीं, स्वतंत्र रूप से सोचने की बुद्धि नहीं, खतरा उठाने की वृत्ति नहीं, वह विद्या निस्तेज है। मैं चाहता हूँ कि विद्यार्थी तेजस्वी विद्या प्राप्त करने की वृत्ति रखें।

विद्यार्थियों पर अनुशासनहीनता का आक्षेप

कहा जाता है कि आजकल विद्यार्थियों में असंतोष बहुत बढ़ गया है। उनमें अनुशासन जैसी कोई चीज ही रही नहीं है। मुझे तो उलटा ही लगता है। आज शिक्षण ही ऐसा रद्दी दिया जा रहा है कि मुझे तो विद्यार्थियों का असंतोष कम ही लगता है। वे इतना अनुशासन कैसे रख पाते हैं, यही आश्चर्य की बात है ! अंग्रेजी में ट्रान्सफर्ड एपिथेट नाम का एक अलंकार है, जिसमें एक पर लागू होनेवाला विशेषण दूसरे पर लागू किया जाता है। शिक्षा को जो गाली दी जानी चाहिए, वह विद्यार्थियों को दी जाती है। वास्तव में आज की शिक्षा ही अत्यन्त रद्दी है। आज की शिक्षा में न कोई काम सिखाया जाता है, न आध्यात्मिक शिक्षण दिया जाता है। विज्ञान का ज्ञान भी बहुत कम दिया जाता है।

मुझे लगता है कि आज के विद्यार्थी काफी अनुशासन का पालन कर रहे हैं, जिसकी आशा आज की परिस्थिति में नहीं रखी जा सकती। आज की परिस्थिति में यदि विनोबा विद्यार्थी होता, तो निश्चय ही ज्यादा अनुशासनहीन होता, इसमें कोई शक नहीं। हमारे प्राचीन ग्रंथों में 'विद्या' को भी ‘विनय’ नाम दिया है। शिक्षाप्राप्त विद्यार्थी को ‘विनीत' कहते हैं। इसलिए आदर्श शिक्षण का परिणाम विनय में जरूर होना चाहिए, परन्तु वह विनय गुलामी नहीं होगा, बल्कि वह विनय समाज की गलत कल्पनाओं का सामना करने के लिए खड़ा होगा। ‘विनय’ शब्द अर्थघन है। शिक्षक विनयसमपन्न बने यानी अहंकारमुक्त बने और विद्यार्थी विनयसम्पन्न बने यानी सेवायुक्त बने। अंग्रेजी में ‘विनय’ को 'ह्यूमिलिटी' कहते हैं, परन्तु ‘विनय’ शब्द में जो संकेत है वह ह्यूमिलिटी में नहीं है।

जब नयी पीढ़ी आती है, तो बूढ़े झगड़ा करते हैं कि ये हमारा अनुशासन नहीं मानते। किन्तु इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं हो सकता। 'अनुशासन नहीं मानते' आखिर इसका अर्थ यही है न कि हमारे कहने में नहीं रहते? पर बताइए कि युवक क्यों आपके कहने में रहें? समाज के मूल्य ही बदल गये हैं। परिस्थिति के अनुसार मूल्यों में नित्य नया परिवर्तन होता रहता है।

नयी पीढ़ी नये काम के लिए ही होती है, पुराने काम के लिए नहीं। ऋग्वेद में एक बड़ा ही अच्छा मंत्र आता है—**अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर्युवानः।** यानी युवक उस ब्रह्म का चिन्तन करते हैं, जिस ब्रह्म का पहले चिन्तन नहीं हुआ। यदि जीर्ण ब्रह्म युवकों के सामने रखा जाये, तो उसके ब्रह्म होने के बावजूद नयी पीढ़ी को उसका कुछ भी आकर्षण नहीं हो सकता। यह युवकों का दोष नहीं माना जायेगा। इसलिए समाज में नित्य नया तत्त्व प्रकट होना चाहिए। ब्रह्म को भी नया-नया रूप धारण करना चाहिए। यदि वह नया-नया रूप न ले सकेगा, तो क्षीण हो जायेगा।

एक और बात हम यह कहना चाहते हैं कि ज्ञान के विषय में आज्ञा और हुक्म नहीं चल सकता। और किसी काम के लिए हुक्म हो सकता है और हुक्म का पालन भी हो सकता है। लेकिन कोई एक गोल वस्तु है, तो हम आपको यह आज्ञा नहीं कर सकते कि आप उसको त्रिकोणात्मक समझें। उसमें हमारी आज्ञा काम नहीं करेगी। जो गोल चीज है, उसका गोल ही ज्ञान होगा। ज्ञान के विषय में आज्ञा कुंठित होती है, यह समझना चाहिए। नयी तालीम अनुशासन नहीं चलाती। वह विद्यार्थी को परिपूर्ण मुक्तता देती है। शासनमुक्त समाज की रचना जब कभी दुनिया में होनेवाली हो तब हो, लेकिन विद्यार्थियों के लिए उसकी रचना जरूर होनी चाहिए। विद्यार्थी का सबसे अधिक कोई हक है, तो वह आजादी प्राप्त करना है।

ऐसी हालत में स्वयं-अनुशासन की भावना विद्यार्थियों में आयेगी, ऐसी अपेक्षा हम जरूर कर सकते हैं। परन्तु किसी कृत्रिम अनुशासन में नयी तालीम के विद्यार्थी रहेंगे, यह हम नहीं मानते। आज की समाज-रचना कृत्रिम है, उसका आधार विषमता पर है। इसलिए नयी तालीम से जो लड़का पैदा होगा, वह समाज के खिलाफ बागी होगा। जैसा कि गांधीजी ने कहा था, वह प्रतिकार करेगा। लेकिन उसका प्रतिकार सविनय होगा, इसमें कोई शक नहीं है। परन्तु वह प्रतिकार करेगा जरूर।

राजनीति में भाग लें या नहीं?

एक सवाल हर वक्त पूछा जाता है कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं? विद्यार्थियों को आत्मनीति में प्रवीण बनना है। हर बात में उनको जागरूक रहकर अपनी नीति निश्चित करनी है। राजनीति में विद्यार्थी साक्षी और अध्यक्ष बनकर रहें। हम अध्यक्ष उसे कहते हैं जिसकी आँख सारी दुनिया पर रहती है। विद्यार्थी-दशा में आप जीवन से सम्बन्धित सरे प्रश्नों पर अध्यक्ष की भूमिका से निरीक्षण-परीक्षण करते रहें और अपने निर्णय बनाते रहें। समय आने पर उन पर अमल करें।

बहुतों का कहना है कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वे अपक्व बुद्धि के होते हैं। परिपक्व बुद्धि से ही उस पर विचार करना चाहिए। किन्तु इसका अर्थ तो यह होगा कि जिन बच्चों की यह निष्ठा होगी कि हमारी बुद्धि परिपक्व हो गयी है, वे राजनीति में भाग ले सकते हैं। शंकराचार्य ने १६वें वर्ष में ही भाष्य लिखा, जबकि उस उम्र में मददान का भी अधिकार नहीं रहता। इसलिए यह उत्तर ठीक नहीं। मैं भी यह ठीक मानता हूँ कि छात्र दलगत राजनीति में भाग ही न लें, कारण दलीय राजनीति में वह योग्यता ही नहीं कि विद्यार्थी उसे स्पर्श करें। यह विद्यार्थियों के लिए शोभनीय नहीं। एक बार वे विश्वव्यापक बुद्धिवाले बन जायें; व्यापक और उदारचरित हो जायें। फिर वे छोटे-छोटे क्षेत्र में काम करें, तो भी चल सकता है। जब आप विश्वव्यापक वृद्धि सीख जायें तो फिर अपने परिवार की सेवा करने में भी विश्व-विरोध नहीं होगा। अगर उससे पहले संकुचित सेवा करें तो बुद्धि छोटी रहेगी और सेवा भी छोटी होगी। उससे कुछ भी लाभ नहीं होगा।

इसीलिए विद्यार्थियों में 'मैं विश्व-मानव हूँ’ ऐसी ही वृत्ति होनी चाहिए। आज हम विज्ञान-युग में जी रहे हैं। कुत्ता भी आसमान में उड़ता है। ऐसे जमाने में कोई अपना दिल छोटा बना लेगा तो कैसे चलेगा? आज दिमाग व्यापक बन गया, परन्तु दिल छोटा रह गया, यह आज के युग की समस्या है। इसलिए नयी पीढ़ी को अपना दिल बड़ा बनाना होगा। विद्या उत्तम प्राप्त करके आज के जमाने के अनुकूल अध्ययनसम्पन्न होना होगा और अपना दिल बड़ा बनाना होगा। विद्यार्थी की राजनीति विश्व-राजनीति होनी चाहिए, न कि छोटी-छोटी राजनीति।

विद्यार्थी को सोचना चाहिए कि आज के बड़े-बड़े राष्ट्र एक-दूसरे के भय से मुक्ति पाने के लिए सेना बढ़ा रहे हैं, तो क्या भय से मुक्ति मिल सकेगी? क्या सेना से रक्षण हो सकेगा? अनेक प्रमाणों से स्पष्ट हो चुका है कि विज्ञान-युग में सेना से, हिंसा से रक्षा की आशा दुराशा है। आज एकमात्र अहिंसा, करुणा ही हमारी रक्षण देवता है, यह समझने की बुद्धि छात्रों में होनी चाहिए।

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : शिक्षण-क्षेत्र में जिनकी बहुसंख्या है, ऐसे विद्यार्थी-वर्ग का शिक्षा परिवर्तन के कार्य में कोई हिस्सा नहीं हो सकता कया? शिक्षक आर्थिक दृष्टि से थोड़ा सुरक्षित होता है, इसलिए इस विषय में उसे बहुत उत्साह नहीं दीखता।

उत्तर: विद्यार्थियों के हाथ में बड़ा शस्त्र है, उसका उपयोग करो। स्कूल से निकल जाना, स्कूल छोड़ देना, यह सर्वोत्तम कार्यक्रम है। 'शिक्षा में परिवर्तन करो, अन्यथा हम स्कूल छोड़ देंगे', ऐसा कहो। वैसे अन्य कारणों से हड़ताल वगैरह करते ही हो कई बार। इसलिए इस तरह स्कूल-कॉलेज खाली हो जायेंगे तो शिक्षकों के पास काम ही नहीं बचेगा। मुफ्त में उनको तनख्वाह सरकार कितने दिन देगी? फिर सरकार एकदम जाग्रत् हो जायेगी। और सोचने के लिए मजबूर होकर कुछ परिवर्तन करेगी। यह अणुअस्त्र ही है विद्यार्थियों के हाथ में।

जमाने की मांग है कि आज जो तालीम चल रही है, उसे जल्द-से-जल्द दफना दिया जाये। दफनाना दो तरह से होता है। पिताजी की लाश इज्जत के साथ दफनायी जाती है। लेकिन यह हमारी तालीम इज्जत के साथ दफनाने लायक है ही नहीं। यह बुरी चीज है, जो हिन्दुस्तान के जिगर को खा रही है, लोगों का पराक्रम खतम कर रही है। इसलिए विद्यार्थियों से मुझे यही कहना है कि एक स्वर से वे यह मांग करें कि 'हमें आज का यह शिक्षण कतई नहीं चाहिए।'

मैं भी कॉलेज छोड़कर ही ज्ञान की खोज में निकला था। उसके बाद ज्ञान के अनन्त द्वार खुल गये। कॉलेज में जो कालक्षेप होता था, उसे मैं सह नहीं सका। आज स्वराज्य के बाद भी वैसा ही शिक्षण दिया जा रहा है। देश में एक तरफ करोड़ों लोग जड़-कर्म कर रहे हैं, दूसरी तरफ लाखों विद्यार्थियों को कर्मशून्य मूढ़ शिक्षण दिया जा रहा है। हुक्काम और हुक्मी—सिर्फ हुक्म

करनेवाले और सिर्फ हुक्म माननेवाले—इस तरह के दो वर्ग बन गये हैं। दैन्य, दारिद्र्य और दुःख का सुकाल हो रहा है। चालू शिक्षण-पद्धति जब तक नहीं बदलती, तब तक इस स्थिति में सुधार होनेवाला नहीं है।

विद्यार्थी वह है, जिसको विद्या की लगन हो, जो निरन्तर चिन्तन-मनन करता हो। यह दिमाग ही हमारा मुख्य मार्गदर्शक है। उसको ही खो बैठोगे तो सब-कुछ खो बैठोगे। आप लोग ये बन्द, हड़ताल आदि करते हैं, परन्तु विरोध की भी मर्यादा होनी चाहिए। आपने बन्द में गरीब सब्जीवाली को भी काम करने से रोका। उसकी तो राटी ही गयी। तो क्या उसका आशीर्वाद आपको मिलेगा? क्या यह अक्ल की बात है? मुझे तो यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ। इसलिए भले हड़ताल करो, परन्तु दूसरों पर बन्द लादने का मैं विरोधी हूँ।

प्रश्न : हम पढ़ना छोड़ देंगे तो हमें समाज में प्रतिष्ठा कैसे मिलेगी?

उत्तर : तुलसी-नानक-कबीर आदि संत कौन-से कॉलेज में पढ़े थे? फिर भी उनको प्रतिष्ठा मिली। मैंने युनिवर्सिटी का शिक्षण लिया होता तो आज बी. ए., एम. ए. हुआ होता, लेकिन यह भूदान-यज्ञ का बड़ा काम न कर पाता। मैं जब कॉलेज में पढ़ता था, तब रोज १२-१५ किलोमीटर घूमता था और लायब्रेरी में जाकर रोज पढ़ता था। मैं दस हजार किताबें उस वक्त पढ़ चुका था।

पाँच हिदायतें

विद्यार्थियों को ये पाँच बातें करनी चाहिए—

१. हर रोज कम-से-कम एक घण्टा शरीर-परिश्रम करना चाहिए। और उससे जो आय हो वह समाजोपयोगी काम में खर्च करनी चाहिए। इससे परिश्रम की महत्ता ख्याल में आयेगी और समाज को प्रत्यक्ष में कुछ-न-कुछ देने की आदत पड़ेगी।

२. छुट्टियों में इर्द-गिर्द के गाँवों में जाकर सफाई या अन्य सामाजिक सेवा करनी चाहिए।

३. विद्यार्थी ऐसा संकल्प करें कि अपने से भिन्न धर्म, भाषा, जाति अथवा पंथ के किसी व्यक्ति को अपना मित्र बनायेंगे। इस प्रकार विभिन्न समुदाय के साथ मित्रता करने से सब प्रकार के भेद खतम करने का रास्ता मिल जायेगा।

४. विद्यार्थियों को अच्छी हिन्दी सीख लेनी चाहिए, ताकि भारत के किसी भी कोने में वे जायेंगे तो वे अपना विचार अच्छी तरह रख सकेंगे। अन्य प्रान्तों के साथ सम्बन्ध बनाने का यह एक सबल माध्यम है।

५. विद्यार्थियों को सुबह-शाम आधा घण्टा व्यायाम करना चाहिए। 'जल्दी सोकर जल्दी उठना'—यह जीवन का सूत्र बनना चाहिए। रात में घण्टों तक अभ्यास करने के बदले ब्राह्ममुहूर्त में चंद घण्टे अभ्यास करना ज्यादा अच्छा है।

अध्ययन कैसे करना

अध्ययन में लम्बाई-चौड़ाई महत्त्व की चीज नहीं है। महत्त्व है गम्भीरता का। बहुत देर तक, घण्टों भाँति-भाँति के विषयों का अध्ययन करते रहने को मैं लम्बा-चौड़ा अध्ययन कहता हूँ। समाधिस्थ होकर नित्य-निरन्तर थोड़ी देर तक किसी निश्चित विषय के अध्ययन को मैं गम्भीर अध्ययन कहता हूँ। दस-बारह घण्टे सोना, पर करवटें बदलते रहना, सपने देखते रहना—ऐसी नींद से विश्रांति नहीं मिलती। परन्तु पाँच-छह घण्टे ही सोयें और गाढ़ निद्रा आये, तो उतनी नींद से पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययन की भी है। 'समाधि' अध्ययन का मुख्य तत्त्व है।

बुद्धि में नयी-नयी कोपलें

समाधियुक्त गम्भीर अध्ययन के बिना ज्ञान नहीं। लम्बा-चौड़ा अध्ययन बहुत-कुछ फालतू ही होता है। उसमें शक्ति का अपव्यय भी होता है। अनेक विषयों पर गट्ठाभर पढ़ाई करते रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययन से प्रज्ञा, बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभा के मानी है, बुद्धि में नयी-नयी कोपलें फूटते रहना। नयी कल्पना, नया उत्साह, नयी खोज, नयी स्फूर्ति, ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लम्बी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

कर्मयोग को स्थान

वर्तमान जीवन में आवश्यक कर्मयोग का स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए। अन्यथा भविष्य-जीवन की आशा में वर्तमान काल में मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीर कितना

विश्वाससार्ह है, इसका अनुभव तो हरएक को है ही। भगवान की हम सब पर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि वह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

जीवन के दो बिन्दु

दो बिन्दुओं से रेखा का निश्चय होता है। जीवन का मार्ग भी दो बिन्दुओं से ही निश्चित होता है। हैं कहाँ, यह पहला बिन्दु; जाना कहाँ है, यह दूसरा बिन्दु। इन दो बिन्दुओं को तय कर लेना जीवन की दिशा तय कर लेना है। उस पर लक्ष्य रखे बिना इधर-उधर भटकते रहने से रास्ता तय नहीं हो पाता।

सारांश यह कि गम्भीर अध्ययन का सूत्र है—'अल्पमात्रा, सातत्य, समाधि, कर्मावकाश और निश्चित दिशा।'

६. शिक्षक

१. शिक्षा का पथ-संशोधक

गांधीजी से कोर्ट में पूछा गया कि, 'आपका धंधा क्या है?' तो उन्होंने कह दिया—कातनेवाला और बुनने वाला। यदि मुझसे पूछा जाये कि 'आपका कौन- सा धंधा है?' तो मैं यही कहूँगा कि 'मेरा धंधा शिक्षक का है।'

तेरह साल तक मेरी पदयात्रा चली। उसमें अगर मैंने कोई काम किया तो शिक्षक और विद्यार्थी का ही। जो शिक्षक होता है वही विद्यार्थी भी होता है। जो शिष्य नहीं होगा वह गुरु भी नहीं होगा। इसलिए शिक्षक और विद्यार्थी दोनों एक ही हैं। मैंने भी जीवनभर अध्ययन-अध्यापन का ही काम किया है। ऐसा एक भी दिन नहीं गया, जब मैंने कोई नया ज्ञान हासिल न किया हो और पुराने का चिन्तन न किया हो। चिन्तन को समय न मिलने पर मेरा चित्त बिना जल के मछली की तरह तड़पता है। तो शिक्षकों की जमात मेरी अपनी जमात है।

शिक्षक शक्तिशाली पथ-संशोधक है

वेद में एक जगह शिक्षक को गातुविद् कहा है। गातु यानी गमन-मार्ग, गातुविद् यानी गमन-मार्ग को ढूँढ़नेवाला, जिसको अंग्रेजी में पाथ फाइंडर कहते हैं। वेद का शिक्षक के लिए यह विशेष शब्द है। वेद शिक्षक को अत्यन्त शक्तिशाली मार्गदर्शक के रूप में देखता है। वेद में कहा है—**शिक्षा शचिष्ठ गातुवित्**—हे अत्यन्त शक्तिशाली गुरु, हे मार्ग-संशोधक, आप हमें शिक्षा दीजिएगा। शिक्षक को अत्यन्त शक्तिशाली कहा है। उसकी स्वतंत्र बुद्धिप्रभा की गति में कोई अवरोध नहीं है। मानो गगनविहारी हंस। आसमान में विहार करनेवाले गरुड़ तथा बाज जैसा आक्रमणकारी विहार करनेवाला शिक्षक होगा। शिक्षक कभी मन से दुर्बल नहीं होता। सबसे जयादा ताकत उसके पास है। इसीलिए वह महान है। ज्ञान देकर वह भावी योजना का मार्गदर्शक हो सकता है। यदि वह कमजोर होगा तो समूचा मार्गदर्शन और समूची योजना कमजोर होगी और सारा देश भी कमजोर होगा। मार्ग ढूँढ़कर वह क्या चाहता है, यह भी उस मंत्र में लिखा है। **त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधः अभिशस्तेरव स्पृधि**—हमारा यह जो अज्ञान है, भूख है, नानाविध बीमारियाँ हैं, उन सबको मिटाने का मार्ग दिखाओ। अमति, क्षुधा और अभिशस्ति। शिक्षक ज्ञान

में प्रवीण, उत्पादन में बलवान होना चाहिए। तभी नाना प्रकार के रोग मिटेंगे, भूख टलेगी और अज्ञान टलेगा। पूरा मंत्र इस प्रकार है—

त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुध: अभिशस्तेरव स्पृधि।

त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित्॥ (ऋसा ८.८.९)

—हे शक्तिशाली, हे गातुवित्, तुम हमें उत्तम शिक्षण देना। तुम्हारी भिन्न-भिन्न शक्ति हमें दिखाओ। तुम्हारी बुद्धि प्रकट करो। तुम्हारी रक्षण-उत्पादन-शक्ति सब दिखाना। हमें नानाविध मुसीबतें सता रही हैं, उनका तुम्हारे सिवा और कौन निवारण करेगा?

भारत बनाया आचार्यों ने

प्राचीन काल से आज तक जो भारत बना, उसको शिक्षकों ने ही बनाया है। प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक यहाँ आचार्यों की परम्परा चली आयी है। उन्होंने समाज को तैयार किया और अपनी ओर से विद्यादान दिया। इस दरम्यान राजसत्ताएँ तो अनेक आयीं और गयीं, परन्तु राजसत्ता ने भारत को नहीं बनाया, भारत तो बनाया यहाँ के संत, फकीर और आचार्यों ने।

‘आचार्य ' शब्द की प्रतिष्ठा

संस्कृत में शिक्षक को ‘आचार्य’ कहते हैं। 'आचार्य' शब्द ही खुद बोलता है। आचार्य का अर्थ बताया गया है कि **अचिनोति अर्थान्। अचिरति। आचारं कारयति।** जो सब विषयों का अध्ययन करता है, खुद आचरण करता है और दूसरों से आचरण कराता है, उसका नाम है ‘आचार्य।' संस्कृत में चर धातु कामधेनु जैसी है। चर पर से चारित्र्य। चारित्र्य पर से Cha-ra-cter शब्द बना। ‘चरण’ यानी पाँव। उसका ‘आचरण' के साथ सम्बन्ध है। तो चर धातु पर से ‘आचार्य’ शब्द बना है। ऐसे ही संचार, विचार, प्रचार, उच्चार आदि शब्द पर चर धातु से बने हैं। हमारे देश के बड़े-बड़े ज्ञानी ‘आचार्य’ कहलाये; जैसे शंकराचार्य। हिन्दुस्तान में ‘आचार्य’ शब्द के लिए जो आदर है, वह अन्यत्र कहीं नहीं देखा। यहाँ **आचार्यदेवो भव** कहा गया है। इस तरह के आचार्य हिन्दुस्तान में थे जिन्होंने समाज को रूप दिया, सिर्फ पुस्तकें ही नहीं लिखीं। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने तत्त्वज्ञान के ग्रंथ लिखे और हिन्दुस्तानभर घूमकर तत्त्वज्ञान का प्रचार किया। उन्होंने प्रत्यक्ष विद्यार्थियों को भी सिखाया।

आचार्य के तीन लक्षण

आचार्य के तीन लक्षण हैं—१. शीलवान, २. प्रज्ञावान, ३. करुणावान। शीलवान साधु होता है। प्रज्ञावान ज्ञानी होता है। करुणावान माँ होती है। लेकिन आचार्य साधु, ज्ञानी और माँ तीनों होता है। ऐसे आचार्यों के द्वारा ही हमारा देश बना है।

प्राज्ञ पुरुषों के हाथ में शिक्षण

सामान्य इतिहास, भूगोल, गणित आदि सिखाने का काम सरकार के जरिये हो सकता है, परन्तु हम जिसे कॅरेक्टर-बिल्डिंग, चारित्र्य और शील बनाना कहते हैं, वह काम औसत लोगों से नहीं होगा। औसत से काफी ऊपर उठे हुए लोगों से ही यह काम हो सकेगा।

हमारे देश में शिक्षण की योजना पर सरकार का कोई अधिकार नहीं था। ज्ञानियों के द्वारा शिक्षण-कार्य स्वतंत्ररूप से चलता था। राजाओं के बच्चों को भी उन्हीं के हाथ में सौंपा जाता था। सामान्य गरीब का लड़का और राजपुत्र, दोनों को एक ही गुरु के पास, बराबरी की तालीम मिलती थी। सरकार का उस पर कोई नियंत्रण नहीं था। ऐसी व्यवस्था में से बहुत ही स्वतंत्र बुद्धि के लड़के निकलते थे। दुष्यन्त राजा शिकार करते-करते कण्वमुनि के आश्रम से गुजरे। वहाँ हिरन खेल रहे थे, दौड़ रहे थे। आश्रम के बच्चे हिरनों के और राजा के बीच खड़े हो गये और कहने लगे—**आश्रम-मृगोऽयं, न अन्तव्यो न हन्तव्य:** —आश्रम के मृगों को आप नहीं मार सकते। राजा खामोश हो गया। इतनी हिम्मत उस शिक्षण-पद्धति में तैयार हुए बच्चे करते थे। राजा की सत्ता दुनिया पर चलती थी, लेकिन आश्रम पर नहीं चलती थी। समाज में ऐसे प्राज्ञ पुरुष होते ही हैं। ऐसों के हाथ में शिक्षण-कार्य सौंपना चाहिए, जिससे कि सामाजिक चित्त-शुद्धि का आयोजन हो सके। समाज के सामने आज सामाजिक चित्त-शुद्धि का, चित्त को उत्तरोत्तर उन्नत बनाने का बहुत बड़ा काम पड़ा है।

ज्ञानियों के हाथ में शिक्षण से स्वतंत्रता

शिक्षण ज्ञानी लोगों के हाथ में था, इसलिए संस्कृत भाषा में विचार की जितनी स्वतंत्रता प्रकट हुई है, उतनी जगत् में और कहीं नहीं। यहाँ तो परस्पर- विरोधी ऐसे छह-छह दर्शन हैं। उपनिषदों के लिए इतना आदरभाव होते हुए भी, **असमंजसमिदं ओपनिषदं दर्शनम्**—इन

उपनिषदों का दर्शन तो गड़बड़ है, ऐसा नि:संकोच कहनेवाले लोग भी यहाँ रहते थे; और उनको प्रत्युत्तर देनेवाले लोग भी यहाँ रहते थे, जो कहते थे कि, **समंजसमिदं सर्वथा**—नहीं भाई, यह तो सर्वथा सुस्पष्ट है। मतलब, यहाँ मुक्तमन से चर्चा चलती थी। आज ऐसा नहीं है। परन्तु देश की उन्नति तो तभी होती है, जब शब्द तत्त्व का सार जानने वाले ज्ञानी लोगों के द्वारा समाज और समाज के बच्चों को प्रशिक्षण मिलता हो।

शान्तिमय क्रान्ति के अग्रदूत

वेद में शिक्षक का वर्णन आता है**—पथिकृद् विचक्षण:**। पथिकृद् यानी पाथ फाइंडर—रास्ता ढूँढ़नेवाला। एक बार रास्ता बन जायेगा, फिर सब लोग उस पर चलेंगे। परन्तु पहले रास्ता ढूँढ़ने का और बनाने का काम शिक्षकों का है। पथिकृद् कौन बनेगा? जो 'विचक्षण' होगा, वही 'पथिकृद' बन सकेगा। विचक्षण यानी चक्षण करनेवाला, चारों ओर देखनेवाला, व्हिजनवाला। ऐसा मनुष्य रास्ता ढूँढ़ता है और नया रास्ता बनाता है। बाद में सबको कहता है कि चलो। तो शिक्षकों का काम शिक्षण के द्वारा समूचे समाज की रचना बदलने का है। शिक्षक शान्तिमय क्रान्ति के अग्रदूत हैं।

शिक्षक के गुण

शिक्षकों का विद्यार्थियों पर प्रेम होना चाहिए, वात्सल्य और अनुराग होना चाहिए। शिक्षकों के लिए **'शिष्यदेवो भव'**—शिष्य ही उनके देव हैं और उनकी भक्तिपूर्वक एकनिष्ठा से सेवा करना ही शिक्षकों का कर्तव्य हैं।

विद्यार्थियों के लिए गुरुसेवा और शिक्षकों के लिए विद्यार्थी-सेवा पर्याप्त ध्येय, एकमात्र ध्येय और अनन्य ध्येय होना चाहिए। और दोनों मिलकर परमेश्वर की सेवा कर रहे हैं, ऐसी अनुभूति आनी चाहिए।

शिक्षकों में दूसरा गुण चाहिए कि उनको नित्य-निरन्तर अध्ययनशील होना चाहिए। रोज नया-नया अध्ययन जारी रहे और ज्ञान की वृद्धि सतत होती चली जाये। थोड़ा-सा भी समय मिला तो अध्ययन करते रहना चाहिए। अध्ययन के लिए चित्त खुला रहना चाहिए। किसी भी विचार को

अपना विरोधी या अनुकूल न मानकर उसका अध्ययन करना चाहिए। भारत में अनेक महापुरुष हो गये। उनके ग्रंथ पढ़कर जो सार लेना हो, वह लेना चाहिए।

शिक्षकों को किसी चीज में विश्वास हो तो वह ज्ञान में होना चाहिए। शंकराचार्य को पूछा गया कि ‘आप जिनको ज्ञान देते हैं, वे यदि आपका उपदेश नहीं समझेंगे तो आप क्या करेंगे?’ तो उन्होंने कहा, 'दुबारा समझाऊँगा, तीसरी बार समझाऊँगा और उससे भी अधिक दफा समझाता रहूँगा। मेरा शस्त्र ही समझाना है। जब तक वह नहीं समझता तब तक मैं समझाता रहूँगा। मैं कभी हारनेवाला नहीं हूँ।‘ जैसे शंकराचार्य ने ज्ञान-प्रसार पर विश्वास रखा, वैसे शिक्षक का विश्वास ज्ञान-शक्ति पर होना चाहिए। शिक्षक को ज्ञान-समुद्र होना है। उसको ज्ञान की उपासना करनी है। अगर शिक्षक में वात्सल्य है और ज्ञान नहीं है तो वे उत्तम माता बन सकते हैं, परन्तु गुरु नहीं। और यदि प्रेम-वात्सल्य नहीं है परन्तु तटस्थता है और ज्ञान की साधना चलती है तो वे तत्त्वज्ञानी, विचारक या निवृत्तिनिष्ठ बन सकते हैं। देश को उनका बड़ा लाभ मिल सकता है, लेकिन वे गुरु नहीं बन सकते। गुरु के लिए निरन्तर चिन्तनशीलता, ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ अपने शिष्यों के लिए अत्यन्त वात्सल्य और प्रेम भी होना चाहिए।

ज्ञान पर भरोसा रखनेवालों पर मेरा भरोसा

मेरी श्रद्धा नम्बर एक में भगवान पर है। नम्बर दो में शिक्षकों पर है। नम्बर तीन में जनता पर। भगवान ने हरएक में रहम रखा है। मनुष्य किसी का भी दु:ख नहीं देख सकता, यह भगवान की मनुष्य को बहुत बड़ी देन है। इसलिए मेरी श्रद्धा भगवान पर नम्बर एक में है। शिक्षकों पर मेरी श्रद्धा है, क्योंकि उनका आधार ज्ञान है। उनकी सत्ता ज्ञान-सत्ता है। समझाना, बुझाना, रिझाना सब ज्ञान के द्वारा। यह कल्याणकारी शक्ति है। दूसरे साधनों पर मेरा भरोसा नहीं। शिक्षक लोग गाँव के 'फ्रेंड-फिलासफर-गाईड' (मित्र, ज्ञानदाता और मार्गदर्शक) बनें। प्रेम से बच्चों को सिखायें। निरन्तर कुछ-न-कुछ अध्ययन करते रहें। अखण्ड ज्ञान की उपासना हो। ये तीन काम शिक्षक करेंगे, तो उनकी शक्ति बढ़ेगी और उससे देश को लाभ होगा और जो भी ज्ञान लोगों को देंगे, वह भगवान का दिया हुआ है, हमारा कुछ नहीं समझकर निरहंकारता से सेवा करेंगे, तो अन्तरसमाधान लेकर जायेंगे।

गुरु और शिष्य दोनों मिलकर जो चिन्तन, मनन और सह-आचरण करते हैं, उसमें से दुनिया को अनुभवयुक्त ज्ञान मिलता है। जहाँ विचार-मंथन और प्रयोग दोनों एक हो जाते हैं, घुलमिल जाते हैं, उसे नयी तालीम कहते हैं। जहाँ कुछ विचार-मंथन चलता है, परन्तु उसे आचरण का आधार नहीं मिलता है वहाँ पर पुरानी तालीम चलती है, जो आज सर्वत्र चल रही है। आचरण है, प्रयोग है, परन्तु विचार-मंथन, चर्चा आदि नहीं हैं, तो वह कर्मयोग है। जो आज असंख्य किसान सच्चाई से कर रहे हैं। परन्तु इधर से किसान और उधर से तत्त्वज्ञानी दोनों मिलकर जो चीज बनती है, वह है नयी तालीम के शिक्षक और विद्यार्थी!

तीसरी बात शिक्षक तटस्थ हों। तटस्थ-वृत्ति के बिना सृष्टि-रहस्य पाना शक्य नहीं। चित्रकार को भी अपने चित्र की कल्पना नजदीक से ठीक नहीं आती है। उसके लिए उसको दूर जाकर देखना पड़ता है। शिक्षकों को दलीय राजनीति से दूर रहना चाहिए। इन दिनों विद्यार्थियों के दिमाग पर राजनीति का बड़ा आक्रमण है और वे विद्यार्थी हैं शिक्षकों के हाथ में। अगर शिक्षक भी राजनीति में रंगे हों और उनके सिर पर राजनीति का वरदहस्त हो, तब तो समझना चाहिए कि गंगामैया समुद्र की शरण गयी, लेकिन समुद्र ने उसका स्वीकार नहीं किया, तो जो हालत गंगा की होगी, वही हालत विद्या की होगी। विद्या शरण गयी आचार्यों के, परन्तु उन्होंने उसका स्वीकार नहीं किया, राजनीति के खयाल से ही सोचा। शिक्षकों का बहुत बड़ा अधिकार है, उनकी तो एक आध्यात्मिक हैसियत है। इसीलिए उनको राजनीति से मुक्त रहना चाहिए। शिखक के चित्त पर, बुद्धि पर और कोई बोझा नहीं होना चाहिए। न्यायाधीश पर किसी पक्ष की सत्ता नहीं चलती, वैसे ही शिक्षकों की हैसयित है। अस्पताल में डॉक्टर यदि पक्षीय राजनीति का खयाल करके रोगी की पक्षपातपूर्ण सेवा करेगा तो वह डॉक्टर अस्पताल की सेवा के लिए नालायक है। अगर शिक्षक राजनीति में पड़े हुए हैं तो समझना चाहिए कि वे कर्ता नहीं हैं, कर्म हैं। उनको करनेवाले दूसरे कर्ता हैं, और वे उनके कर्म हैं। उनके हाथ में कर्तृत्व नहीं। वे कर्मणि प्रयोग हैं, कर्तरि नहीं। उस हालत में शिक्षक का अपना जो स्थान है, वह नहीं रहेगा।

अपनी हैसियत न भूलें

शिक्षकों को अपनी हैसियत पहचाननी चाहिए। शिक्षकों को **कोऽहम्** (मैं कौन हूँ) का जवाब ढूँढ़ लेना चाहिए। शिक्षक होने के साथ-साथ ‘दूसरा भी कुछ' होने की स्थिति रहेगी तो शिक्षक के काम को न्याय नहीं मिलेगा। शिक्षक को अनुभूति होनी चाहिए कि मैं सबसे पहले शिक्षक हूँ। शिक्षक का काम श्रेष्ठ काम है। देश की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति के समान बच्चे उनके हाथ में सौंपे जाते हैं। उन्हें जो कुछ संस्कार, विद्या, मार्गदर्शन मिलेगा, वह शिक्षकों के जरिये मिलेगा। इससे ज्यादा महत्त्व का दूसरा कोई काम हो नहीं सकता। इसलिए शिक्षक को अगर अपनी हैसियत समझनी है तो शिक्षक-धर्म के अनुसार उन्हें कुछ चीजें छोड़नी होंगी।

आजकल शिक्षक अपनी तनख्वाह बढ़ाने की मांग करते हैं, उन्हें इस तरह की मांग नहीं करनी चाहिए। वे गुरु हैं, अपनी गुरुता का उन्हें स्मरण रहना चाहिए। वे अपनी दयनीय हालत से ऊपर उठें।

आज तो शिखक की हैसियत ही कया है? जैसे खेत में बोते वक्त किसान बैल को पूछता नहीं कि 'अरे, बैलभाई, हम कया बोयेंगे?' वह तो किसान ही तय करेगा। वैसे ही भारतभर के शिक्षक आज ‘बैलभाई' हो गये हैं। पढ़ाने के विषय, उसके घण्टे, अभ्यास-क्रम आदि सब ऊपर से तय होकर आता है। शिक्षक सरकार से वेतन ले, उसमें मेरा कोई विरोध नहीं। सरकार के पास जो पैसा है, वह जनता का है और उसे जनता के काम में खर्च करना सरकार का कर्तव्य ही है। परन्तु सरकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए।

आज इस तरह शिक्षकों की हैसियत बैल की है। उन्हें 'नौकर' की 'पदवी' प्राप्त हो गयी है। उसमें न तो उनकी बुद्धि का विकास होता है, न राष्ट्र बनता है। इसको हमें बदलना है। यही शिक्षा में क्रान्ति है। परन्तु यह तब होगा, जब शिक्षक समझेंगे कि भारत की समाज-रचना बदलना यह हमारा धर्म है, हमारा कर्तव्य है। इसीलिए शिक्षकों को राजनीति से अलग रहना चाहिए। राजनीति का अध्ययन होना चाहिए, लेकिन मुख्य चिन्ता होनी चाहिए ‘जय जगत्’। सारी दुनिया का भला करने की एक राजनीति है, उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए। उसी में शिक्षकों का गौरव है।

शिक्षक सर्वोत्तम सलाहकार

एक प्राचीन वचन है कि अत्यन्त आप्ततम कौन है, जिसकी सलाह मौके पर लेनी चाहिए? तो उत्तर मिला कि तटस्थ गुरु की सलाह लेनी चाहिए। मनुष्य के खानगी जीवन में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, उस समय उसे सलाह की जरूरत पड़ती है। तब माता-पिता, भाई, पति-पत्नी, मित्र की सलाह वह लेता है, परन्तु शिक्षकों की कभी नहीं लेता। इसका अर्थ यही हुआ कि हमने एक अच्छे सलाहकार को खो दिया। जो हमें प्रेम करता हो, ज्ञानी हो और तटस्थ भी हो, वह सच्चा सलाहकार हो सकता है। ऐसा व्यक्ति शिक्षक ही हो सकता है। इसलिए **शिक्षक में तीन गुणों का समुच्चय होना चाहिए—प्रेम, ज्ञान और तटस्थता**।

गुरुमुखि नादं गुरुमुखि वेदं। नाद और वेद का अपना एक महत्त्व है। फिर भी जब वे गुरु के मुख से आते हैं, तब उनका महत्त्व बढ़ जाता है। ध्यान से जो तालीम मिलती है उसे 'नाद' और शास्त्रों के ज्ञान को 'वेद' कहा जाता है। गुरु के मुँह से ही नाद और वेद का ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। वह ज्ञान देने के लिए गुरु की अपनी भी एक जिम्मेवारी होती है।

विद्यार्थियों से आत्मीय सम्पर्क हो

परन्तु आज शिक्षकों की क्या हालत है? जो विद्यार्थी आते हैं, उनकी हाजिरी और जो नहीं आते उनकी गैर-हाजिरी लिख देते हैं। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि जो हाजिर नहीं उनकी अनुपस्थिति का क्या कारण है? उस कारण को मिटाया जा सकता है या नहीं? इसका मतलब यह हुआ कि वे विद्यार्थियों को नहीं, सिर्फ एक जमात को पुस्तक पढ़ाते हैं। इसीलिए उनका विद्यार्थियों से सीधा, नजदीक का सम्बन्ध नहीं आता।

शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर पुराने मूल्यों के दोष निकाल फेकें और गुण रखें। इस विवेक-पद्धति का नाम ही शिक्षा है। सारासार-विवेक ही शिक्षण है। विवेकपूर्वक समाज-संशोधन के लिए ही गुरु-शिष्य का समाज बनता है। हमारा कर्तव्य है कि आधुनिक सभ्यता और पुरानी संस्कृति के दोष छोड़ दें और गुण ग्रहण करें।

शिष्यापराधे गुरोर्दंड:

विद्यार्थियों के बारे में आजकल बहुत शिकायतें आती हैं। अपने यहाँ एक सूत्र में इसका उत्तर दे दिया है—**शिष्यापराधे गुरोर्दंड:।** यदि शिष्य से कोई अपराध हुआ है तो गुरु को शासन (दण्ड) हो। **विद्यार्थियों के कितने भी अपराध हों, उसके गुनाहगार शिक्षक हैं**। यह अपने यहाँ का न्याय है। अगर तालीम ठीक रही और विद्यार्थियों को शिक्षा में कोई 'पर्पज' (लक्ष्य) मालूम हुआ तो वे अध्ययन अच्छा करेंगे, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन आज सारी शिक्षा 'पर्पजलेस' है। सीखकर क्या करना है, उनको मालूम नहीं। इधर शिक्षकों का विद्यार्थियों से सम्पर्क ही नहीं रहता। जीवन में जो उत्तम सलाहकार हो सकता है, उसके साथ वर्ग के बाहर कुछ सम्पर्क ही नहीं। वास्तव में होना उलटा चाहिए।

शिक्षक वानप्रस्थाश्रमी हो

आजकल २०-२२ साल का लड़का बी. ए., एम. ए. होते ही शिक्षक बन जाता है। फलस्वरूप उसमें तीन दोष आते हैं :

१. उसका गृहस्थाश्रम चलता है, बाल-बच्चे होते हैं। उन सबकी चिन्ता करनी पड़ती है और उनके निर्वाह के लिए यथेष्ट तनख्वाह नहीं मिलती। इसलिए बेचारा रात-दिन अपनी घर-गृहस्थी की फिक्र में ही पड़ा रहता है। तब वह विद्यार्थियों की चिन्ता कैसे कर सकता है?

२. वह बिल्कुल अनुभवहीन होता है। उसे दुनिया के क्षेत्र में पुरुषार्थ प्रकट करने का अवसर ही अब तक नहीं मिला है। इसलिए वह सही तालीम दे भी नहीं सकता। वह वाणिज्य-शास्त्र पढ़ाता है, पर उसमें वाणिज्य करने की अक्ल तो होती नहीं। उसे तीन हजार रुपये देकर आप व्यापार करने भेजिये, तो वह दो हजार रुपये गँवाकर लौटेगा। मुनाफा तो दूर रहा, मूल पूँजी भी नदारद! वह राजनीति पढ़ाता है, पर उसे राजनीति का क-ख-ग भी मालूम नहीं होता। इसलिए वह इधर-उधर की दो-चार बातें कहकर बड़े-बड़े नेताओं की निन्दा-स्तुति करता है।

३. शिक्षक जवान होता है, वह अपने विकारों पर काबू पाया हुआ नहीं होता। ऐसे त्रिदोषयुक्त मनुष्य को शिक्षक बना देने से तालीम कैसे चलेगी? इसलिए अगर हमें सफल तालीम की योजना

करनी है, तो शिक्षकों को वानप्रस्थी होना चाहिए दोनों पति-पत्नी वानप्रस्थी शिक्षक रहेंगे तो लड़कों को माता-पिता मिल जायेंगे।

आज होता यह है कि मैट्रिक में फेल हुआ कोई लड़का लिया जाता है। उसको बुनियादी तालीम के अनुभव दिलाते हैं और तब वह शिक्षक के तौर पर अपने जीवन का आरम्भ करता है। उसके साथ-साथ वह गृहस्थ के तौर पर अपने गृह-जीवन का भी आरम्भ करता है। पर ये दो आरम्भ इतने महान हैं और इतनी बड़ी जिम्मेवारी के हैं कि दोनों एक साथ उठाये जा सकते हैं क्या? इस पर हमें सोचना चाहिए।

बहुत सालों से मैं इस विषय पर चिन्तन करता आया हूँ। आखिर में मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि शिक्षकों का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही है। संन्यासी आदर्श हो सकता है, परन्तु संन्यासी शिक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सारी दुनिया के लिए है। उसका मुक्त विहार है। केवल विद्यार्थियों के लिए उसका जीवन नहीं हो सकता। दूसरी ओर से ब्रह्मचर्याश्रमी स्वयं ही विद्यार्थी है इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम को भी शिक्षक का आश्रम नहीं कह सकते। गृहस्थाश्रम अनुभव-सम्पादन का आश्रम है। गृहस्थ दूसरे कर्तव्यों से बद्ध है और उच्च ध्येय के लिए भी वह अधूरा पड़ता है। गृहस्थाश्रम के साथ जो शिक्षण दिया जायेगा वह तो माता-पिता के द्वारा अपने बच्चों को शिक्षण दिया जाता है, वैसा घरेलू होगा। उसमें पाँच-पचीस माताओं के बच्चे इकट्ठे करके किसी एकआध माँ के पास रखे जायें और बाकी सब माताएँ काम पर जायें, ऐसी भी एक योजना बनायी जा सकती है। परन्तु ऐसी तालीम समाज का रूप बदलने में समर्थ नहीं होगी, वह तो समाज का जो रूप बँधा हुआ है उसी पर निर्भर और उसमें इधर-उधर थोड़े सुधार करनेवाली तालीम होगी। तालीम वानप्रस्थियों के हाथ में होगी तो उनको ज्यादा तनख्वाह की भी जरूरत नहीं रहेगी, क्योंकि परिवार की चिन्ता करनेवाले लड़के बड़े होंगे।

तालीम ऐसे अनुभवियों के ही हाथों में होनी चाहिए, जो अनुभव-सम्प्रदान-समर्थ हैं और जिनकी व्यक्तिगत शुद्धि हो चुकी है। वे ही क्रान्ति का झण्डा उठा सकेंगे।

इसलिए तालीम का काम वानप्रस्थों के हाथों में होना चाहिए। वानप्रस्थाश्रम की स्थापना करने की हिम्मत और हिकमत अगर हममें हो, तो नयी तालीम जिस तरह हम चाहते हैं, उस तरह होगी। नहीं तो मुझे कोई आशा नहीं।

जिस उम्र में शरीर, मन, बुद्धि, वाणी और सारी इन्द्रियाँ जीर्ण हो गयी हों, उस उम्र में वानप्रस्थ नहीं होना चाहिए, परन्तु वास्तव में तो जब एक अनुभव मिल चुका हो और वह दूसरों को देने की योग्यता आयी है, ऐसा महसूस हो तब वानप्रस्थ होना चाहिए। विषय-वासनाएँ शुद्ध हो गयी हों और शरीर, मन, बुद्धि आदि इन्द्रियाँ कार्यक्षम हों, उस उम्र में वानप्रस्थ लेना चाहिए। ऐसा वानप्रस्थी ही शिक्षक हो सकता है और वही प्रचारक भी बन सकता है।

जिस महाजन ने सत्यनिष्ठा से करोड़ों का व्यापार चलाया, वही बच्चों को व्यापार सिखा सकेगा। हरएक के जीवन में शिक्षक बनने का मौका आना चाहिए। राजनीति सिखाने के लिए पण्डित नेहरू को मौका मिलना चाहिए। वाणिज्य सिखाने के लिए घनश्यामदासजी बिड़ला को मौका मिलना चाहिए।

इस तरह शिक्षक विद्यार्थी का भक्त बने। विद्यार्थियों को यह महसूस हो कि यह हमारे लिए ही खा रहा है और सो रहा है और सभी कुछ हमारे लिए ही कर रहा है। यह हमारे जीवन के साथ ओतप्रोत है। जब विद्यार्थी शिक्षक के बारे में ऐसा अनुभव करेंगे और शिक्षक विद्यार्थियों को अपने जीवन के अनुभवों के प्रकाश में शिक्षा देगा, तभी इन्द्रिय-निग्रह और विवेक के बारे में विद्यार्थी समझ सकेंगे। तो शिक्षक विद्यार्थी-परायण, विद्यार्थी शिक्षक-परायण, दोनों ज्ञान-परायण और ज्ञान सेवा-परायण, ऐसी शिक्षण की योजना होनी चाहिए।

युवक भी जितेंद्रिय हो सकते हैं

जो युवक शिक्षक बन ही चुके हैं, उनको मैं क्या सलाह दूँ? वे नौकरी करना चाहते हैं और शिक्षक की प्रतिष्ठा भी रखना चाहते हैं, तो उनको इन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास करना चाहिए। जो परिपक्व हैं, उन्हें तो करना ही चाहिए, लेकिन जो जवान हैं, उनको भी इसका अभ्यास करना चाहिए। विषय-वासनाग्रस्त मनुष्य शिक्षक होने का अधिकारी नहीं हो सकता। जवानों में

विषयासक्त होने की जितनी शक्ति होती है, उतनी ही शक्ति विषय-वासना को वश में करने की भी होती है। किसी एक उदात्त आशय के लिए विषय-वासना से मुक्त हुए जितने जवान मिलेंगे, सम्भवत: उतने वानप्रस्थ भी नहीं मिलेंगे। उचित ध्येय की प्राप्ति के लिए एक मस्ती होती है। वह मस्ती प्रौढ़ों में दुर्लभ है। उस उदात्त ध्येय के लिए जवान शिक्षक संयम से रहेंगे तो उनके काम की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

शिक्षक मेघ नहीं, माली बनें

शिक्षा के बारे में मेरे अपने विचार हैं, जिनमें बहुत से तो आज के चालू विचारों से विपरीत हैं। मेरा एक विचार यह है कि एक माता-पिता जितने बच्चों को जन्म दे सकते हैं, उससे ज्यादा विद्यार्थियों को शिक्षक पढ़ा नहीं सकता। क्या माँ को दस बच्चों की प्रसव-वेदना सहन होगी? नहीं। फिर चार-पाँच-छह, बस या सात काफी हैं। ५० विद्यार्थियों को शिक्षक सिखाये तो वह 'शिक्षक' नहीं, 'व्याख्याता' कहा जायेगा। मेघ का बरसना और बात है, और पेड़ों को पानी दे-देकर बढ़ाना और बात। माली का काम अलग है, बारिश का काम अलग है। आम सभा में बारिश होती है, जिसको जितना पानी चाहिए, उतना ले लिया, बाकी का बह गया। लेकिन माली देखेगा कि किस पेड़ को कितना पानी चाहिए। पानी व्यर्थ जाये, यह वह सहन नहीं करेगा। इसलिए एक शिक्षक के पास दस-पाँच विद्यार्थी काफी हो जायेंगे।

शिक्षक सेतु बने

जब इन्सान का दिमाग ठण्डा और दिल गरम रहता है, तब वह तरक्की करता है। दोनों ठण्डे हों तो सारा मामला ही ठण्डा हो जायेगा और दोनों गर्म हों, तो सब कुछ जल जायेगा। पुरानी पीढ़ी के लोगों के दिल और दिमाग दोनों ठण्डे होते हैं और नयी पीढ़ी के दोनों गर्म। इसलिए न इनका मामला ठीक रहता है और न उनका। दोनों के बीच बेहद फासला हो जाता है। इसलिए होश भी हो और जोश भी हो। होश तब होता है जब दिमाग ठण्डा रहता है और जोश तब, जब दिल गर्म होता है। इसलिए पुरानी पीढ़ी का ठण्डा दिमाग और नयी पीढ़ी का गर्म दिल, दोनों इकट्ठा हो जायें तो समाज की तरक्की की रफ्तार बहुत बढ़ेगी और दोनों के बीच का फासला कुछ कम हो जायेगा।

सवाल यह है कि यह कैसे सधे? पुरानी पीढ़ी को यह हर्गिज नहीं सधेगा। कोशिश करने पर भी वे अपने दिल को गर्म नहीं कर पायेंगे। बूढ़ों का दिमाग ठण्डा होता है और आखिर में जिस्म भी ठण्डा पड़ जाता है। नयी पीढ़ी को अपना दिमाग ठण्डा रखना मुश्किल मालूम होता है। यह शिक्षकों का काम है कि पुरानी पीढ़ी का दिमाग और नयी पीढ़ी का दिल, दोनों को जोड़ दे। दुनिया को और समाज को उस्तादों की इसीलिए जरूरत है। अगर उस्ताद (शिक्षक) न रहे तो पुरानी और नयी पीढ़ी को जोड़नेवाला कोई नहीं रह जायेगा। उस्तादों पर यह जिम्मेवारी है कि पुरानी पीढ़ी के तजुरबे नयी पीढ़ी के पास पहुँचा दें और नयी पीढ़ी का जोश कायम रखें। युवकों में जोश, उत्साह तो होता ही है, उनको होश, धैर्य प्राप्त करना चाहिए।

मैंने तो वृद्ध-युवा-सम्बन्ध को धनुष और बाण का सम्बन्ध माना है। दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। धनुष नहीं होगा तो बाण किसके सहारे फेंका जायेगा। और बाण नहीं होगा तो आगे जायेगा ही कौन? **वृद्ध धनुष है और युवक बाण है। ऐसा वृद्ध-तरुण-योग होना चाहिए**।

शिक्षकों के लिए यह जो खयाल है कि उन्हें कोई सामाजिक कार्य नहीं करना चाहिए, यह बिल्कुल गलत खयाल है। यह ठीक है कि शिक्षक झगड़ेवाले, राजनैतिक काम न करें। परन्तु समाज को बदलने का, बनाने का काम वे नहीं करेंगे तो कैसे चलेगा? शिक्षक के सामने बच्चा खड़ा है, जिसका पेट पीठ से जुड़ा हुआ है। क्या वह उसको व्याख्यान देगा कि ‘बच्चो, दूध में उत्तम कॅलरी है, वह सुपाच्य है, इसलिए केवल रोटी या चावल से ही कुल कॅलरी हासिल न करें, कुछ कॅलरी दूध से भी हासिल हो'। तो वह बच्चा यह सुनकर क्या करेगा? ऐसी हालत में क्या शिक्षक का काम नहीं है कि वह गाँव-गाँव जाकर लोगों को समझाये?

उभयान्वयी अव्यय

पुराने और नये समाज को जोड़नेवाली कड़ी शिक्षक ही बन सकता है। शिक्षक का दोनों समाजों के साथ सम्बन्ध है, इसलिए वह पालक और बालक के बीच सेतु होगा। इसीलिए मैंने उसको **'उभयान्वयी अव्यय'** नाम दिया है। अव्यय यानी जो अपनी स्थिति को कभी भी विकारी नहीं होने देता। नाम-क्रियापद को विकार लगता है, परन्तु अव्यय निर्विकार है। यानी शिक्षक भी

निर्विकार है और इसीलिए वह दोनों समाजों को जोड़नेवाला पुल है। वही उसकी मुख्य भूमिका है।

मजदूर और प्रोफेसर एक ही व्यक्ति में

शिक्षितों को अशिक्षित और अशिक्षितों को शिक्षित बनाने का काम शिक्षकों का है। आज की विद्या कूड़ा करनेवाली है, जबकि **सच्ची विद्या तो कूड़ा दूर करेगी। मजदूर और प्रोफेसर भी हमें एक ही व्यक्ति में निर्माण करना है**। आदर्श समाज में किसान उपनिषद गाते हुए काश्त करेगा। नयी तालीम यानी समाज में जो अनेक भेदासुर उत्पन्न हुए हैं उनको हटाने की तालीम। इसीलिए भावी समाज शिक्षकों के हाथ में है। दूरदृष्टि और समीपकृति यह बात ध्यान में रखनी होगी। आज के समाज का बाह्यांग एकदम बदल नहीं सकेंगे यह पहचानकर अपनी गति चींटी की रखकर दृष्टि विहंग की रखना।

शिक्षक 'सच्चिदानन्द' बनें

आज समाज में आत्मज्ञान, विज्ञान और साहित्य—ऐसी त्रिविध शक्ति पड़ी है। विज्ञान का सम्बन्ध 'सत्' के साथ है। हमारा शरीर, यह दृश्य जगत्, पिण्ड, ब्रह्माण्ड आदि समस्त दृष्टि उस क्षेत्र में आ जाती है। उसका पृथक्करण करके उसकी थाह लेने का काम विज्ञान का है। विज्ञान संहारक शस्त्रास्त्र ढूँढ़े तो उसकी शिकायत नहीं की जा सकती। छोटा बच्चा वस्तु की तोड़-फोड़ से ज्ञान-प्राप्ति करता है, संशोधन करता है, वैसे ही विज्ञान भी विश्लेषण द्वारा विश्व की थाह लेना चाहता है।

आत्मज्ञान का सम्बन्ध 'चित्' तत्त्व के साथ है। वह चैतन्य की खोज करना चाहता है। मनुष्य सब कुछ जानता है, अपने को ही नहीं जानता। उसका दूर-दूर तक संचार है, सिर्फ अपने में ही उसका प्रवेश नहीं। वहाँ उसकी गाड़ी रुक जाती है। वहाँ से आगे बढ़ने का काम आत्मज्ञान का है। विज्ञान का उपयोग कैसे किया जाये, इसका विवेक करना आत्मज्ञान सिखायेगा।

इस तरह विज्ञान का प्रवेश 'सत्' में और आत्मतत्त्व का प्रवेश चैतन्य में, 'चित्' में है। साहित्य इन दोनों में जो आनन्द का अंश है, उसको प्रस्तुत करता है। सत् की और चित्-शक्ति की

खोज हो, परन्तु उससे मानव-जीवन में आनन्द प्रकट न होता हो तो उसका कया उपयोग? इसलिए उन दोनों का आनन्दांश साहित्यिकों द्वारा प्रकट होता है। साहित्य से मनुष्य का जीवन-परिवर्तन होता है।

इन तीनों शक्तियों का गहरा अध्ययन करके उसे आगे ले जाने का काम शिक्षक का है। इस तरह का काम 'सच्चिदानन्द' का है। शिक्षक का कार्य इतना महत्त्व का और आकर्षक है। इन तीनों शक्तियों का उपयोग करके समाज को आगे ले जाने का क्रान्तिकारी काम शिक्षकों का है।

प्रश्न : ज्ञान देना ही आचार्य का काम है?

उत्तर : ज्ञान देने से दिया नहीं जाता। वह तो स्वयं प्राप्त करना होता है। आचार्य तो केवल निर्देश करता है। इसी वास्ते तो उसको 'देशिक' कहते हैं। ज्ञान कहीं से भी मिल सकता है। आँखें खुली होनी चाहिए।

शिक्षकों की ट्रेनिंग

यहाँ प्रशिक्षण के लिए जो शिक्षक आते हैं, उनके लिए कुछ अभ्यासक्रम रखा जाता है। वे व्याख्यान सुनते हैं। लेकिन मैं तो उन्हें पूरे सालभर में, एक ही व्याख्यान दूँगा और कहूँगा कि “अब काम में लग जाओ!” और रोज के काम में जो भी मुश्किलें आयें, उनकी शाम को चर्चा करना चाहूँगा। बी. ए., एम. ए. वगैरह की जो तालीम अब तक उन्होंने पायी है, उसमें तो वे व्याख्यान ही सुनते थे। यहाँ भी वे व्याख्यान ही सुनते रहेंगे, तो सच्ची तालीम नहीं पा सकेंगे। मैं उनसे कहूँगा कि “आपको सरकार की ओर से जो कुछ छात्रवृत्ति मिलती है, उसे आप घर भेज दें, लेकिन यहाँ आप एक माह तो अपनी रोटी कमाकर दिखायें!” “क्या आप दिनभर में दस-बारह गज बुन लेते हैं?” ऐसा मैं उनसे पूछूँगा। इस पर यदि वे कहेंगे कि “प्रत्यक्ष बुनना तो हम नहीं जानते, लेकिन बुनाई का उसूल जानते हैं”, तो में कहूँगा, “खाने का उसूल तो आप जानते हैं, फिर रोज खाते क्यों हैं?” मतलब यह कि हमारी विद्या केवल शब्द-विद्या नहीं होनी चाहिए, वह वीर्यवती होनी चाहिए।

२. केवल शिक्षण

एक देश-सेवाभिलाषी से किसी ने पूछा—“कहिए, अपनी समझ से आप कौन-सा काम अच्छा कर सकते हैं?”

उस तरुण सज्जन ने उत्तर दिया—“मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षण का काम कर सकता हूँ और उसका मुझे शौक है।”

“यह तो ठीक है, कारण अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं?”

“जी नहीं! मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आयेगा; मैं सिर्फ सिखा सकूँगा और मुझे विश्वास है कि यह काम मैं अच्छा कर सकूँगा।”

“हाँ-हाँ, अच्छा सिखाने में क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकेंगे? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे?”

“नहीं, वह सिखाना नहीं आता।”

“तब सिलाई? रँगाई? बढ़ईगीरी?”

“नहीं, यह सब कुछ नहीं।”

“रसोई बनाना, पीसना वगैरह घरेलू काम सिखा सकेंगे?”

“नहीं, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नहीं। मैं केवल शिक्षण का..."

“भाई, जो-जो पूछा जाता है, उसी को ‘नहीं-नहीं' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल शिक्षण का काम कर सकता हूँ।‘ इसके माने क्या हैं? बागवानी सिखा सकेंगे?”

देश-सेवाभिलाषी ने जरा चिढ़कर कहा—“यह क्या पूछ रहे हैं? मैंने शुरू में ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य सिखा सकता हूँ?”

प्रश्नकर्ता ने जरा मजाक से कहा—“यह ठीक कहा। अब आपकी बात कुछ तो समझ में आयी। आप ‘रामचरितमानस’ जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं?”

अब देश-सेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और उनके मुँह से कुछ ऊटपटांग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्ता बीच में ही बोल उठा—“शान्ति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे?”

अब तो हद हो गयी। आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो। आग भभकने को ही थी कि प्रश्नकर्ता ने तुरन्त उसे पानी डालकर बुझा दिया। “मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे। इसका भी जीवन में थोड़ा-सा उपयोग है। बिलकुल नहीं, ऐसा नहीं। खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं?”

“अब कोई नयी चीज सीखने का हौसला नहीं है। फिर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नहीं, क्योंकि आज तक हाथ को ऐसी कोई आदत ही नहीं।“

“माना, इस कारण सीखने में कुछ ज्यादा समय लगेगा, लेकिन इसमें न आने की क्या बात है?”

“मैं तो समझता हूँ कि यह काम मुझे आयेगा ही नहीं। पर मान लीजिए, बड़ी मेहनत करने से आया भी तो मुझे इसमें बड़ी झंझट मालूम होती है। इसलिए मुझसे यह नहीं होगा, ऐसा ही आप समझिए।“

“ठीक है, जैसे लिखना सिखाने को आप तैयार हैं, वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं?”

“हाँ, जरूर कर सकता हूँ; लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहने का काम भी उबाऊ ही होगा, फिर भी उसके करने में कोई आपत्ति नहीं है।”

यह बातचीत यहीं समाप्त हो गयी। नतीजा इसका क्या हुआ, यह जानने की हमें जरूरत नहीं।

शिक्षकों की मनोवृत्ति समझने के लिए यह बातचीत काफी है।

आज के शिक्षक का चित्र

आज के शिक्षक का अर्थ है—(१) किसी तरह की भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य, (२) कोई काम की नयी चीज सीखने में स्वभावत: असमर्थ और क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ, (३) केवल शिक्षण का घमण्ड रखनेवाला, (४) पुस्तकों में गड़ा हुआ और (५) आलसी जीव।

केवल शिक्षा का मतलब है, जीवन से तोड़कर अलग किया हुआ मुर्दा-शिक्षण! और **शिक्षक का अर्थ है 'मृतजीवी' मनुष्य**!

बुद्धिजीवी और मृतजीवी में फर्क

'मृतजीवी' को ही कोई-कोई 'बुद्धिजीवी' कहते हैं। पर वह वाणी का व्यभिचार है। बुद्धिजीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवन की ज्योति जगाकर दिखाते हैं। गीता में बुद्धिग्राह्य जीवन का अर्थ अतीन्द्रिय जीवन बतलाया है। जो इन्द्रियों का गुलाम है, जो देहासक्ति से भरा है, वह बुद्धिजीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गयी है, वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है और वैसा जीवन जीनेवाला है 'मृतजीवी'। 'केवल शिक्षण' पर जीनेवाले जीवन विशेष अर्थ में मृतजीवी हैं। इन केवल शिक्षण पर जीनेवालों को मनु ने 'मृतकाध्यापक' या 'वेतन-भोगी' शिक्षक का नाम देकर, श्राद्ध के काम में उनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत-पूर्वजों की स्मृति को जिन्दा करना होता है। जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग?

आचार्य की व्याख्या

शिक्षकों को पहले आचार्य' कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान। स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला ही आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्रों का निर्माण हुआ है। आज हिन्दुस्तान की नयी रचना करनी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान शिक्षकों के बिना यह सम्भव नहीं।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और उसकी व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग, निष्प्रभ और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका एकमात्र उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग सुलगाना ही है।

अग्नि की दो शक्तियाँ

पर वह 'अग्नि' होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ हैं, वहाँ अग्नि है। 'स्वाहा' का अर्थ है—'आत्माहुति देने की, आत्मत्याग की शक्ति'। 'स्वधा' का अर्थ है—'आत्म-धारण की शक्ति'। ये दोनों शक्तियाँ राष्ट्रीय शिक्षण में जाग्रत होनी चाहिए। इन शक्तियों के जाग्रत होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब मृत, निर्जीव है, 'कोरा शिक्षण' है।

ऊपर-ऊपर से दिखायी देता है कि अब तक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकों ने बड़ा आत्मत्याग किया है। पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्याग के मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी अनी कसौटी भी है। जहाँ आत्मत्याग की शक्ति होगी, वहाँ आत्मधारणा की शक्ति भी होती है। आत्मधारणा की शक्ति न हुई, तो कोई किसलिए त्याग करेगा? जो आत्मा अपने को खड़ा नहीं रख सकता, वह कूदेगा कैसे? मतलब आत्मत्याग की शक्ति में आत्मधारणा पहले से ही शामिल है। यह आत्मधारणा की शक्ति, 'स्वधा', राष्ट्रीय शिक्षकों ने अभी तक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करने का जो आभास हुआ, वह आभासमात्र ही है। पहले स्वधा, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकों को अब स्वधा-सम्पादन की तैयारी करनी चाहिए।

जीवन का दायित्व लें

शिक्षकों को 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेवारी, जैसी कि किसानों पर होती है, अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियों को भी उसमें उत्तरदायित्वपूर्ण भाग देकर उसके चारों ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए।

एकाआध घण्टा शिक्षण के लिए

इसी में थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यास के लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना का ही हो, पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोड़ा समय उपासना के लिए देना पड़ता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए। सारांश, जीवन की जिम्मेवारी के काम ही दिन के मुख्य भाग में करने चाहिए और उन सभी को शिक्षण का ही काम समझना चाहिए। साथ ही एक-दो घण्टे 'शिक्षण के निमित्त' भी देने चाहिए।

आदर्श शिक्षक के पास रहना ही शिक्षण

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन में उतारना राष्ट्रीय शिक्षक का कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहने से उसके जीवन में अपने-आप उसके आसपास शिक्षा की किरणें फैलेंगी और उन किरणों के प्रकाश से आसपास के वातावरण का काम अपने-आप हो जायेगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वत: सिद्ध शिक्षण-केन्द्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने का ध्यान रखना चाहिए शिक्षा की फिक्र रखने के लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए ‘केवल शिक्षण’ की लालच रखने की जरूरत नहीं।

७. विद्यालय की विविध संकल्पनाएँ

१. कौटुम्बिक पाठशाला

विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और शाला में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। इसका उपाय यही है कि एक ओर से घर में शाला का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से शाला में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे। इस लेख में शालीन कुटुम्ब के सम्बन्ध में विचार नहीं करना है, कौटुम्बिक शाला के सम्बन्ध में थोड़ा दिग्दर्शन करना है।

छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उस पर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुम्बिक शाला है। ऐसी कौटुम्बिक शाला के जीवनक्रम के सम्बन्ध में—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएँ इस लेख में करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ईश्वर-निष्ठा संसार में सारवस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम में दोनों समय सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप संत-वचनों की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना में एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(२) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट सम्बन्ध है। इसलिए आहार सात्त्विक होना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइये से रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोई का शिक्षण भी शिक्षा का एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालों के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको रसोई आनी चाहिए। स्वावलम्बन का वह एक अंग है।

(४) कौटुम्बिक पाठशाला को अपने पाखाने साफ करने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसी भी मनुष्य से छुआछूत न मानना ही नहीं है, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यों सहित सबको पाठशाला में स्थान मिलना चाहिए। यह तो है ही, पर 'कौटुम्बिक' पाठशाला में, भोजन में पंक्तिभेद रखना भी सम्भव नहीं। आहार-शुद्धि का नियम रखना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सबेरे ही कर लेने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य के कारण अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठण्डे पानी से करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मों की तरह सोने से पहले का 'सायंकर्म' भी जरूर होना चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षण के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घण्टे तो उद्योग में देने ही चाहिए। उसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं हो सकता। **कर्मातिशेषण** अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(९) शरीर को तीन घण्टे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य खुद करने का नियम रखने के बाद दोनों समय व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। फिर भी एक समय अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने को राष्ट्रीय धर्म तथा प्रार्थना की भाँति नित्यकर्म में गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घण्टा समय देना चाहिए। इस आधे घण्टे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायेगा। कातने का नित्यकर्म यात्रा में या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपड़े में खादी ही इस्तेमाल करनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहाँ तक सम्भव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है। पर मौज के लिए या ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात्रि-जागरण निषिद्ध है। नींद के लिए ढाई पहर (साढ़े सात घण्टे) रखने चाहिए।

(१३) रात को भोजन नहीं करना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा, तीनों दृष्टियों से इस नियम की आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयों में सम्पूर्ण जाग्रति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

२. एक घण्टे की पाठशाला

पठन-वर्ग और श्रवण-वर्ग

इन दिनों अपने भाषणों में मैं 'एक घण्टे' के स्कूल की कल्पना कई बार रखता आ रहा हूँ। गाँव-गाँव में सरकारी नहीं, ग्रामीण स्कूल चले, और रोज सिर्फ एक ही घण्टा, सुबह के समय चले। नयी तालीम यानी एक घण्टे की पाठशाला, ऐसा मेरा समीकरण करीब-करीब बन गया है। यह हुई हमारी सबेरे की मौलिक पाठशाला।

इसी प्रकार एक घण्टे का महाविद्यालय होगा। वह रात को चलेगा। पन्द्रह वर्ष से कम आयु के बच्चे सुबह से स्कूल में जायेंगे। पन्द्रह वर्ष समाप्त होकर जिसे सोलहवाँ लगा, वह महाविद्यालय में जाने का अधिकारी होगा, फिर वह पाठशाला में पढ़ा हो या न पढ़ा हो। पाठशाला में चलेगा—लेखन, वाचन, गणित आदि। और महाविद्यालय में चलेगा—श्रवण, कीर्तन, भजन आदि। बाकी लड़के-लड़कियाँ दिनभर माता-पिता के काम में सहायता करेंगे।

आजकल पाँच-छह साल के छोटे-छोटे बच्चों के लिए जो स्कूल चलते हैं, उसमें समय का उपयोग नहीं होता। बच्चे पाँच-पाँच घण्टे सतत पढ़ते-लिखते रहते हैं, तो उनको ज्यादा बोझ हो जाता है। उन स्कूलों में गरीबों के बच्चे भी जा नहीं सकते। वहाँ जो तालीम मिलती है, वह बेकार होती है; इसलिए हमने सुझाया है कि एक घण्टे का स्कूल चाहिए। वह एक घण्टा बड़ी फजर में सूर्योदय के करीब का रहेगा, जिससे बच्चों को दिनभर काम करने के लिए अवकाश रहेगा और

एक घण्टे के स्कूल में गाँव के कुल बच्चे, गरीबों के भी बच्चे आ सकेंगे। यह सुबह का पठन वर्ग हुआ। इसी तरह शाम को एक घण्टा प्रौढ़ों के लिए श्रवण-वर्ग होगा। शाम के श्रवण-वर्ग में मनोरंजन के तौर पर दुनियाभर की जानकारी दी जायेगी। एक इन्साइक्लोपीडिया ऐसा हो, जो देहात के प्रवचनकर्ता के काम आये। ऐसा एक बहुत बड़ा इन्साइक्लोपीडिया अपने देश में पहले बना है—महाभारत। उसमें मुख्य कहानी के आधार पर बीच-बीच में अनेक जगह भूगोल, इतिहास, राजनीति आदि कई बातें गूँथी गयी हैं। यहाँ तक कि 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सवर्म्' ऐसी कहावत ही पड़ गयी है। ऐसा अगर आज के विज्ञान के साथ सारी जानकारी देनेवाला ग्रंथ हमारे देहातों के लिए बने, तो मेरा समाधान हो जायेगा। यानी शाम के वर्ग में पढ़ना-लिखना नहीं सिखाया जायेगा। रामायण या भागवत जैसी किताबों को पढ़कर सुनाया जायेगा। संतों के चरित्र और गाथाएँ भी सुनायी जायेंगी। गाँव की समस्या सोची जायेगी, खेती इत्यादि के बारे में नयी जानकारी दी जायेगी। भजन, संगीत वगैरह सुनाया जायेगा, इस तरह एक घण्टा श्रवण-वर्ग चलेगा। मनुष्य की जिन्दगीभर के लिए ज्ञान की योजना उसमें हो जायेगी। पढ़ने की अवस्था में सब बच्चे सुबह की स्कूल में जायेंगे। उसके बाद दूसरी अवस्था में शाम के श्रवण-वर्ग में जायेंगे। दोनों वर्गों को छुट्टी की जरूरत नहीं रहेगी, क्योंकि घण्ठाभर स्कूल चलता है। आज जहाँ पाँच-पाँच घण्टे का स्कूल चलता है, वहाँ छह-छह महीने की छुट्टी दी जाती है, इसलिए वह ढाई घण्टे का स्कूल हो गया। यह हमारा रोज का स्कूल होगा, इसलिए भूलने के लिए, विस्मरण के लिए अवसर नहीं मिलेगा। अलावा इसके अनुभव यह है कि जैसे रोज खाते हैं, तो शरीर को पुष्टि मिलती है; जैसे रोज स्नान करते हैं, तो शरीर की शुद्धि होती है; वैसे रोज थोड़ा-थोड़ा अध्ययन करने से मन को तुष्टि मिलती है। इसलिए ज्ञानरूपी भोजन के वास्ते छुट्टी की जरूरत होती ही नहीं। परन्तु पाँच-पाँच घण्टे का स्कूल होता है, इसलिए छुट्टी की आवश्यकता रहती है। इस तरह एक घण्टे का स्कूल बहुत ज्यादा खर्च किये बिना कुल हिन्दुस्तान में एक साल में स्थापित हो सकता है।

एक घण्टे के स्कूल में आपके जो गुरुजी होंगे, वे भी दिनभर अपना काम करते रहेंगे। इसलिए उनको बहुत ज्यादा तनख्वाह देने की जरूरत नहीं पड़ेगी। उनसे गाँव को एक घण्टे की सेवा मिलेगी, तो गाँववाले सालभर में अपनी फसल का एक हिस्सा उनको दे देंगे। इस तरह करीब-

करीब मुफ्त में ही वह स्कूल चलेगा, ऐसा ही माना जाये। उस एक घण्टे के स्कूल में जो पढ़ाई होगी, उसका सम्बन्ध खेती, गृह-उद्योग इत्यादि ग्राम्य जीवन के साथ होगा। घर-घर में रसोई बनती है, खाना चलता है, वह भी तालीम का एक साधन माना जायेगा। आहार-शास्त्र इत्यादि कई बातें उसके जरिये सिखायी जायेंगी। गाँव में सफाई करने का गाँव का जो कर्तव्य है, वह भी ज्ञान देने का एक बुनियादी साधन माना जायेगा। यदि गाँव में कोई रोग फैला हो, तो रोग-निवारण का जो कार्य किया जायेगा, वह भी ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन होगा। गाँव में कोई शख्स मर गया है, तो उसकी मृत्यु भी ज्ञान का साधन होगा। कहीं बारिश ज्यादा हुई है, इसलिए कम फसल पैदा हुई, तो वह भी ज्ञान का साधन होगा। गाँव में जो उत्सव होंगे, गाँव में जो शादी होगी, वे भी ज्ञान-प्राप्ति के साधन हो जायेंगे। गाँव में किसी पागल कुत्ते ने किसी को काटा, गाँव में कुछ झगड़ा हुआ तो वे भी ज्ञान-प्राप्ति के साधन बनेंगे। इस तरह गाँव की हरएक घटना, गाँव का हरएक विषय, ज्ञान-प्राप्ति का साधन होगा।

इतना सारा एक घण्टे में कैसे होगा, ऐसा सन्देह मन में मत लाइए। एक घण्टा सुबह और एक घण्टा शाम, इस तरह दो घण्टे के श्रवण-पठन-वर्ग में बहुत ज्ञान मिल सकता है। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। हमने कई लड़कों को कई सालों तक सिखाने का काम किया है, उनमें बहुत-से लड़कों को एक घण्टे से ज्यादा सिखाया नहीं। उन बच्चों को अच्छा ज्ञान ग्राप्त हुआ और वे आज समाज की सेवा में लगे हुए हैं। शाम का जो श्रवण-वर्ग होगा, उसमें बड़े, वृद्ध आयेंगे, लेकिन बच्चों को आने की मनाही नहीं होगी। इसलिए बच्चों को सुबह का पठन-वर्ग और शाम का श्रवण-वर्ग, दोनों का लाभ मिलेगा। रोज दो घण्टे ज्ञान सुनने का, पढ़ने का, लिखने का लाभ मिलेगा। ग्रामोदय-समिति की तरफ से अगर गाँव के ग्रामोद्योग की अच्छी योजना हो गयी, तो बच्चों का बाकी समय उन ग्रामोद्योगों के सीखने में काम आयेगा। वे लड़के अपने-अपने खेतों में अपने कामों में लग जायेंगे। गाँव के चालू उद्योगों का विकास और नये उद्योग दाखिल करने की जिम्मेवारी ग्रामपंचों की होगी। ग्रामपंचों में शिक्षक भी रहेगा। पंचायत द्वारा नमूने के तौर पर खेत, परिश्रमालय आदि चलाये जायें, तो लड़के और शिक्षक उनमें जा सकेंगे, लेकिन तीन घण्टे से अधिक नहीं। उनमें बच्चों और शिक्षकों को जो मजदूरी मिले वह पैसों में नहीं, वस्तुओं में मिले।

इसलिए उन कार्यों के लिए जो खर्च आयेगा, उसका बोझ स्कूल पर नहीं होगा; बल्कि उस गाँव की ग्राम-उत्थान-समिति पर होगा। इस तरह के स्कूल में पैसे का बहुत थोड़ा उपयोग होगा और वहाँ के बच्चे कारगर सिद्ध होंगे।

संध्या समय का महत्त्व

सुबह का एक घण्टा मन अत्यन्त प्रसन्न रहता है। उस हालत में विद्यार्थी एकाग्रता से विद्या हासिल करेगा। सायंकाल का जो श्रवण-वर्ग चलेगा, उसमें मनोरंजन, कहानी, कथा, संगीत आदि होगा। उसके जरिये किसी प्रकार की थकान के बिना ज्ञान हासिल होगा। श्रवण-वर्ग में जो कथा-कहानियाँ सुनायी जायेंगी, उन सबके अन्त में एक सुन्दर भजन लोगों को सुनाया जायेगा, उस भजन का अर्थ भी सिखाया जायेगा। उसका ध्यान करते हुए बच्चे-बूढ़े घर जाकर सो जायेंगे। शास्त्रकारों ने कहा है कि जीवन के अन्त में मनुष्य ईश्वर की भक्ति करता हुआ चला जायेगा, तो उसको अत्यन्त शान्ति मिलेगी। निद्रा दैनिक मृत्यु है। निद्रा के पहले भगवत्-भक्ति में अत्यन्त तन्मय होकर मनुष्य सो जाता है, तो उसका गहरा असर होता है। नि:स्वप्न निद्रा आती है। शान्ति और उत्साह प्राप्त होता है, इसलिए अन्तिम समय को, निद्रा के पहले के समय को हम बहुत ही महत्त्व देते हैं। इसलिए शाम के श्रवण-वर्ग में एक सुन्दर भजन होगा और उसके ध्यान के नाद में मग्न होकर बच्चे, बूढ़े और औरतें, सब भगवान की गोद में सो जायेंगे। इस तरह की ज्ञान-योजना हम कर सकें, तो बहुत ज्यादा खर्च नहीं होगा। वह ज्ञान-योजना व्यापक होगी और हर गाँव में शीघ्र हो सकेगी। शिक्षण के लिए पैसे की जरूरत नहीं है, पैसे से मुक्त होने की जरूरत है।

ऐसे स्कूलों के लिए पुस्तक इत्यादि का वितरण सरकार चाहती है, तो जरूर कर सकती है। उसका वह कर्तव्य भी हो जाता है। गाँव के जो लोग पढ़ते होंगे, वे भी अपनी पुस्तक पढ़ने के बाद स्कूल को समर्पित करेंगे। इस तरह अपने उस श्रवण-वर्ग और पठन-वर्ग को सब तरह से अलंकृत करने में सब लोग अपना सौभाग्य समझेंगे।

एक घण्टे से ज्यादा कब पढ़ायें?

आज शिक्षा में सार्थकता की अपेक्षा साक्षरता की ओर जो ध्यान दिया जाता है, वह आत्मनाशक है। मेरी राय है कि जब तक स्वावलम्बी उद्योगशक्ति पूर्ण विकसित नहीं होती, तब

तक अक्षर-शिक्षा किसी को भी एक घण्टे से ज्यादा न दी जाये। मेरे अधिकतर लड़कों को, जो मुझे महाबुद्धिमान लगें, उन्हें भी, जब तक कोई एक उद्योग सम्पूर्ण रूप से उनके हाथ में नहीं आया, तब तक मैंने एक घण्टे से ज्यादा कभी भी पढ़ाया नहीं। जिन्होंने स्वावलम्बनोपयोगी कोई एक उद्योग या कला हस्तगत की है, जिनको नीति के संस्कार मिले हैं, जिनके हाथ से दो-चार साल सेवा हुई है, ऐसे बच्चों को ही विशेष शिक्षा के लिए मैंने हाथ में लिया है। केवल निर्बुद्धि को उद्योग की शिक्षा दें, मेरी ऐसी दृष्टि नहीं है। अल्प या विशाल बुद्धि के सभी विद्यार्थियों को (१) सम्पूर्ण स्वावलम्बन शक्ति, (२) नैतिक संस्कार, (३) सेवावृत्ति का निर्माण—ये होने तक अक्षर-शिक्षा एक घण्टे से ज्यादा न दें। उसके बाद, यदि चाहे, तो उनको केवल अक्षर-शिक्षा ही नहीं, बल्कि अक्षर द्वारा बौद्धिक शिक्षा भरपूर दें। मेरी ऐसी पद्धति है। इस पद्धति के कारण विद्यार्थियों पर किया जानेवाला व्यर्थ परिश्रम टलता है, कुछ विद्यार्थियों के साथ आजीवन सम्बन्ध बनता है, राष्ट्र को स्वावलम्बी सेवक मिलता है और हार्दिक—जिसके लिए उपमा नहीं हो सकती—गुरु-शिष्य सम्बन्ध का निर्माण होता है। कुछ लड़के या उनके माँ-बाप इस प्रारम्भिक दो-चार वर्ष की तपस्या से ऊब जाते हैं और संगति छोड़ देते हैं, लेकिन मैं उसे इष्टापत्ति समझता हूँ। मेरी इस पद्धति के कारण दो-चार लड़के निराश भी हुए हैं। लेकिन कुल मिलाकर मेरे श्रम का अपव्यय नहीं हुआ, बल्कि मुझे बीस-पचीस समर्थ सहायक और राष्ट्र को सेवक मिले हैं। मेरे ये शिक्षाविषयक विचार जो मूलत: दीर्घ चिन्तन पर खड़े हैं, इस प्रत्यक्ष फलित के कारण भी दृढ़ होते जा रहे हैं।

३. चौबीस घण्टे आनन्द

आनन्द के लिए सारा कार्यक्रम

विद्यालय का कार्यक्रम कैसा होना चाहिए, यह सवाल है। उसका सूत्र हम बता देते हैं। विद्यालय में परमेश्वर का आनन्दस्वरूप प्रकट होना चाहिए। ईश्वर के रूप तो अनन्त हैं, पर उसके तीन रूप बड़े प्रसिद्ध हैं। एक है सत्, दूसरा है चित् यानी ज्ञान और तीसरा है आनन्द। कर्मयोग में, संसार में, जीवन में सत्य प्रधान होता है। ज्ञानियों की गुहा में और विद्वानों के पुस्तकालय में

ज्ञान प्रधान होता है। भक्तिमार्ग में आनन्द प्रधान होता है। विद्यालय यानी भक्तिमार्ग, यानी वहाँ हर चीज जो की जायेगी, वह आनन्द के लिए ही की जायेगी।

रसोई बनाने का आनन्द

जो भक्तिमार्ग से बाहर हैं, वे भी तो खाने में आनन्द महसूस करते हैं, परन्तु रसोई बनाने में आनन्द नहीं महसूस करते। लेकिन शाला में तो बच्चे आनन्द के लिए रसोई बनायेंगे। उसमें उन्हें खूब आनन्द आयेगा। रोटी कैसे फूलती है, यह देखकर उन्हें बहुत आनन्द आयेगा। लकड़ी जल रही है और दूध उफन रहा है, यह देखने में उनको बड़ा मजा आयेगा। गोल-गोल घुमाते हैं, तो रोटी कैसे गोल-गोल बनती है; चावल पकते हैं, तो पतीली में वे कैसे नाचते-कूदते हैं, यह सारा देखने में बच्चों को बहुत मजा आयेगा। यह सारा आनन्द उपभोग करने के लिए वे लोग रसोई बनायेंगे और खायेंगे भी आनन्द के लिए। आनन्द के लिए नाप-तौलकर खायेंगे। अगर तरकारी में नाप-तौलकर नमक न डाला हो, बहुत नमक डाल दिया हो, तो आनन्द कैसे मिलेगा? तरकारी तब अच्छी लगती है, जब नाप-तौलकर उसमें नमक डाला गया हो। भोजन को पेट में खूब ठूँस दो, तो फिर आनन्द नहीं होगा। पेट दुखेगा, फिर रोना पड़ेगा, डॉक्टर को बुलाना होगा। ये सब तकलीफें हम भोगना नहीं चाहते। हमारा भोजन आनन्द के लिए होगा। भोजन के बाद हम बड़े मजे में बरतन माँजेंगे।

सबसे बढ़िया कार्यक्रम

आलसी लोग रात को दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक जागते हैं, सिनेमा देखते हैं और कष्ट सहन करते हैं। वैसे कष्ट हम नहीं सहन करेंगे। हम बराबर साढ़े आठ बजे प्रकृति की गोद में आनन्द के लिए सो जायेंगे। अभागे लोग रात में देर से सोयेंगे, फिर सपने देखेंगे, मानो राक्षस उनकी छाती पर बैठा हो। हम तो ऐसी सुन्दर निद्रा लेंगे कि सपना ही नहीं देखेंगे। बड़ा आनन्द आयेगा। साढ़े आठ बजे घण्टी बजी कि हम फौरन सोये।

बोधगया में सर्वोदय-सम्मेलन हुआ था। वहाँ पर दिनभर तो बड़ा ज्ञान का तमाशा चला, रात में लोगों ने आनन्द करना चाहा। बोले, सांस्कृतिक कार्यक्रम होगा। हमने पूछा, कब से चलेगा?

बोले, आठ बजे शुरू होगा और दो घण्टे चलेगा। हमने उत्तर दिया कि उसमें हम नहीं जाना चाहते। हमारे लिए दो घण्टे का सांस्कृतिक कार्यक्रम नाकाफी है। हमारा सांस्कृतिक कार्यक्रम तो आठ बजे शुरू होगा और तीन बजे तक चलेगा, सात घण्टे हम बराबर नींद लेंगे। सबसे बढ़िया सांस्कृतिक कार्यक्रम यह है। सोने का आनन्द नहीं खोना चाहिए।

ब्रह्मवेला का आनन्द

चार बजे सुबह उठने का कार्यक्रम भी कितने आनन्द का है! ठण्ड में उठेंगे और दौड़ेंगे। फिर ठण्ड भी दौड़ेगी। हम सोते हैं, तो ठण्ड भी हमारे साथ सोती है। शरीर थर-थर काँपता है। हम बैठते हैं, तो ठण्ड भी हमारे पास बैठती है। हम दौड़ना आरम्भ करते हैं, तो ठण्ड भी दौड़ जाती है। सुबह उठने में और दौड़ने में उत्साह आता है। इसलिए सुबह उठने का आनन्द और फिर दौड़ने का आनन्द हम नहीं छोड़ेंगे।

नाश्ते का आनन्द

सूर्योदय के बाद शरीर स्वच्छ करेंगे। आँख, कान, नाक धोयेंगे। शहर के लोग तो मुँह धोने के पहले ही चाय पीते हैं। कल का जूठा बर्तन अगर माँजा नहीं और उसी में पकाया तो कैसे चलेगा? हमारा मुँह भी तो एक बर्तन है। ऐसा गन्दा मुँह रखकर लोग चाय पीते हैं। फिर दाँत बिगड़ते हैं, पीप बहती है और वह खाने के साथ पेट के अन्दर जाती है। सुन्दर-सुन्दर मिठाई के साथ पीप भी अन्दर जाती है। फिर बीमारी आती है। तब नौबत आती है दाँत निकालने की। इसलिए सुबह उठकर शरीर को स्वच्छ-निर्मल करेंगे। उसके बिना खायेंगे नहीं। स्वच्छ होकर हम थोड़ा जलपान करेंगे। पचास चीजें पेट में नहीं डालेंगे। पचास प्रकार डालेंगे, तो पेट को मालूम ही नहीं होगा कि क्या काम करना चाहिए। एक ही हंडी में तरकारी, दाल, रोटी, सब डालेंगे, तो कैसे पकेगा? कोई चीज दो घण्टे में पकती है। कोई चीज ऐसी होती है, जो चार घण्टे में पकती है और कोई चीज ऐसी होती है, जो छह घण्टे में पकती है। दाल-भात खा लिया, तो चार घण्टे में पचेगा। दूध दो घण्टे में पचेगा। हर चीज को पचने के लिए अलग-अलग समय लगता है। सारी चीजें

एकदम पेट में डालते हैं, तो बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। इसलिए सुबह के नाश्ते में कुछ हलका-सा खाना चाहिए।

खेती का आनन्द

खाने के बाद हम कुदाल लेकर मजे से खेत में जायेंगे। खूब खेती करेंगे। मजेदार खेती होगी। बोना है, पानी देना है, कहीं काटना है, कहीं इधर की मिट्टी उठाकर उधर डालनी है। खेत में कहीं टीला है, कहीं गड्ढा। यह कैसे चलेगा? टीले को तोड़कर सब समान बनाना होगा। बचपन में ही बच्चे यह काश्त करने का आनन्द सीखेंगे तो बड़े होकर दूसरा आनन्द भी उन्हें मिलेगा।

पढ़ाई का आनन्द

फिर थोड़ा पढ़ने का आनन्द होगा, लिखने का आनन्द होगा, कुछ थोड़ा याद रखने का आनन्द होगा, संगीत का आनन्द होगा, चित्रकला का आनन्द होगा। इस तरह कुल मिलाकर चौबीसों घण्टे आनन्द का कार्यक्रम होगा। इसको कहते हैं भक्तिमार्ग। यही विद्यालय का कार्यक्रम होगा।

न कुट्टी, न छुट्टी

आज तो लोग बच्चों को दिनभर स्कूल में बाँध रखते हैं। उसके बाद कहते हैं, एक घण्टा आनन्द करो और खेलो! स्कूल में न हाथ को काम है, न पाँव को। लगातार बैठे रहते हैं। पाँच-पाँच घण्टे बैठने से बच्चे बेचारे तंग आ जाते हैं। छह दिन स्कूल होता है, तो ये लोग सोचते हैं कि दे दो इनको एक दिन की छुट्टी। यानी छह दिन कुट्टी और एक दिन छुट्टी। हम कहते हैं कि हमारा स्कूल नहीं है, हमारे यहाँ छुट्टी नहीं रहेगी; क्योंकि हमारे यहाँ कुट्टी नहीं रहेगी। इस तरह हमारे जीवन का कार्यक्रम आनन्दमय रहेगा।

नृत्य-गायन की मर्यादा

कई दफा स्कूल में परिश्रम के साथ-साथ कुछ मनोविनोद भी चलता है। उसका मैं निषेध नहीं करूँगा। उसमें नादब्रह्म की उपासना होती है। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे देश के लोग भूखे हैं। यह दृश्य नजर के सामने रखो कि एक भूख से तड़फड़ा रहा है और

दूसरा तड़फड़ाकर मरा पड़ा है। यह याद रखकर फिर नाचना हो, तो नाचो और गाना हो, तो गाओ और बजाना हो, तो बजाओ। लोग चित्रकला सीखते हैं। मैं उनसे सिफारिश करूँगा कि ऐसा भी एक चित्र खींचे कि एक मनुष्य भूख से व्याकुल है, दूसरा भूख से मरने की तैयारी में है और तीसरा भूख से मर चुका है। ऐसा चित्र सामने रखकर हमें काम करना चाहिए। तब हिन्दुस्तान के शिक्षण का क्या स्वरूप होगा, उसका ठीक से हमें पता लगेगा। स्कूल में कहते हैं कि हम सांस्कृतिक कार्यक्रम करते हैं। ठीक है, मैं उसकी कद्र करता हूँ, उसकी कीमत करता हूँ। मनुष्य के जीवन में उसका भी स्थान है। लेकिन उसके पीछे हम ऐसे पागल न बन जायें कि हमारा जो मुख्य मकसद है, शिक्षण का, वह गायब हो जाये और हमारी जो मुख्य समस्या है, उसे हम भूल जायें।

४. देहात और शहरों की तालीम

अपनी बहुत-सारी जनता देहातों में रहती है। तो आम जनता की तालीम देहाती ढंग से होनी चाहिए, जिससे कि देहात की उन्नति हो। जो लोग शहरों में रहते हैं, उनकी दृष्टि भी ग्रामोन्मुख रहे, उनके और ग्रामों के बीच में अच्छी तरह सहयोग हो, इस प्रकार की तालीम शहरवालों को मिलनी चाहिए। अगर यह हो कि शहरवालों की तालीम एक दूसरे ही ढंग से चले और ग्रामों की दूसरे ही ढंग से चले और दोनों में विरोध रहे, तो यह विरोध देश के लिए खतरनाक होगा।

जीवन की मूलभूत समानता

वैसे देखा जाये, तो जिन्दगी का बहुत-सारा अंश सबके जीवन में समान होता है, चाहे वह शहर की जिन्दगी हो, चाहे देहात की जिन्दगी हो। पंचभूतों का जो परिणाम गाँववालों पर होता है, वही शहरवालों पंर होता है। उसमें कोई फर्क नहीं होता। स्वच्छ हवा की जरूरत शहरवालों को और गाँववालों को, दोनों को समानरूप से है और होनी चाहिए। सृष्टि के साथ सम्पर्क दोनों के लिए लाभदायी है। यद्यपि शहरवालों के लिए यह बात जरा कठिन है, तो भी यह इन्तजाम शहरवालों के लिए होना चाहिए। आरोग्य-शास्त्र की आवश्यकता दोनों के लिए समान है। यह ठीक है कि शहरवालों के वास्ते आरोग्य की दृष्टि से एक इन्तजाम करना पड़ेगा, गाँववालों के वास्ते दूसरा इन्तजाम करना होगा, लेकिन आरोग्य की जरूरत दोनों के लिए समान ही होगी।

परस्पर सहयोग, प्रेम, त्यागभावना इत्यादि जो धर्म-विचार हैं, वे दोनों के लिए समान लागू हैं। इतना फर्क होगा कि गाँवों में जीवन की बुनियादी चीजें बनेंगी, इस वास्ते ग्रामीण लड़के की तालीम अत्यन्त सहज भाव से होगी और शहरों में बुनियादी चीजें नहीं बनेंगी, गौण चीजें बनेंगी, इस वास्ते वहाँ की तालीम में उन चीजों पर आधार रखना पड़ेगा, तो उस तालीम में कुछ गौणता आ जायेगी। यह जो गौणता शहर के शिक्षण में आयेगी, वह वहाँ के जीवन में ही होने के कारण उसको टाल नहीं सकेंगे; तब तक, जब तक कि शहरों को भी हम ग्रामों के समान रूप नहीं देते।

प्रश्न : देहात का लड़का स्वावलम्बी होगा, शहरवाला नहीं होगा?

उत्तर : क्यों नहीं होगा? मान लीजिए कि शहर में एक होटल है। वहाँ रसोई के जरिये बालक को शिक्षण दिया जाता है। हमारा उसूल तो यही है न कि आसपास के वातावरण से ज्ञान दिया जाये? शहर और देहात दोनों के लिए यह सिद्धान्त समान रूप से लागू है। देहात में भोजन लकड़ी पर पकेगा, तो शहर में कोयले पर। एक जगह लड़का पहाड़ी पर चढ़ेगा, तो दूसरी जगह चौथी मंजिल पर। दोनों बच्चों को भलाई सिखानी है। तो भूखे के लिए रोटी मुहैया करा देने का शिक्षण दोनों जगह समान मिलना चाहिए। अगर तालीम ऐसी मिले कि देहातवाले तो श्रम की कद्र करते हैं और शहरवाले उसके बारे में लापरवाह रहते हैं तो समझना चाहिए कि वहाँ दोनों का रास्ता भिन्न हो रहा है।

सृष्टिपूजक गाँव, ग्रामोन्मुख नगर

शहर की तालीम में थोड़ी गौणता रह जायेगी, उसकी पूर्ति हो सकेगी, अगर दो बातें उसमें हों। एक तो शहरियों का मुख गाँवों की तरफ हो और दूसरी, विदेश की जानकारी वे काफी रखें। शहरों से यह अपेक्षा जरूर की जायेगी कि वहाँ के लोग विदेशी भाषाओं से परिचय रखते होंगे। इस वास्ते उन भाषाओं में जो नयी-नयी चीजें आयेंगी, उन नयी चीजों को वे अपने साहित्य में लायेंगे, यह आशा उनसे जरूर की जायेगी और उनकी दृष्टी अगर ग्रामोन्मुख रही, तो ग्रामीणों की सेवा करना वे अपना धर्म समझेंगे। मैंने सूत्र ही बनाया था कि ग्रामीण होंगे सृष्टिपूजक या परमेश्वर-

सेवक और शहर के लोग होंगे ग्राम-सेवक। अगर यह दृष्टि रही, तो दोनों स्थानों का इस तरह से विकास किया जा सकता है कि एक-दूसरे की पूर्ति में एक-दूसरे मदद दें।

हर गाँव में विद्यापीठ

मेरी कल्पना है कि हर गाँव में सम्पूर्ण तालीम होनी चाहिए। जिसे हम यूनिवर्सिटी कहते हैं, विद्यापीठ कहते हैं, वह हर गाँव में होना चाहिए। क्योंकि हरएक ग्राम, चाहे वह कितना भी छोटा हो, सारी दुनिया का प्रतिनिधि है और कुल दुनिया थोड़े में वहाँ पर मौजूद है। इस वास्ते पूरी तालीम वहाँ मिलनी चाहिए। प्रत्येक गाँव का सृष्टि के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इस वास्ते मनुष्य को सृष्टि-विज्ञान सब तरह से वहाँ हासिल हो सकता है। असंख्य प्राणी, पक्षी, पशु इत्यादि के साथ सम्पर्क रहता है। इस वास्ते मानव के लिए जो पूरक ज्ञान चाहिए, प्राणीशास्त्र का, वह वहाँ मिल सकता है। वहाँ पर खेती होगी, वहाँ पर कपड़ा बनेगा, वहाँ पर रास्ते बनेंगे, वहाँ पर ग्रामोद्योग होंगे। इन सबके लिए ज्ञान की जरूरत है। वह सारा ज्ञान ग्राम में प्राप्त होना चाहिए और हो सकता है। ग्राम में प्राचीन काल से मानव-समाज चला आया है, अत: वहाँ इतिहास भी मौजूद है और समाज-ज्ञान भी मौजूद है। ग्राम में एक-दूसरे से अधिक निकट सम्पर्क आता है। शहर में जितना आता है, उससे ज्यादा। इस वास्ते वहाँ नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र बहुत विकसित हो सकता है। आत्मा की व्यापकता, एक-दूसरे के साथ सहयोग करने की वृत्ति, सत्य-निष्ठा इत्यादि जो नीति-धर्म हैं, वे ग्राम में अच्छी तरह से प्रकट हैं। ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि आकाश में दीखते हैं, शायद शहरों में उनका प्रकाश अच्छी तरह नहीं पहुँचता होगा! इसलिए गाँवों में काव्य, साहित्य का जितना विकास हो सकता है, शायद उतना शहरों में होना मुश्किल है।

सज्जन ग्रामनिष्ठा बढ़ायें

आजकल के शहरों में हम व्यास-वाल्मीकि की कल्पना ही नहीं कर सकते, उनकी कल्पना तो ग्रामों या ग्रामों के नजदीक ही कर सकते हैं। जंगल के जानवरों से लड़नेवाले जो शूर होते हैं, वे तो ग्रामों में ही हो सकते हैं, इसलिए पराक्रमी पुरुषों की सेवा ग्राम से ही मिल सकती है। राष्ट्रों की सेनाओं के सैनिक ग्रामों से ही मिलते आये हैं। सवाल इतना ही है कि इतना सब होता है, तो

ग्राम में तालीम देने के लिए जो सरंजाम चाहिए, उतना सारा सरंजाम क्या हम गाँव में नहीं बना सकते? इसका उत्तर है, ग्रामों की चीजों में से कुछ सरंजाम हम गाँव में बना ही सकते हैं। लेकिन बहुत ज्यादा सरंजाम की जरूरत ही नहीं रहेगी। निरीक्षण और प्रयोग की अधिक जरूरत रहेगी। इसलिए कभी-कभी ग्राम के लड़कों को शहर की युनिवर्सिटी में जाकर भी कुछ थोड़ा देखने का मौका देना पड़ेगा। वैसे ही शहरवालों को भी ग्रामों में जाकर यहाँ की कुछ चीजें सीखने का-मौका आयेगा। लेकिन इस सबके लिए मेरी निगाह में जो बहुत जरूरी चीज है, वह यह है कि सज्जन और विद्वान लोग गाँवों में रहना पसन्द करें। सत्पुरुषों में ग्राम-निष्ठा बढ़ी तो जो काम होगा, वह और किसी दूसरी रीति से नहीं होगा। युनिवर्सिटी के लिए जरूरी चीज तो यही है कि गाँव-गाँव में विचार का अनुशीलन करनेवाले कुछ सज्जन मौजूद हों। कम-से-कम एक सज्जन एक गाँव में आकर रहने लगे, तो उस गाँव के लिए तालीम का इन्तजाम करना किसी तरह से कठिन नहीं होगा।

संन्यासी-चलता-फिरता विद्यापीठ

इसके अलावा भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान, जो गाँव का कोई व्यक्ति या गाँव का सज्जन भी प्राप्त नहीं कर सकता, वह गाँवों को मिले, ऐसी भी एक योजना हमारे पूर्वजों ने की थी। वह हमको जारी करनी होगी। वह है परिव्राजक संन्यासी की योजना। संन्यासी गाँव-गाँव घूमता भी रहेगा और ३-४ महीने किसी एक स्थान में रहेगा, तो उसका पूरा लाभ गाँवों को मिलेगा। वह सारी दुनिया का और आत्मा का ज्ञान सबको देता ही रहेगा। संन्यासी माने 'वॉकिंग युनिवर्सिटी'—चलता-फिरता विद्यापीठ, जो कि हर गाँव में स्वेच्छा से जायेगा। वह विद्यार्थियों के पास खुद पहुँचेगा और मुफ्त में सबको तालीम देगा। गाँववाले उसके लिए सात्त्विक, स्वच्छ, निर्मल आहार देंगे, इसके अलावा उसको कुछ जरूरत नहीं। उससे जितना भी ज्ञान मिल सकता है, गाँववाले पा लेंगे। ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक भी कौड़ी या पैसा खर्च करना पड़े, इससे अधिक दुःखदायक घटना कोई नहीं हो सकती। जिसके पास ज्ञान होता है, उसको इस बात की अत्यन्त प्यास होती है कि दूसरों के पास वह ज्ञान पहुँचे। उसको भूख होती है कि उसका ज्ञान दूसरों के पास जाये। बच्चे को माता के स्तनपान की जितनी इच्छा होती है, उतनी ही इच्छा माता को बच्चे को स्तनपान

कराने की होती है; क्योंकि उसके स्तनों में दूध भगवान ने भर दिया है। कल अगर यह हो जाये कि माताएँ लड़कों से फीस लिये बगैर दूध नहीं देंगी, तो दुनिया की क्या हालत होगी?

५. परिश्रमालय द्वारा शिक्षण

तालीम के नाम के बदले रोजी का काम

बिल्कुल छोटे बच्चों की तालीम की बात मैं छोड़ देता हूँ। बड़ी उम्र के लड़कों को तालीम देने का एक दूसरा ही तरीका मेरे मन में आ रहा है। मैं ऐसों को 'तालीम देने' का नाम न लेकर उन्हें रोजी दिलाने का ही काम क्यों न करूँ? ऐसे लड़के जिस रोज से मेरे पास आयेंगे, उसी रोज से मैं उन्हें मजदूरी देना शुरू कर दूँगा। मेरा दावा यही रहेगा कि मैं बेकारों को काम दूँ। लेकिन काम में से एकआध घण्टा निकालकर उनके जीवन और इर्द-गिर्द की हालत के बारे में जो कुछ सूझेगा, मैं उन्हें बतलाता रहूँगा। उनके काम की प्रगति कैसे हो, इसकी फिक्र करूँगा। उनके आरोग्य की तरफ ध्यान दूँगा। कहा तो यही जायेगा कि 'मैंने एक उद्योग खोला', लेकिन शायद इस ढंग से नयी तालीम का मैं बेहतर प्रचार कर सकूँगा, बनिस्बत उसके, जो आज चल रहा है।

परिश्रमालय द्वारा तालीम का अनुभव

यह मैं कल्पना से नहीं कर रहा हूँ। पवनार में मैंने जो काम किया, उसमें १४-१५ साल से लेकर १८ साल तक के लड़के ८ घण्टा काम करके रोजी कमाते थे। कताई का मानो उद्योग ही वहाँ चलता था। मैं उन लोगों में १-२ घण्टे जाकर बैठता था। पहले मैं यही सोचता था कि उनकी रोजी कैसे बढ़े। लड़के दायें हाथ से कातते थे। तीन माह तक बायें हाथ का प्रयोग चलाया। फिर दोनों हाथ अदल-बदलकर काम किया गया।

उनकी सूत की गुंडियाँ समान अंक की नहीं होती थीं। कुछ मोटी, तो कुछ महीन होती थीं। कार्यालय के लोग मजदूरी देते समय मोटी-से-मोटी गुंडी का नम्बर देखते थे और उसके नम्बर को सारे सूत का नम्बर मानकर दाम आँकते थे। इससे उनका कितना नुकसान होता था, इसका गणित सिखाया। तार गिनने में ६४० तार की गुंडी में उनके ४०-५० तार कम आते थे। ठीक से गिनना उन्हें सिखाया। उनमें अनियमितता थी। कातते हुए बीच में गप्पे मारने की आदत थी। इससे उनकी

कार्यशक्ति का कैसे क्षय होता है, इसका सप्रयोग दर्शन कराया। कुछ देर मौन रहकर काम करने की प्रेरणा दी। इससे काम बढ़ा, मजदूरी बढ़ी। फिर ८ घण्टे के बजाय ७ घण्टे काम लेकर १ घण्टा दूसरी चर्चा में बीतने लगा। इसके बाद नदी में तैरने, खेलने, घूमने, गीता के श्लोक कण्ठस्थ करने तथा त्योहारों आदि की छुट्टियों के निमित्त तत्सम्बन्धी ज्ञान देने का कार्यक्रम चला। इस तरह वे ज्यादा मजदूरी कमाने लगे और कई तरह का शिक्षण पाने लगे। पहले वे लड़के थे, अब जिम्मेवार नागरिक बन गये हैं। सूत कातकर अपना कपड़ा बना लेते हैं। ग्राम-पंचायत का जिम्मेवारी से काम करते हैं। पवनार के सार्वजनिक काम में हिस्सा लेते हैं। अब ग्राम-सफाई करने की बात सोच रहे हैं। यह सारा उस परिश्रमालय से हुआ। परिश्रमालय ज्यादा दिन नहीं चला, क्योंकि मुझे जेल जाना पड़ा। फिर वह बन्द हो गया। अगर वह जारी रहता तो नयी तालीम का वह एक सफल प्रयोग होता। लेकिन नाम तो परिश्रमालय का ही रहता।

मूलोद्योग का खेल

मैं देखता हूँ कि कितनी ही शालाओं में जहाँ उद्योग दाखिल हुआ है, काम में उतनी सचाई नहीं बरती जाती। कुछ दिखावट होती है और कुछ सजावट। वहाँ कुछ काम के साथ कुछ ज्ञान जोड़ देते हैं, जो खेल जैसा मालूम होता है। उससे क्या परिश्रमालय अधिक अच्छा नहीं है? मजदूरों के काम में गम्भीरता होती है। मजदूर जानते हैं कि हम काम नहीं सीखेंगे, तो गुजारा नहीं होगा। परन्तु शालाओं के वातावरण में एक तरह का मिथ्यात्व दीखता है।

६. आदर्श पाठशाला कैसी हो?

औद्योगिक विज्ञान की जरूरत

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण में सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीज की है, तो विज्ञान की। हिन्दुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, फिर भी उसका उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योगप्रधान कहलाते हैं। हिन्दुस्तान में खेतीप्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहाँ प्रतिव्यक्ति एक एकड़ जमीन है। इसके विपरीत फ्रांस में, जो एक उद्योगप्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ भूमि है। इस पर से मालूम होगा कि हिन्दुस्तान की हालत कितनी

बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में अकेली खेती ही होती है और कुछ नहीं होता। यह हालत बदलने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभी को उद्योग में निपुण बनना चाहिए। इसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

आहार-विज्ञान

हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहाँ जो आदमी काम करे, उसे इन सारी बातों की जानकारी होनी चाहिए कि किस खाद्य पदार्थ में कितना उष्णांक है, कितना ओज है, कितनी चिकनाई है। उसमें यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्र के मनुष्य को किस काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगी!

ज्ञान-दृष्टि आवश्यक

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी, लेकिन दोनों के भोजन करने में काफी फर्क होना चाहिए। विद्यार्थियों का भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो यह लिखकर रखेगा कि उसमें से कितना चोकर निकला। मान लीजिए कि सेर में आठ तोले चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पडोसी के यहाँ जाकर वहाँ का चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटे में से ढाई तोले ही चोकर निकला। दस प्रतिशत चोकर निकलने में कया हर्ज है? उतना चोकर अगर पेट में जाये, तो क्या नुकसान होगा?—आदि प्रश्न उसके मन में उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी मिलने चाहिए। तभी जैसा कि गीता में कहा है, उसका हरएक काम ज्ञान-साधन होगा।

मल-विज्ञान

शौच को तो सभी जाते हैं। लेकिन स्कूलवालों को मल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान होना चाहिए। मैले का क्या उपयोग होता है? सूर्य की किरणों का उस पर क्या असर होता है? मैला अगर खुला पड़ा रहे, तो उससे क्या नुकसान है? उससे कौन-सी बीमारियाँ पैदा होती हैं? जमीन को अगर उसकी खाद दी जाये, तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है?—आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान मल-विज्ञान की सहायता से हमारे छात्रों को कराना चाहिए। मैंने तो उस पर एक

सूत्र ही बनाया है—'प्रभाते मल-दर्शनम्।' मल से हमें आरोग्य का ज्ञान होता है और यह जानकर कि शरीर मलागार है, देहासक्ति भी कम होती है।

आरोग्य-विज्ञान

कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्त में थोड़े ही आयी है! उसे जेब से कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि की तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आयी, कैसे आयी आदि बातों की खोज करनी चाहिए। जब वह आ ही गयी है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये—यह दूसरों के साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज नहीं होना चाहिए।

खादी-विद्या

यहाँ सूत कातते हैं, खादी भी बना लेते हैं। बधाई है। लेकिन खादी के बारे में शास्त्रीय प्रश्नों के जवाब यदि न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केन्द्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा? लेकिन मैं तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की आशा रखूँगा।

उद्योग में विज्ञान

इस प्रकार प्रयोग-बुद्धि और ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने में थोड़ा खर्च तो होगा ही, लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूल में जो चरखा होगा, वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे चरखे से काम नहीं चलेगा। स्कूल में काम चाहे थोड़ा कम ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायेगी। उसमें से जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिये जायेंगे। रोझियो (कपास की जाति) में से जब इतने बिनौले निकले, तब ह्वेरम (कपास को जाति) में से इतने क्यों? इस तरह का सवाल पूछा जायेगा और उसका जवाब भी दिया जायेगा। बिनौला मटर के आकार का होकर भी दोनों के वजन में इतना फर्क क्यों? बिनौले में तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायेगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौन-से हैं? उसके लिए तराजू की जरूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदा जायेगा, स्कूल में ही बनाया जायेगा। हरएक काम अगर इस ढंग से किया जाये तो विज्ञान शुरू हो गया। इस तरह यदि हर बात की जाये, तो ज्ञान

कितना मनोरंजक होगा! फिर उसे कौन भूलेगा? अकबर किस सन् में मरा, यह रटने की कया जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छाती पर क्यों सवार हुआ? मैं इतिहास रटने को नहीं पैदा हुआ, इतिहास बनाने के लिए पैदा हुआ हूँ।

विज्ञान और अध्यात्म

दो विद्याएँ सीखना आवश्यक है—(१) आसपास की चीजों को परखने की शक्ति अर्थात् विज्ञान और (२) आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीच में निमित्तमात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका भी ज्ञान उतना ही आवश्यक है। भाषा डाकिये का काम करती है। अगर मैं चिट्ठी में कुछ भी न लिखूँ, तो वह कोरा कागज भी डाकिया पहुँचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसी का मैं विचार करूँगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं बैठकर रोऊँगा? मैं बढ़ई के पास जाकर उसे सुधरवा लूँगा। उसी तरह अगर मुझे बिच्छू ने काट खाया, तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए, उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का परचा निकालने की झंझट में नहीं पड़ूँगा। लड़कों की बोलचाल से ही मैं उनका भाषा-ज्ञान भाँप जाऊँगा।

पाठशाला सजाएँ

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलों को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्री रामदास स्वामी ने कहा है—"ईश्वर का वैभव बढ़ाओ।" लोगों को अपने घर सजाने के बदले शालाएँ सजाने का शौक होना चाहिए उन्हें शाला की आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए।

ऊपर की सभी बातें मैंने अपने अनुभव से बतायी हैं।

७. आदर्श विद्यापीठ

मनु का एक वाक्य है—**प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्**-बच्चे को जब सोलहवाँ वर्ष लग जाये, तो उसके प्रति मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। मैं इस वाक्य का यह अर्थ समझता हूँ कि सोलहवें वर्ष के बाद जीवन का उत्तरदायित्व बच्चे को स्वयं ही सँभाल लेना चाहिए। मित्र

को हम लोग सलाह देते हैं, समय पर उसकी मदद करते हैं, पर उसके जीवन का भार उसी पर रहता है।

समर्थ शिक्षण की सुविधा

जीवन का भार सचमुच भार ही नहीं, वह तो उपकार है। पर ऐसा समर्थ शिक्षण मिलना चाहिए, जिससे वह उपकार मालूम हो। ऐसी शिक्षा माता-पिता की ओर से सोलह वर्ष की उम्र तक बच्चों को मिलनी चाहिए। माता-पिता की ओर से कहने का मेरा तात्पर्य है—समाज की ओर से ऐसी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। समाज को चाहिए कि वह हर बालक के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था कर दे। उसके आगे का शिक्षण वह अपनी कमाई से प्राप्त करे।

मनु के इस वाक्य का यह भी अर्थ निकलता है कि सोलह वर्ष से पहले बच्चे पर जीवन का सारा उत्तरदायित्व डालना उचित नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि तब तक बच्चे का अपना जीवन ही नहीं। अर्थ इतना ही है कि उसका भार उस पर नहीं होता। उस अवस्था में अपना भार स्वयं उठाने के लिए उसे धीरे-धीरे तैयार होना पड़ता है। इस तैयारी को ही 'शिक्षण' कहा जाता है।

दशरथ की दलील

मनु का यह वाक्य शब्द-प्रमाण के रूप में मैंने उपस्थित नहीं किया है। ‘मनु' का अर्थ कोई व्यक्तिविशेष नहीं। समाज के हजारों वर्षों के अनुभवों को ही 'मनु' कहा जाता है। विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए दशरथ के पास राम को माँगने के लिए आये। दशरथ बोले, **ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीव-लोचन:** —राम अभी सोलह वर्ष का नहीं हुआ, इतनी बड़ी जिम्मेवारी के काम के लिए मैं उसे आपको कैसे दे दूँ? राम सोलह वर्ष के हो गये होते, तो दशरथ की यह दलील न होती। वशिष्ठ ने उन्हें समझाया, “विश्वामित्र के संरक्षण में यह काम होनेवाला है। वह एक शिक्षा-योजना ही है।” तब दशरथ बात समझ सके।

शिक्षण की वयोमर्यादा

दशरथ की यह मान्यता मनु के उक्त वाक्य में है। आधुनिक शिक्षाविदों ने भी उसे मान्य किया है। चौदह वर्ष पूरे होने तक सात वर्ष की शिक्षण-योजना नयी तालीमवालों ने तैयार की है।

प्रगतिशील देशों में यह कानून है कि चौदह वर्ष पूरे हुए बगैर बच्चों को कारखाने में काम न दिया जाये। मनु इनसे एक साल आगे हैं। वे १५ वर्ष पूरे हुए बगैर बच्चे को फैक्टरी में काम पर जाने नहीं देंगे और १६वाँ वर्ष लगने के बाद उसे कॉलेज में समय का अपव्यय भी करने न देंगे।

आदर्श विद्यापीठ

प्रश्न होगा कि "तो क्या आपकी इस योजना के अनुसार कॉलेज खाली पड़े रहेंगे? फिर देश की उन्नति कैसे होगी?" कॉलेज खाली नहीं पड़े रहेंगे, वे तो ठसाठस भर जायेंगे। गरीबों के बच्चे उनमें भरती किये जायेंगे। कॉलेज में ऐसा दृश्य दीख पड़ेगा कि हर छात्र निजी श्रम से ज्ञानरूप अन्न और अन्नरूप ज्ञान कमा रहा है, दो हाथों से पेट का और दो आँखों से बुद्धि का भरण-पोषण हो रहा है, ज्ञान तथा कर्म का भेद ही मिट गया है। वहाँ बच्चों को कोई फीस नहीं लगेगी, बोर्डिंग का कोई खर्च नहीं लगेगा और न अध्यापकों को वेतन ही रहेगा। उद्योगालय, पुस्तकालय और प्रयोगालय की व्यवस्था सरकार द्वारा कर दी जायेगी। पाठशालाओं में कोई छुट्टी नहीं रहेगी। कारण उसमें किसी को कोई बन्धन नहीं मालूम पड़ेगा।

आज के कॉलेजों में गरीबों को कोई सुविधा ही नहीं है। हाँ, दो-चार गरीब बच्चों को कृपापूर्वक फीस की माफी मिल जाती है। पर हमारे कॉलेज सभी के लिए खुले रहेंगे। श्रीमानों के बच्चों के लिए इतना कष्ट सहना सम्भव न हो, इसलिए श्रम में उन्हें एकआध घण्टे की रियायत देनी पड़े, तो बात दूसरी है। फिर भी उसमें उनकी दीनता ही प्रकट होगी। इसलिए कोई स्वाभिमानी बालक सहसा उसे कबूल नहीं करेगा।

हास्यास्पद विद्यापीठ

आज तो कृषि-कॉलेज भी शहर में ही खुलते हैं। मैट्रिक पास हुए बगैर उनमें प्रवेश भी नहीं हो पाता। इसका मतलब यह हुआ कि बच्चों का कृषि-कॉलेज में प्रवेश भी तभी हो सकेगा, जब उनके बारे में यह विश्वास हो जायेगा कि उनमें जाड़े-पाले और धूप-बारिश में काम करने की कतई शक्ति नहीं है। कारण आज की पद्धति के अनुसार मैट्रिक पास होने का और कोई अर्थ ही नहीं। प्रोफेसर और छात्र कुर्सी-बेंच पर बैठकर कृषि का ज्ञान प्राप्त करेंगे! प्रयोग के तौर पर खेती

नाममात्र की होगी और उसका उत्तरदायित्व भी मजदूरों पर होगा। प्रयोग वे ही करेंगे। बच्चे के खर्च के लिए उसके पिता को हर साल २५ एकड़ जमीन की पैदावार देनी पड़ेगी। उसके बिना काम चलनेवाला नहीं।

विद्यापीठ में स्वावलम्बन

प्राथमिक शिक्षण के बाद उच्च शिक्षण के कार्यक्रम कैसे हों? मेरा सुझाव है कि "बच्चे छह घण्टे मेहनत करके शरीरश्रम से रोटी कमायें और दो घण्टे उसके परिपोषक ज्ञान-विज्ञान की उन्हें शिक्षा दी जाये। बच्चों पर खर्च न तो पाठशाला करे और न माता-पिता ही; फिर वे बच्चे चाहे गरीब के हों, चाहे अमीर के। ऐसा करने से ही सच्चा प्रयोग होगा और देश आगे बढ़ेगा।"

छुटकारे का सूत्र

आज हमने मनु-वाक्य के दोनों अर्थों पर पानी फेर दिया है। असंख्य दरिद्र बच्चों को रोटी के लिए पिसना पड़ता है। फिर भी उन्हें रोटी नहीं मिलती और शिक्षण तो उन्हें मिलता ही नहीं। दूसरी ओर, इसके विपरीत पचीस-पचीस साल तक भारभूत शिक्षण के चोचले चलते हैं। बिना काम किये तिजोरीभर धन कमाने की चिन्ता लगी रहती है, जबकि करोड़ों को काम करके भी पेटभर खाना नहीं मिलता।

अत: "सोलह वर्ष तक स्वावलम्बन का शिक्षण और सोलह वर्ष के बाद स्वावलम्बन से शिक्षण''—यह सूत्र स्वीकार कर तदनुसार शिक्षण-योजना चलाये बगैर इस दुहरी दुर्गति से छुटकारा नहीं मिल सकता।

८. ग्रामीण विश्वविद्यालय

आवश्यकता से उत्पन्न विचार

'ग्रामीण विश्वविद्यालय' का नाम देखने में बहुत बड़ा है। 'विश्वविद्यालय' एक विशाल शब्द है और उसका अर्थ बहुत व्यापक है। लेकिन उसकी एक सीधी- सादी व्याख्या नायकम् जी ने आपके सामने रख दी। उन्होंने कहा कि "जहाँ का जीवन सर्वांगपूर्ण है, वही हमारा देहात का

विश्वविद्यालय है।" व्याख्या सही है। हम कोई हवा में नहीं सोच रहे, बल्कि जमीन पर यह सारा काम हो रहा है। एक आवश्यकता पैदा हुई और उसकी पूर्ति के लिए यह चीज सामने आयी।

हमने इतने साल बुनियादी तालीम चलायी, तो कुछ लड़के उसमें तैयार हो गये। हम उनको फिर उत्तर बुनियादी में ले गये। उनका वह कार्यक्रम खतम होने को आया। अब हमारे सामने यह सवाल पैदा होता है कि इन लड़कों का हम क्या करें? उनका शिक्षण जहाँ तक हुआ, वह हमारा पूर्ण आदर्श है—ऐसा समझकर क्या उसे समाप्त करें? जितना वे पढ़ चुके, वह कोई कम नहीं। उससे वे देश को लाभ पहुँचा सकते हैं और जीवन में अपने प्रयत्न से आगे प्रगति कर सकते हैं। लेकिन उनमें से अगर कुछ आगे पढ़ना चाहें, तो उनके लिए कुछ सुविधा है या नहीं? इस पर हमने सोचा, तो हमें दीख पड़ा कि 'परिपूर्ण' की हमारी जो अधिक-से-अधिक व्याख्या है, वह आखिरी व्याख्या जीवन में जब अमल में आयेगी तब आयेगी, लेकन 'परिपूर्ण' की जो कम-से-कम व्याख्या है, उस व्याख्या के मुताबिक भी वे लड़के पूर्ण हुए हैं और हमारे शिक्षण का नमूना दुनिया के सामने हमने रख दिया है, ऐसा नहीं है। इसलिए उनके आगे के शिक्षण की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। इस तरह विश्वविद्यालय की आवश्यकता पैदा हुई है।

नमूना अभी तैयार नहीं

अब बीच में यह भी सवाल पैदा हुआ कि क्या हम देहात के लिए अलग विश्वविद्यालय चलायेंगे और शहर के लिए अलग? मैं यह बात पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि 'बुनियादी तालीम' आदि से अन्त तक 'बुनियादी' ही रहनी चाहिए। आज जो विश्वविद्यालय हैं, वे अगर नयी तालीम के हमारे 'विचार' को कबूल करें, तो उन्हें अपनी पद्धति में वैसा परिवर्तन करना पड़ेगा। लेकिन आज यह चीज सम्भव नहीं जान पड़ती। उसका एक कारण यह है कि उनका जो पुराना ढाँचा बना है, वह एकदम नहीं बदल सकता। इसके अलावा उसका दूसरा कारण यह है कि देश के सामने हम अपने विद्यापीठ का अभी कोई नमूना पेश नहीं कर सके हैं। इसलिए हम अभी यह नहीं कह सकते कि सारे विश्वविद्यालय भी बदल दो। हमने जो बुनियादी काम किया है, वह इस हद तक आ पहुँचा है कि हम कह सकते हैं कि उसके जो प्रयोग और अनुभव हुए, उनके आधार पर सरकार की आज की जो प्राथमिक शालाएँ हैं, वे बदली जा सकती हैं। उससे उन्हें जरूर लाभ

होनेवाला है। यह हम दावे के साथ कह सकते हैं। लेकन हम यह नहीं कह सकते कि विश्वविद्यालय का भी नमूना हमारे पास तैयार है और उस नमूने पर सारा ढाँचा बदल दें।

विद्यापीठ स्वावलम्बी हों

विश्वविद्यालय का जब हम विचार करें, तो हमारे पास जो लड़के हैं, उनका खयाल करके ही हमें कोई योजना बनानी चाहिए। नहीं तो होगा यह कि विश्वविद्यालय एक ऐसा व्यापक विषय है कि उसके बारे में कई तरह के लम्बे, चौड़े और गहरे विचार हम करेंगे और कुल मिलाकर प्रत्यक्ष कोई चीज नहीं बनेगी।

अत: किशोरलालभाई ने जो एक बात रखी, वह महत्त्व की है। उन्होंने कहा कि "जब हमारे लड़के उत्तर-बुनियादी शिक्षण प्राप्त कर चुके, तो वे स्वावलम्बी बन गये, इतना तो मान ही लेना चाहिए।" उनका यह कहना ठीक है। सिर्फ इसलिए नहीं कि हमारा देश दरिद्री है और शिक्षकों तथा विद्यार्थियों पर बहुत ज्यादा खर्च नहीं कर सकता, इसलिए हमें स्वावलम्बन चाहिए; बल्कि इसमें वस्तुत: शिक्षण की ही दृष्टि मुख्य है। देश की गरीबी हमें इसमें प्रेरणामात्र दे रही है।

देहाती विश्वविद्यालय कैसा हो?

इस दृष्टि से विचार करें, तो यह बात समझ में आ जायेगी कि हमारे देहाती विश्वविद्यालय का स्वरूप कैसा होगा। उसके शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों को जैसे सुसज्जित पुस्तकालय की आवश्यकता होगी, उसकी व्यवस्था कर दी जायेगी। उनको जो औजार चाहिए, वे दिये जायेंगे; जमीन आदि जो चाहिए, वह दी जायेगी और कुछ मकान भी बना दिये जायेंगे। शेष वे खुद बनायेंगे। इतना करने के बाद उनसे कहा जायेगा कि इसके आगे आपको और कोई चीज मिलनेवाली नहीं है। अब दोनों मिलकर एक सामूहिक जीवन जीयें और देश के सामने नमूना पेश करें कि उत्तम-से-उत्तम समग्र जीवन कैसा होता है। ऐसे विश्वविद्यालय में ज्ञान-चर्चा होगी, प्रयोग किये जायेंगे, उन प्रयोगों के जो नतीजे आयेंगे, वे देश के सामने रखे जायेंगे—यह सब होगा। लेकिन मुख्य चीज होगी कि सीखने और सिखानेवाले, दोनों अपने पैरों पर खड़े हैं, हाथों से काम करते हैं तथा अपनी रोटी कमाते हैं। जैसे-तैसे नहीं, बल्कि उत्तम-से-उत्तम तरीके से कमाते हैं, यह

दिखा देंगे। उनका जो काम वहाँ होगा, जो विद्या पढ़ायी जायेगी, जो औजार बनेंगे, जो मकान आदि बनेंगे, उन सब कामों में उनकी विद्या की झाँकी दीख पड़ेगी। हमारे विश्वविद्यालय के लिए किताबें पहले से नहीं बनेंगी। विश्वविद्यालय ही अपने लिए किताबें बाद में बनायेगा। उसके अनुभव में से ही दुनिया को किताबें मिलनेवाली हैं। अगर हमारा विश्वविद्यालय इस तरह काम करेगा तो देश के सामने एक नमूना पेश करेगा। वह बिना किसी शोरगुल के अपना काम करता रहेगा। ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव से जो चीज तैयार होगी, वह दुनिया के लिए भारी देन होगी।

प्रश्न : आप 'ग्राम-ग्राम में विश्वविद्यालय' की बात करते हैं। उस पर अधिक प्रकाश डालियेगा।

उत्तर : गाँव-गाँव में विश्वविद्यालय का अर्थ यह नहीं कि सारे-के-सारे विषयों का पूरा-का-पूरा अध्ययन गाँव में ही हो। वैसा तो बड़ी-बड़ी युनिवर्सिटियों में भी नहीं होता। पटना की सहूलियतें लखनऊ में नहीं होती। परन्तु पराक्रम के बहुत सरे क्षेत्र देहात में मौजूद हैं। वहाँ के जीवन को परिपूर्ण करने के लिए आवश्यक सामग्री वहाँ मौजूद है। अच्छे-से-अच्छे कवि, लेखक, बढ़ई, लुहार, किसान गाँव में क्यों न बनें? देहात के पाँच साल के बच्चे का शब्द-ज्ञान शहरी समवयस्क बच्चे से ज्यादा होता है। विकास का मौका मिले तो गाँव का लड़का शहरवाले से अधिक बढ़ जायेगा। गाँव में संगीत, कला, विज्ञान सबके लिए अधिक अनुकूलता है। इन सारी शक्यताओं का विनियोग करना चाहिए। कुछ विद्याएँ शहरों में ही बढ़ सकती हैं। आज देशभर में पाँच-सात ग्रामीण विद्यापीठ हैं, परन्तु मैं जेसा चाहता हँ—वैसे वे नहीं हैं।

एक घण्टे की पाठशाला तो सामान्य व्यापक शिक्षण के लिए है। पर गाँवों में इतने से ही हमारा संतोष नहीं होगा। अगर हर गाँव में जन्म से मृत्यु तक लोग रहते हैं और सारे काम होते हैं, तो हर गाँव में पूरे शिक्षण की व्यवस्था भी होनी चाहिए। साधारण शिक्षण गाँव में, उससे ऊँचा जिले में, उससे ऊँचा बड़े शहर में और उससे भी ऊँचा आगे और कहीं, इस तरह की योजना ही गलत है। जब जन्म से मृत्यु तक के सारे काम गाँव में चलते हैं, तो सब प्रकार के शिक्षण के साधन वहाँ मौजूद ही हैं। इसलिए मैं कहता हूँ और मेरा मानना है कि गाँव-गाँव में 'विश्वविद्यालय' जितनी ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है और वह होना चाहिए।

प्रश्न : आप जैसा कहते हैं, उसके अनुसार ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वज्ञान या समाज-शास्त्र के ज्ञान के लिए तो हर गाँव में व्यवस्था हो सकेगी, पर जिसे हम विज्ञान कहते हैं, उसका यानी उच्च टेक्निकल शिक्षण का तथा खोज का प्रबन्ध गाँव-गाँव में कैसे सम्भव है? हर गाँव में उसके लिए साधन कहाँ से आयेंगे?

उत्तर : जब मैं कहता हूँ कि हर गाँव में युनिवर्सिटी होनी चाहिए, तो मेरा मतलब यह नहीं है कि हर गाँव में हर चीज का पूरा ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। हर युनिवर्सिटी में हर 'फैकल्टी' यानी हर विषय के उच्च शिक्षण और खोज की व्यवस्था तो नहीं होती। दो जगहों में अन्य व्यवस्था समान हो, तब भी शिक्षार्थी उस जगह जाते हैं, जहाँ उस विषय का गुरु ज्यादा योग्य होता है। इसी तरह गाँवों की युनिवर्सिटी में होगा। सामान्य तौर पर ऊँचे-से-ऊँचे शिक्षण की व्यवस्था हर जगह रहेगी, पर जहाँ जंगल अधिक हैं, वहाँ "जंगल-शास्त्र' या 'लकड़ी-शास्त्र' या औषधि-विज्ञान की 'फैकल्टी' रहेगी। वह सब जगह नहीं हो सकेगी। यह भी समझ लेना चाहिए कि बहुत-सा उच्च ज्ञान भी सब-का-सब भौतिक साधनों पर अवलम्बित नहीं रहता। उदाहरण के लिए ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञान के लिए रोज दूरबीन से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी-कभी उससे देख लेना काफी होता है। तो अगर दूरबीन हर गाँव में नहीं रखी जा सकती, तब भी ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन गाँव-गाँव में हो सकता है। दूरबीन कहीं एक केन्द्रीय स्थान पर रखी जा सकती है, और जरूरत पड़ने पर वहाँ जाकर उसका उपयोग किया जा सकता है।

खोज (Research) के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं—दार्शनिक वृत्ति, हाथों से काम करने का अभ्यास और कुशलता तथा भौतिक साधन। गाँवों में दार्शनिक वृत्ति निर्माण होने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं है, यह तो हमने देखा। काम करने की कुशलता के लिए भी वहाँ पर्याप्त अवकाश है ही, क्योंकि वहाँ हर काम लोग स्वयं हाथों से करते हैं। भौतिक साधन भी अधिकांश वहाँ उपलब्ध हैं, क्योंकि सारी सृष्टि वहाँ खुली पड़ी है। जो साधन सब जगह उपलब्ध नहीं हो सकते हैं, उनकी चर्चा भी हमने ऊपर की है।

इस प्रकार गाँव-गाँव में सम्पूर्ण यानी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा और खोज को अवकाश है, और हर गाँव में उसका प्रबन्ध होना चाहिए। इसकी शुरूआत और तैयारी गाँव-गाँव में 'एक घण्टे की

पाठशाला’ से होनी चाहिए। आज तो ज्ञान सीमित है। ज्ञान को व्यापक बनाना हो और सबके लिए उसके दरवाजे खोलने हों, तो इसी प्रकार यह सम्भव होगा।

९. गाँव ही विद्यालय

नरसिंहावतार

हम लोग इस नयी तालीम की योजना बनाने में कच्चे हैं। खुद हमें जो तालीम मिली है, वह तो पुरानी ही है। मैंने अपने जीवन को ‘नरसिंह’ की उपमा दी है। नरसिंह पूरा पशु भी नहीं था, और न पूरा मनुष्य ही था। उसके पहले ‘वराह’ हुआ, वह पशु था। उसके बाद का 'वामन' मनुष्य था। लेकिन यह बीच का जो नरसिंह अवतार है, वह सब अवतारों से भयंकर है। वैसे ही हम लोग भयंकर हैं, जिन्होंने तालीम तो पुरानी पायी है और विचार सोचा है नयी तालीम का।

मुख में नाम, हाथ में काम

मैं तो यह मानता हूँ कि जो शिक्षण-पद्धति हम चलाना चाहते हैं, उसके लिए एक कौड़ी की भी जरूरत नहीं होनी चाहिए। भगवद्गीता में कहा है—**त्यक्तसर्वपरिग्रह: शारीरं केवल कर्म**—सारा परिग्रह छोड़कर शरीर से काम करो।

मान लीजिए, मैं किसी देहात में जाकर नयी तालीम चलाना चाहता हूँ, तो वहाँ के मजदूरों के साथ खेत में काम करने जाऊँगा और खेत का मालिक जो मजदूरी देगा, उस पर गुजारा करूँगा। इस तरह अगर मैं जीना शुरू कर दूँगा तो नयी तालीम का उत्तम शिक्षक बनूँगा। हमारे जो उत्तम शिक्षक हो गये हैं, उन्होंने प्राचीन काल में इसी तरह काम किया है। कबीर एक उत्तम शिक्षक थे। उनकी तालीम को हिन्दुस्तान के लोग अभी तक भूले नहीं हैं। ऐसे ही एक शिक्षक वल्लुवर ने, तमिलनाड को सर्वोत्तम शिक्षा दी है। नामदेव दर्जी का काम करते थे तो कबीर, वल्लुवर बुनने का काम। ऐसे ही दूसरे संत हो गये, जो कुछ-न-कुछ काम करते थे। उन्होंने हमें सिखाया है कि “मुख में परमेश्वर का नाम और हाथ में उत्पादन का काम।” तो अब मैं पूछूँगा कि देहात में जाकर खेत में काम करने के लिए सिवा मेरे दो हाथों के और मुझे क्या चाहिए?

औजार बनाने में तालीम

गाँव में जाने से लोग डरते हैं। गाँव में जितना प्रेम है, उसकी तुलना शहरवाले अपने जीवन से करें, तो मालूम होगा कि शहरवालों का जीवन कितना दरिद्री है। ग्राम में एक समष्टि-जीवन है। शहर में हरएक का जीवन अलग-अलग है। शहर में लोग अपने स्वार्थ के लिए इकट्ठे हुए हैं। इसीलिए किसी कवि ने कहा है कि “भगवान ने ग्राम निर्माण किये और मनुष्य ने शहर।” अगर शिक्षण की योग्यता रखनेवाला मनुष्य मजदूरों में जाकर काम शुरू कर देगा, तो वह खुद सीखेगा और उन्हें भी सिखायेगा। वहाँ के लड़कों को हम रात को या दोपहर को, जब समय मिलेगा, तब सिखा सकते हैं। अगर आपको चरखे की जरूरत पड़ी तो वह चरखा अपना दाम पन्द्रह दिन में चुका देगा। अगर आप तकली की जरूरत समझें तो तकली अपनी कीमत एक दिन में चुका देगी। यही उन छोटे-छोटे औजारों की खूबी है। आप अपने औजार खुद भी बना सकते हैं। और अगर बनाते हैं, तो आप देखेंगे कि नयी तालीम के लिए वह बहुत अच्छा विषय हो जाता है। इसलिए शरीर-परिश्रम-निष्ठा, अपने देहाती भाइयों पर प्रेम, काम करने की काबिलियत और वैज्ञानिक दृष्टि लेकर स्वतंत्र बुद्धि से आप गाँव में जाइए और आपको जैसा सूझे, उस तरह से तालीम देना शुरू कर दीजिए।

विद्यालय ग्राम-विकास का केन्द्र

हमारे स्कूल का शिक्षक सारे गाँव का सेवक भी होना चाहिए। गाँव की शाला सेवा का केन्द्र होगी। गाँव को औषधि देनी है, तो वह स्कूल की मार्फत दी जायेगी और लड़के उसमें मदद देंगे। गाँव में सफाई करनी है तो शाला उसका केन्द्र बनेगी और स्कूल के लड़के तथा शिक्षक गाँववालों की मदद करेंगे। गाँव में अगर कोई झगड़े होते हैं, तो उनका निर्णय करने के लिए भी लोग गाँव के शिक्षक के पास पहुँचेंगे। गाँव में कोई उत्सव करना है, तो उसकी योजना भी शाला करेगी। इस तरह गाँव का केन्द्र-स्थान विद्यालय बनेगा। जो चीज गाँव में है, उसका विकास विद्यालय करेगा और जो चीज गाँव में नहीं है, उसकी स्थापना करेगा। कल हम खेती और बुनाई की चर्चा कर रहे थे। खेती का महत्त्व है, क्योंकि वह सारे देहातों में चल रही है। बुनाई का महत्त्व है, क्योंकि वह

कहीं चल नहीं रही है। इसलिए विद्यालय के लोग खेती का विकास करेंगे और बुनाई की स्थापना करेंगे।

पैसे की तुलना वस्तुओं से न करें

खेती या बुनाई में से अथवा बढ़ई-काम में से हमें कितना पैसा मिलेगा, यह सवाल गलत है। हमें समझना चाहिए कि बुनाई से हमें पैसा नहीं मिल सकता। उससे कपड़ा मिलेगा। खेती से हमें पैसा नहीं मिलेगा, बल्कि अनाज मिलेगा। बढ़ई-काम से हमें पैसा नहीं मिलेगा, बल्कि मकान मिलेगा। इन चीजों की पैसे के साथ हम तुलना ही नहीं कर सकते। दूध की कीमत ज्यादा है और पानी का कम, ऐसा लोग कहते हैं। लेकिन मैं पूछता हूँ कि "प्यास लगने पर क्या दूध से काम चलेगा?" बात ऐसी है कि परमेश्वर की सृष्टि में जो चीज अत्यन्त महत्त्व की होती है, वह सबको आसानी से मिल जाये, ऐसी योजना है। इसलिए पैसे का खयाल छोड़कर सारे जीवन को पूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए।

गाँव की मिसाल दुनिया के लिए

हमारे सब कामों का आधार शिक्षकों पर है। इसलिए हिन्दुस्तान और दुनिया में क्या चल रहा है, इसका उत्तम अभ्यास हमारे शिक्षकों को होना चाहिए और जो-जो मुश्किलें देश के सामने आती हैं, उनका हल शिक्षकों के पास तैयार रहना चाहिए। कल चर्चा चल रही थी कि क्या हिन्दुस्तान अपना सारा अनाज खुद पैदा कर सकता है? एक भाई ने कहा, "इसका उत्तर तो कृषिमंत्री भी नहीं दे सके, तो हमारे शिक्षक कया देंगे!" लेकिन मैं कहता हूँ कि कृषिमंत्री एक दफा इसका उत्तर न दे सके, लेकिन हमारे शिक्षकों के पास इसका उत्तर होना चाहिए।" इसका कारण यह है कि कृषिमंत्री को विश्वरूप-दर्शन है और विश्वरूप-दर्शन से तो अर्जुन भी घबरा गया था। लेकिन हमारा शिक्षक एक गाँव को सारी दुनिया समझेगा। इसलिए अगर उस गाँव का मामला वह हल करता है, तो सारी दुनिया का मसला हल हो सकता है, इसका दर्शन उसे होगा। वह कृषिमंत्री को सलाह दे सकता है। वह कह सकता है कि हमारे गाँव में आकर देखिए, हमने अनाज

का मसला कैसे हल किया है। ऐसे सब प्रयोग व्यापक दृष्टि से हमारे यहाँ चलने चाहिए और हमारे देश की कठिनाइयों का हल नयी तालीम में से हमें मिलना चाहिए।

सत्य-निष्ठा का विकास करें

अब एक बात और, जो ऊपर की सब बातों से भी जयादा महत्त्व की है। वह है सत्य-निष्ठा। अपने स्कूलों में सत्य-निष्ठा निर्माण करने का हमें अधिक-से-अधिक प्रयत्न करना चाहिए। लड़कों पर हमेशा विश्वास ही रखना चाहिए। लड़का जो भी कहता है, सही है—ऐसा समझकर चलना चाहिए। जो सत्यनिष्ठ होता है, वह दूसरे पर हमेशा विश्वास रखता है।

पुरानी बात है। मैं उस समय काशी में था। एक दुकान पर मैं ताला खरीदने गया था। मेरी आदत है कि चीज लेनी न भी हो, तो भी उसके दाम पूछ लेना। इसलिए मैं ताले की कीमत जानता था। दुकानवाले ने ताले की कीमत दस आने बतायी। मैं जानता था कि उसकी कीमत तीन आने है। मैंने दुकानवाले से कहा; “इस ताले की कीमत तीन आने है, यह मैं जानता हूँ। लेकिन तुम दस आने कहते हो, तो मैं दस आने दे देता हूँ।” दस आने देकर मैं ताला ले आया। उस दुकान पर से होकर मेरा घूमने का रास्ता था, अत: मुझे रोज उस दुकान पर से गुजरना पड़ता था। दो-तीन हफ्तों के बाद उस दुकानवाले ने देखा कि मैं दुकान पर से जा रहा हूँ और दुकान पर दूसरे ग्राहक नहीं हैं, तो उसने मुझे बुलाया। उसने कहा, “ताले के दाम तीन आने थे, ये सात आने वापस ले जाइए।” मुझे ऐसी कोई अपेक्षा नहीं थी। मुझे लगा कि ईश्वर ने मुझे सत्य-निष्ठा का बोध दिया। लेकिन हो सकता है कि परमेश्वर हमेशा ऐसा न करे। वह भक्त की ज्यादा कसौटी कर सकता है। इसलिए लोगों के दिल पर हमारी सत्य-निष्ठा का कोई असर न हो तो भी हमें सत्यनिष्ठ ही रहना चाहिए।

८. आचार्यकुल

इन दिनों मनुष्य का दिमाग इतना व्यापक बन गया है कि आज न्यूटन जैसे ज्ञानी और व्यास जैसे भगवान भी छोटे पड़ गये हैं। उनको जितना ज्ञान था, उससे बहुत ज्यादा ज्ञान हमारे पास है। दिमाग इतना बड़ा हो गया है, पर दिल छोटा ही रह गया है।

हम कौन हैं? हम हरिजन हैं, हम भूमिहार हैं, हम सिक्ख हैं, हम ब्राह्मण हैं। हम इस पार्टी के हैं, वह उस पार्टी का हैं। प्रत्येक के साथ गुट लग गया है, पार्टी लग गयी है। मैंने कहा ही है, 'जाति, धर्म, पंथ, भाषा, पक्ष, प्रान्त—इन सबका अन्त होगा तभी सर्वोदय होगा।' ये सारी छोटी-छोटी चीजें लोगों के दिमाग में पड़ी हैं, इसका मतलब है कि हम लोग इस जमाने के लायक नहीं हैं।

विज्ञान को हम पीछे नहीं हटा सकते। तो, अब सिवा इसके कोई चारा नहीं कि हम अपने दिल को बड़ा बनायें। हमको यह नहीं समझना चाहिए कि ‘यह आदमी छोटा है या वह आदमी बड़ा है’, ‘हम भारत के हैं और वह पाकिस्तान का है'। अब ऐसी बात नहीं चलेगी। हमारे लिए 'जय जगत्' ही ठीक है। हम विश्व-नागरिक हैं, विश्व-मानव हैं।

यह हैसियत अगर अध्यापकों की न हो तो और किसकी होगी? यह हैसियत आम जनता की हो नहीं सकती। वे तो अपने छोटे-से परिवार या अपने छोटे-से गाँव के बारे में ही सोच सकते हैं। शिक्षकों का दिमाग ऊँचा होना चाहिए और उनका दिल व्यापक होना चाहिए। इस वास्ते हम आशा करते हैं कि विद्वत्-जनों की जमात जब खड़ी हो जायेगी और 'आचार्यकुल' की स्थापना हो जायेगी तब एक नयी शक्ति उत्पन्न होगी और उसके परिणामस्वरूप देश का स्वरूप बदल जायेगा।

आज हिन्दुस्तान की परिस्थिति बहुत शोचनीय है। क्या-क्या भयानक घटनाएँ यहाँ हो रही हैं, यह पूछने के बजाय यही पूछना बेहतर होगा कि कौन-सी नहीं हो रही। इसलिए अन्दर से बहुत वेदना का अनुभव हो रहा है। बाबा भारतभर पैदल घूमा, अपनी आँखों से भारत की दीन-हीन दशा देखी। खाने को अन्न नहीं, ओढ़ने को वस्त्र नहीं, घर पर छप्पर नहीं, बच्चों को दूध नहीं,

जिस जमीन पर झोपड़ी बनी है, वह जमीन भी उसकी नहीं, दवा का प्रबन्ध नहीं, तालीम का सवाल ही नहीं।

नैतिक शक्ति की प्रथम जिम्मेवारी

आज जनता की हालत अच्छी नहीं है, उसके लिए अपनी-अपनी रीति से हम सब जिम्मेवार हैं। सरकार की जिम्मेवारी ज्यादा है यह बात अपनी जगह है, लेकिन जहाँ तक नैतिक जिम्मेवारी का सवाल है, मानना चाहिए कि सरकार के बाद अगर किसी की जिम्मेवारी है, तो वह आचार्यों की है। भारत में प्रजातंत्र है और लोगों ने सरकार को वोट दिये हैं, इसलिए पहली जिम्मेवारी सरकार की मानी गयी। परन्तु तटस्थ बुद्धि से देखा जाये, तो माना जायेगा कि प्रथम जिम्मेवारी आचार्यों की ही है, क्योंकि वह ज्ञानी वर्ग है। आचार्य विद्वत् जन हैं। उनके नेतृत्व में, मार्गदर्शन में देश का कारोबार चलना चाहिए। यह नहीं कि कानूनी तौर पर वे दखल दें। लेकिन किसी विषय पर उनकी जो सर्वसम्मत राय होगी, उसकी ओर ध्यान न देकर टाला जाये तो देश खतरे में है।

मैं अपने को शिक्षक मानता हूँ और अगर मैं अध्ययन-अध्यापन का काम करता रहता तो मुझे उससे अधिक खुशी और किसी काम में न होती। लेकिन मैं सेवा के लिए बाहर निकल पड़ा, क्योंकि भारत खतरे में है। ऐसी हालत में पराक्रम करने के लिए आचार्य बाहर आयेंगे या जनानखाना की बहनों के समान अपने विद्यास्थान में पड़े रहेंगे? शिक्षकों को भी आगे आना चाहिए और संगठित होना चाहिए। करुणा के बिना विद्या का उपयोग नहीं।

हम शिक्षकों की हैसियत बहुत ऊँची समझते हैं। सारे देश को, सारी जनता को उनसे मार्गदर्शन मिलना चाहिए और इस वास्ते राजनैतिक दलबन्दी से, सत्ता की राजनीति से हमें अलग रहना है। हम अपने को भारत का शान्ति-सैनिक समझते हैं और शान्ति-स्थापित करने का सर्वोत्तम शस्त्र हमारे पास है शिक्षा, ज्ञान-शिक्षा। इससे बढ़कर शान्ति-स्थापना का शस्त्र क्या हो सकता है?

अशान्ति-शमन आचार्यों द्वारा हो

आज सरकार के पास शिक्षण-विभाग भी है और पुलिस-विभाग भी है। सरकार को पानी भी रखना पड़ता है और आग भी रखनी पड़ती है, ऐसी आज की विचित्र परिस्थिति है। शिक्षण-

विभाग का कार्य तभी सफल हुआ माना जायेगा, जब सरकार को मिलिटरी और पुलिस-विभाग रखना ही न पड़े। शिक्षकों का वर्चस्व समाज पर हो, ऐसा जगत् हमें बनाना है। आज तो युनिवर्सिटी कैम्पस में पुलिस प्रवेश करती है। क्योंकि दंगे होते हैं तो पुलिस कहती है कि 'लॉ एण्ड ऑर्डर' रखना हमारा काम है। इसलिए हमें वहाँ जाना पड़ता है और अशान्ति का दमन करना पड़ता है। अशान्ति का दमन तो पुलिस करेगी, परन्तु अशान्ति का शमन कौन करेगा? वह पुलिस नहीं कर सकती। अशान्ति का शमन तो विद्यार्थी और अध्यापक करेंगे। आज शमन-प्रक्रिया कुण्ठित हो गयी, इसलिए दमन-प्रक्रिया जोरों से चली है। लेकिन प्रोफेसरों और युनिवर्सिटी को मालूम होना चाहिए कि उनका कैम्पस सिर्फ युनिवर्सिटी तक सीमित नहीं है, सारा भारत ही यूनिवर्सिटी का अहाता है और उसमें पुलिस काम करती है तो वह आचार्य एवं शिक्षकों के लिए लांछन है। आचार्य लोगों को विचार समझाते हैं, विचार-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन करते हैं और जीवन-परिवर्तन की दिशा दिखाते हैं। समाज में कहीं अशान्ति हुई तो शिक्षक अपने विचार एवं नैतिक शक्ति द्वारा अशान्ति-शमन करें, ताकि सरकार की दण्ड-शक्ति को अशान्ति-दमन के लिए मौका ही न मिले। शिक्षा-अस्त्र के द्वारा अशान्ति का शमन करना और भारतभर में शान्ति की स्थापना करना यह उनका कर्तव्य होना चाहिए। इसीलिए मैं तो शिक्षकों का परिचय शान्ति-सैनिक संज्ञा से करता हूँ। पुलिस-विभाग अशान्ति दमन का काम करेगा। शिक्षा-विभाग होगा अशान्ति-शमन-विभाग। अगर शमन होता है तो दमन की जरूरत नहीं रहती है। तो, अशान्ति-शमन के लिए सब आचार्यों को इकट्ठा होकर व्यापक योजना करनी होगी।

शासन-अनुशासन में फर्क

प्राचीन काल में, बारह साल ब्रह्मचर्य पालन करने के बाद, जो विद्यार्थी घर जाना चाहते थे, उनको आचार्य अन्तिम उपदेश देते थे—**सत्यं वद, धर्मं चर** इत्यादि। उसके अन्त में जिक्र आया है—**एतद् अनुशासनम्**—यह है अनुशासन। **एवं उपासितव्यम्**। इस अनुशासन पर आपको जिन्दगीभर चलना है। तो आचार्यों का होता है अनुशासन और सत्तावालों का होता है शासन।

आचार्यों के अनुशासन में शान्ति

अगर शासन के मार्गदर्शन में दुनिया रहेगी, तो दुनिया में कभी भी समाधान होनेवाला नहीं है। उसके बदले अगर आचार्यों के अनुशासन में दुनिया चलेगी, तो दुनिया में शान्ति रहेगी। लेकिन दुनिया की बात छोड़ दीजिये, फिलहाल भारत में भी आचार्यों का अनुशासन लोगों को मिलता रहे और उस मार्गदर्शन में प्रजा अगर चले तो प्रजा में शान्ति रहेगी, इसमें कोई शंका नहीं।

आचार्यकुल से अपेक्षा

आचार्यकुल से हमने तीन अपेक्षाएँ रखी हैं—(१) अपनी जमात बढ़ाना, (२) ग्रामदान आदि करुणाकार्य में मदद करना, (३) राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर तटस्थ चिन्तन प्रकट करना।

दुनिया में जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, वे सब शिक्षकों ने की हैं। इसलिए शिक्षकों को अपनी स्वतंत्र शक्ति खड़ी करनी चाहिए। हिन्दुस्तान के तमाम शिक्षक 'आचार्यकुल' में आ जायेंगे, तो ग्राम-शक्ति और आचार्यों की ज्ञान-शक्ति मिलकर एक 'तीसरी शक्ति' खड़ी होगी, जिसके आधार से भारत खड़ा रहेगा।

आचार्य विद्यार्थियों को सिखायेंगे, वह तो उनका काम है ही, उसके अलावा एक-एक शिक्षक एक-एक देहात दत्तक ले। हिन्दुस्तान में पाँच लाख गाँव हैं तो पाँच लाख शिक्षक तैयार हों। उन्हें गाँव का गोकुल बनाना है। गाँव को सिखाना है कि 'कपड़ा बनाओ और मक्खन खाओ।' पैसे का अर्थशास्त्र छोड़ो इत्यादि। यह काम आचार्यों को करना है। इतना बड़ा काम आचार्यकुल के सामने पड़ा है।

फिलहाल राष्ट्रव्यापी संगठन हो

आचार्यकुल अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए नहीं है। उसके लिए दूसरी संस्थाएँ हैं। यह तो अपने कर्तव्य के प्रति जाग्रत और प्रयत्न करने के लिए है।

आज भारत में विद्वत्-जनों की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गयी है। आज शिक्षकों का धर्मरथ नीचे गिर गया है। वह भूमि के ऊपर होना चाहिए। इस देश की सबसे श्रेष्ठ शक्ति ज्ञान-शक्ति मानी गयी। लेकिन आज ज्ञान-शक्ति नौकर की हैसियत में आ गयी है। आचार्यों को अपनी हैसियत फिर

से प्राप्त करनी होगी। उसका सीधा-सादा और सरल रास्ता है—अपने को पहचानना। जिसने अपने को पहचाना वह नया मानव बन गया। दृष्टि आयी तो सृष्टि बदल गयी। निश्चय का बल चाहिए।

इसके लिए प्रथम आचार्यों का संघटन करना होगा। एक जिले के लिए कम-से-कम एक आचार्य माना जाये तो भी ३५०-४०० आचार्य ढूँढ़ने पड़ेंगे। आपको अगर भारत में सफलता मिल जाये तो इसका जागतिक आन्दोलन भी करना चाहिए, क्योंकि बाबा 'जय जगत्' बोलता है। फिलहाल तो मैंने भारत तक अपने को सीमित माना है।

शंका-निरसन

प्रश्न : अशान्ति-शमन की जिम्मेवारी उठाने का मतलब तो 'लॉ एण्ड ऑर्डर' की जिम्मेवारी उठाने जैसा है?

उत्तर : 'लॉ एण्ड ऑर्डर' की जिम्मेवारी आपकी नहीं, आप पर नैतिक प्रभाव की जिम्मेवारी है। यदि समाज पर शिक्षकों का नैतिक प्रभाव नहीं पड़ेगा, तो और किसका पड़ेगा? यदि उनका प्रभाव न पड़ता हो तो शिक्षकों को मानना होगा कि उनमें कुछ कमी है। जैसे बहुत ज्यादा विद्यार्थी नापास होते हैं तो वह आपकी जिम्मेवारी है, वैसा ही यह है। इसमें शब्द-शक्ति का सवाल है। शब्द-शक्ति कम पड़ने के तीन कारण हैं—१. तपस्या की कमी, २. प्रिसाईज (ठीक) शब्द बोलना आता नहीं और ३. समझाने का स्तर बना नहीं। कोई मेरी बात न समझे तो समझाने की कुशलता बढ़ाना यही एकमात्र शस्त्र है।

प्रश्न : आचार्यकुल का निर्णय सर्वसम्मति से होगा या बहुमत से?

उत्तर : अगर बहुमत का कानून लागू किया जाये तो बाबा स्वयं 'होपलेस मेन' सिद्ध होगा। बाबा आपके साथ बात करता है और आपको वह बात जँचती है तो आप उसे स्वीकार करते हैं। इसलिए जहाँ बुद्धि का, चिन्तन का सवाल है, वहाँ बहुमत का काम नहीं है। दस मनुष्यों से ज्यादा बेहतर सलाह एक मनुष्य दे सकता है। इसलिए सर्वसम्मति का ही नियम रखा जाये। जितना सर्वसम्मति का विचार होगा, वह अपना विचार समझा जायेगा।

प्रश्न : किसी विचार पर कोई निष्पक्ष रहा तो क्या समझा जायेगा?

उत्तर : कोई विचार आया और किसी ने उस पर विरोध नहीं किया, तो उसे सम्मति ही समझी जायेगी। प्रत्यक्ष रूप से कोई विरोध करेगा तो विरोध माना जायेगा।

प्रश्न : आज दुर्जन शक्ति सुसंघटित और सफल हो रही है। सज्जन शक्ति दिन-ब-दिन विघटित, उदासीन और निष्क्रिय बन रही है। सज्जन लोग अपनी बुद्धिमत्ता के कारण और भिन्न मन:स्थिति के नाम से संघटित नहीं होते। यही मुख्य समस्या है।

उत्तर : बहुत महत्त्व का प्रश्न है। सज्जनों में प्राय: अहंकार, जिसको सेल्फ राइचसनेस (अहंपावित्र्यवाद) कहते हैं, वह दीखता है। इसी कारण वे संघटित होते नहीं। उधर डाकू लोग संघटित होते हैं। संघटन यही डाकुओं की शक्ति है। लेकिन सज्जनों को लगता है कि वे स्वयंभू महादेव हैं। जिनको आवश्यकता है, वे हमारे पास आयेंगे। यह 'अहं' बहुत मारक है।

इसलिए भगवान ने गीता में दैवी-सम्पत्ति के आखिर में 'नातिमानता—अतिमान न होना बताया। मैंने इसका अनुवाद 'नम्रता' किया है। मतलब सज्जनों को नम्रता की आवश्यकता है। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सज्जनों ने इतने साल मार खायी है तो अब उन्हें अक्ल आयी होगी और संघटित होने की अनिवार्यता वे महसूस करते होंगे ऐसी मुझे आशा है।

प्रश्न : आचार्यकुल का सर्वप्रथम कार्यक्रम कौन-सा होगा?

उत्तर : शान्तिसेना का। भारत में एक लाख शान्तिसैनिक खड़े करके उसके द्वारा दुनिया को बचाने का बहुत बड़ा काम किया जा सकता है।

प्रश्न : राजनीति से मुक्त रहने का मतलब क्या वोट न देना है? यह तो मनुष्य के मूलभूत अधिकार पर बंधन है।

उत्तर : वह आपका हक है, इसमें कोई शक नहीं। परन्तु हम तो आपका कर्तव्य क्या है, यह तय कर रहे हैं। मुझे भी चुनाव में भाग लेने का हक है। संविधान ने अधिकार दिया है। परन्तु मैं उसका उपयोग करना ठीक नहीं मानता। उससे ऊपर उठना चाहता हूँ। हक है, लेकिन वह छोटी चीज है। हक तो बेवकूफ को भी है और अक्लवाले को भी है। अक्लवाला तय कर रहा है कि मैं

हक का इस्तेमाल नहीं करूँगा। आत्मरक्षा में किसी को मारने का आपको हक है, लेकिन आचार्य के नाते मैं आपसे कहूँगा कि प्रेम से समझाना आपका कर्तव्य है।

प्रश्न : आचार्यकुल के सदस्यत्व के लिए एक शर्त रखी है कि वह किसी राजनैतिक पक्ष का सदस्य न हो। इस शर्त का क्या प्रयोजन है?

उत्तर : प्रयोजन स्पष्ट है। जो राजनैतिक पक्ष का सदस्य होगा उस पर राजनैतिक पक्ष का अंकुश चलेगा। राजनैतिक पक्ष उस पर 'डिसिप्लिनरी ॲक्शन' भी ले सकता है। यह अच्छा है कि शिक्षक इस बन्धन से मुक्त रहे।

प्रश्न : शिक्षक नागरिक भी है। मत देना उसका अधिकार है। जो मत उसको जँचेगा, उसका प्रचार वह प्रांजलता से करे, इसमें गैरवाजिब क्या है?

उत्तर : गैरवाजिब कुछ नहीं, अच्छा है। परन्तु अधिक अच्छा यह है कि नागरिकत्व का अपना अधिकार छोड़कर आचार्यत्व का अधिकार प्राप्त करने के लिए वह इस कार्य से अलिप्त रहे। पहला अच्छा है, दूसरा अधिक अच्छा है।

प्रश्न : यह ठीक है कि शिक्षक के नाते व्यवहार करते हुए शिक्षकों को राजनैतिक पक्ष-नीति से अलिप्त रहना चाहिए। परन्तु नागरिक के नाते व्यवहार करते हुए राजनैतिक विचार का प्रचार करना गलत क्यों है?

उत्तर : जो राजनैतिक विचार मान्य हो गये हैं, उनका व्यक्तिगत रूप से प्रचार करने के बदले, सब शिक्षक इकट्ठा होकर समूहरूपेण अपना अभिप्राय निश्चित करें और सबका मिलकर जो विचार होगा उसका प्रचार करें। उससे ज्यादा ताकत पैदा होगी। हरएक व्यक्ति अपना अलग-अलग प्रचार करने लगेगा तो दुनिया में ऐसे अनेक हैं उनमें यह भी एक शामिल हो जायेगा। मतलब, उससे शक्ति खड़ी नहीं होगी। शक्ति के लिए कया करना पड़ता है? समूह को इकट्ठा आना होता है। फिर सामूहिकरूप से, सब शिक्षक मिलकर जो तय करेंगे, वह करना उचित है।

प्रश्न : अगर शिक्षक नागरिक के नाते जोश के साथ राजनीति में शरीक होगा तो राजनीति शुद्ध होने में मदद नहीं होगी?

उत्तर : यह प्रयोग अनेक नदियों ने करके देखा है। गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, ताप्ती, नर्मदा ये सब मीठे पानी की नदियाँ, इन्होंने उस समुद्र को मीठा बनाने की खूब कोशिश की। भर-भरकर वे समुद्र में जाकर मिलने लगीं। लेकिन वह समुद्र कभी मीठा बना नहीं। इसलिए मेरा सुझाव है कि इन सब नदियों से हम शिक्षा लें।

प्रश्न : वोट नहीं देने की निष्ठा वर्तमान राजनीति की विकृतियों के विरोध में है, यह समझा जा सकता है। लेकिन इसका भावात्मक विकल्प कया होगा? यदि जनता अपना उम्मीदवार खड़ा करने की स्थिति में आये तो क्या तब भी हम वोट न दें?

उत्तर : आप लोग जानते हैं, एक पार्टी आयी थी, उसे लोगों ने वोट भी दिया और नोट भी दिये, दोनों दिये। क्या करते हो वोट और नोट को! वह पार्टी फिसल पड़ी, गिर गयी, निकम्मी साबित हो गयी। इस वास्ते आपको किसी को वोट नहीं देना चाहिए। जिसे डेमोक्रसी कहते हैं, उसे मैंने नाम दिया है 'डिमनॉक्रसी'। क्योंकि उसमें है ४९ = ०, ५१ = १००। ऐसी यह राजनीति है। इसलिए याद रखो, **राजनीति असुरेर शास्त्र**। राजनीतिवाले आयेंगे और जायेंगे। उसमें आपको नहीं पड़ना चाहिए।...लोकतंत्र का विकल्प है नहीं। अगर हो सकता है तो आचार्यकुल हो सकता है।

प्रश्न : आचार्यकुल तथा शान्तिसेना के लिए आपने वोट न देने की जो शर्त लगायी है, उसके कारण संघटन बनाने में बड़ी कठिनाई हो रही है।

उत्तर : ये लोग आसान काम चाहते हैं। आसान काम है घर की सेवा, वह करो। कठिन काम ही तो आपको करना है। वोट न देना कठिन मालूम होता है! जिसको 'बूथ' कहते हैं उसको बाबा ने नाम दिया है, भूत! बाबा ने भूत का दर्शन जीवनभर में कभी किया ही नहीं। गांधीजी के जमाने में भी नहीं किया और बाद में भी नहीं किया। आप भी 'भूत' मत देखो।

प्रश्न : आचार्यकुल की अपरिहार्यता को कैसे जँचा देंगे?

उत्तर : यह बहुत ही कठिन सवाल आपने पूछा। बाबा के सामने बहुत बड़ा प्रचण्ड प्रश्न उपस्थित किया। इस दुनिया के अस्तित्व की ही अपरिहार्यता, बाबा को महसूस नहीं होती। इस

दुनिया में अपरिहार्य कुछ भी नहीं है। मान लीजिए, अभी भूचाल होता है और हम सब नीचे धँस जाते हैं तो दुनिया का कुछ बिगड़ने वाला नहीं। इसलिए अपरिहार्य कुछ भी नहीं। परन्तु आचार्यकुल का विचार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है, इतना भी हम समझा सकें, तो पर्याप्त है।

[आचार्यकुल के सम्बन्ध में विनोबा वाङ्मय खण्ड १६ में पृष्ट १७० से १७४ तक विस्तार से कई मुद्दे आये हैं। कृपया विषय की पूर्णता की दृष्टि से वहाँ देखें।]

स्फुट

फौजी मनोवृत्ति खत्म करो

आज यह खतरा बढ़ रहा है कि देश धीरे-धीरे फौजी तालीम की दिशा में जा रहा है। कहा जाता है कि उससे देश में अनुशासन आयेगा। कहा जाता है कि पड़ोसी देशों का वातावरण देखकर हमें भी तैयार रहना चाहिए। यह विचार यदि जोर पकड़ेगा तो शिक्षा को भारी नुकसान पहुँचेगा। अनुशासन के नाम पर यदि पंखियों को मारना सिखाया जायेगा तो हिंसा की शक्ति तो आयेगी नहीं, परन्तु उसकी वृत्ति जरूर आयेगी। यह चीज खतरनाक है। उसमें हम अहिंसा की शक्ति जो कि भारत की अपनी खास शक्ति है, वह खोयेंगे और हिंसा की शक्ति भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। **इदं च नास्ति परं न लभ्यते** जैसा हाल होगा, इसलिए फौजी तालीम के बारे में सावधान हो जाना चाहिए। इन दिनों जगह-जगह राइफल क्लब खोले जाते हैं। हमें सावधान रहना चाहिए कि हिंसा-शक्ति-रहित हिंसा-वृत्ति पनपेगी तो हम अत्यन्त क्षीण हो जायेंगे। सिर्फ नयी तालीम नहीं, समग्र तालीम के लिए इसमें बड़ा खतरा है। इसके सामने अन्य सारे सवाल गौण हैं। देश और दुनिया का उद्धार लश्करी मनोवृत्ति बढ़ाने से कतई नहीं होगा।

भारतभर की एक लिपि : नागरी

भारत की राष्ट्रीय एकता और पारस्परिक व्यवहार के लिए भारतवासियों ने राष्ट्रभाषा के तौर पर हिन्दी को मान्य किया है। जिन कारणों से ‘सबकी बोली' के रूप में हिन्दी का स्वीकार हुआ है, उन्हीं कारणों से नागरी का भी 'सबकी लिपि' के तौर पर स्वीकार होना चाहिए।

भारत की एकता के लिए हिन्दी भाषा जितना काम देगी, उससे ज्यादा देवनागरी लिपि काम देगी। एक जमाने में संस्कृत ने जोड़ने का काम किया था, आज हिन्दी भाषा वह काम नहीं कर पा रही। क्योंकि हिन्दीवाले दूसरी भाषा सीखते नहीं और कहते हैं कि दक्षिणवाले हिन्दी सीखें। इसलिए अभी जोड़ने का काम हिन्दी के बदले नागरी लिपि ही ज्यादा कर पायेगी।

आज यूरोप में एक होने की इच्छा जाग रही है। छोटे-छोटे देशों का एक कॉमन मार्केट बना है, तो आगे जाकर संरक्षणादि बातें भी कॉमन हो सकेंगी। इस भावना को मदद करनेवाली एक

कॉमन लिपि, रोमन लिपि वहाँ चलती है, इसलिए वे एक-दूसरे की भाषा कुछ दिनों में ही सीख सकते हैं और एक-दूसरे का सम्पर्क भी बढ़ सकता है।

कुछ लोग अपने यहाँ भी देवनागरी के बजाय रोमन लिपि को कॉमन करने की बात करते हैं। रोमन लिपि में अनेक गुण हैं, परन्तु अनेक दोष भी हैं। उन दोषों से थककर बर्नार्ड शॉ ने तो अंग्रेजी के लिए कोई नयी लिपि ढूँढ़ी जाये ऐसा चाहा था और उसके लिए अपनी सम्पत्ति का कुछ हिस्सा भी अलग रखा था। उस सन्दर्भ में जो लिपि सुझायी गयी थी, उसका नमूना मुझे ‘लंदन टाइम्स' में देखने को मिला। तो उसमें मैंने पाया कि उसका रोमन के साथ विशेष साम्य नहीं था, बल्कि उसमें नागरी के गुण लाने का प्रयत्न किया गया था, जबकि अपने यहाँ लोग रोमन लिपि सुझा रहे हैं!

बच्चों का शिक्षण

बिलकुल छोटे बच्चों को एक ही विषय का शिक्षण देने से काम नहीं चलेगा। साथ ही उन पर अनेक विषयों का बोझ लादना भी व्यर्थ है। उनके लिए एक ही विषय रखना हो तो वह होगा 'जीवन-विकास'। उसके तीन अंग हैं—वाणी, शरीर और मन।

१. वाणी के लिए—अच्छे भजन, कविता आदि मधुर कण्ठ से और स्वच्छ आचरण से पढ़ना तथा अर्थ का सामान्य ज्ञान। वाचन, वाक्प्रकाशन और सत्य-प्रिय-संयत वाणी का अभ्यास।

२. शरीर के लिए—खुली हवा में उद्योग, अदल-बदलकर दिनभर कुछ-न-कुछ काम। खेल, हित-मितयुक्त आहार, दिनचर्या, ऋतुचर्या, निसर्गोपचार का ज्ञान और तदनुसार उचित आचरण।

३. मन के लिए—व्यवहार-बर्ताव कैसा हो, सबके लिए उपयोगी कैसे बनें, देहेन्द्रिय पर अंकुश कैसे रखें, हम देह से भिन्न हैं, इन वस्तुओं का ज्ञान। अड़ोस-पड़ोस के समाज की और सृष्टि की जरूरी जानकारी।

इस तरह थोड़े में इस शिक्षण का स्वरूप है। बच्चे और शिक्षक दोनों का सम्मिलित जीवन होना चाहिए।

तीन मुख्य बातें

किसी एक भाषा का उत्तम ज्ञान, काम चलाने भर के लिए आवश्यक गणित का अचूक ज्ञान और किसी एक उद्योग में प्रवीणता, ये तीन मोटी बातें होनी चाहिए।

* * * * *